निर्णय-सूची

[1985] 1 उम० नि० प०

विषय-सूची

[1985] 1 उम० नि० प०

पृष्ठ संख्या

बोर्ड के विरुद्ध उच्च न्यायालय में रिट पिटीशन फाइल किये जाने—उच्च न्यायालय द्वारा उक्त मांग मंजूर किया जाना—उत्तर-पुस्तिकाओं के पुनर्मूल्यांकन या उत्तर-पुस्तिकाओं या अन्य दस्तावेजों का प्रकटीकरण या निरीक्षण करने से परीक्षार्थियों को वंचित करने से नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अतिक्रमण नहीं होता।

महाराष्ट्र राज्य माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा बोर्ड और एक अन्य बनाम परितोष भूपेश कुमार सेठ और अन्य 123

पंजाब यूनिवर्सिटी ऐक्ट, 1961 (1961 का 35)

—धारा 20(5)—सिंडीकेट द्वारा बनाये गए नियम का प्रभाव—पंजाब विश्वविद्यालय सिंडीकेट द्वारा नई शिक्षा-पद्धति के अधीन 12वें स्तरमान की परीक्षा को पार्ट-1 परीक्षा के समतुल्य माने जाने का विनिश्चय किया जाना—किन्तु बाद में, उस परीक्षा को प्री-यूनिवर्सिटी परीक्षा के समतुल्य मानते हुए पूर्वतर विनिश्चय में परिवर्तन किया जाना—यह आक्षेप कि पश्चात्कथित विनिश्चय भूतलक्षी प्रकृति का है, गलत है—वस्तुतः बाद वाले विनिश्चय भविष्यलक्षी प्रभाव के हैं।

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ बनाम देवजानी चक्रवर्ती और अन्य 13

—धारा 20(5) और 31—नियम बनाने की शक्ति—विश्वविद्यालय के सिंडीकेट को धारा 20(5) के अधीन उसी प्रकार नियम बनाने की शक्ति प्राप्त है जैसे कि सीनेट को धारा 31 के अधीन प्राप्त है।

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ बनाम देवजानी चक्रवर्ती और अन्य 13

—धारा 31(2) (ढ)—विश्वविद्यालय की परीक्षा में बैठने वाले परीक्षार्थी को अंकों का कुछ प्रतिशत अनुग्रह अंकों के रूप में देने से संबंधित विनियम का होना—1965 में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में किसी छात्र का प्रवेश लेना और 1974

की परीक्षा में उसका बैठना—किन्तु, 1970 में विनियम में संशोधन करके अनुग्रह अंकों के रूप में दिए जाने वाले अंकों के प्रतिशत में कमी कर दी जानी—ऐसे संशोधन के बारे में यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि वह भूतलक्षी प्रभाव का है—अत: वह संशोधन अविधिमान्य नहीं है।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 (1872 का 1)

—धारा 35—लोक अभिलेख में प्रविष्टि की सुसंगति—मृत्यु और जन्म रजिस्टर—उस स्थान के जहां मृतक व्यक्ति के कुटुम्ब ने कभी निवास किया था कतिपय प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा, मृत्यु प्रमाण-पत्र दिया जाना—इससे धारा 35 की अपेक्षा पूरी नहीं होती है और वह साक्ष्य में ग्राह्य नहीं है।

भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 (1894 का 1)

—धारा 4, 5क और धारा 17—भूमि अर्जन का प्रयोजन—लोक प्रयोजन के लिए भूमि अर्जन की अधिसूचना का प्रकाशित किया जाना—तीस दिन के अंतराल पर लोक सूचना दी जानी—अधिसूचना और लोक सूचना के बीच अंतराल को चुनौती दी जानी—अधिसूचना के प्रकाशन और लोक सूचना के बीच कम से कम समय का अंतराल होना चाहिए जिससे कि कार्रवाई की निरंतरता बनी रहे—किन्तु विलम्ब मात्र से अर्जन की अत्यावश्यकता शून्य नहीं हो जाती है।

—धारा 23—प्रश्नगत भूमि का कब्जा लेने में विलम्ब—निम्न और मध्यम आय वर्ग के व्यक्तियों के लिए गृह निर्माण हेतु भूमि अर्जित करने के लिए धारा 4 के अधीन अधिसूचना जारी करने के पश्चात् कब्जा लेने में विलम्ब के कारण भूमि की कीमत में वृद्धि—भूस्वामी द्वारा वास्तविक कब्जा लेने के समय भूमि की

मध्य प्रदेश स्थान नियंत्रण अधिनियम, 1961 (1961 का 41)

धारा 18 के उपबन्ध, भवन के गिराने और उसके पुनर्निर्माण के अतिरिक्त आधार को लागू नहीं होंगे—अतः मकान-मालिक इस बात के लिए बाध्य नहीं है कि वह बेदखल किए गए किराएदार को नए भवन में उतनी ही वास-सुविधा दे जितनी कि पुराने भवन में उसे प्राप्त थी।

राधेश्याम और अन्य बनाम कल्याण मल 323

महाराष्ट्र सेकेन्डरी एण्ड हायर सेकन्डरी एजूकेशन बोर्ड्स ऐक्ट, 1965 (1965 का 41)

—धारा 36[सपठित महाराष्ट्र सैकंडरी एंड हायर सेकंडरी एजूकेशन बोर्डस रेगुलेशन 1977—विनियम 104 (3)]—विनियम की विधिमान्यता—बोर्ड को अधिनियम के प्रयोजनों को कार्यान्वित करने के लिए विनियम विरचित करने की शक्ति दिया जाना—उक्त विनियम के उपबंधों को बोर्ड को प्रदत्त विनियम बनाने की शक्ति के आधिक्य में होने के आधार पर अविधिमान्य नहीं ठहराया जा सकता।

महाराष्ट्र राज्य माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा बोर्ड और एक अन्य बनाम परितोष भूपेश कुमार सेठ और अन्य 123

—धारा 36 [सपठित महाराष्ट्र सेकंडरी एंड हायर सेकंडरी एजूकेशन बोर्ड्स रेगुलेशन, 1977—विनियम 102 (2)]—विस्तार—प्रत्यर्थियों द्वारा सार्वजनिक परीक्षा के परिणाम से असंतुष्ट हो कर अपनी उत्तर पुस्तिकाओं या अन्य दस्तावेजों के प्रकटीकरण निरीक्षण या सत्यापन की मांग की जाना—उच्च न्यायालय द्वारा उक्त मांग स्वीकार की जाना—विनियम 102(2) में परीक्षार्थियों को उत्तरपुस्तिकाओं के प्रकटीकरण, निरीक्षण या सत्यापन की मांग करने का कोई अधिकार प्रदान नहीं किया गया है इसलिए उच्च न्यायालय द्वारा ऐसा करने की अनुमति दिया जाना मान्य नहीं है।

महाराष्ट्र राज्य माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा बोर्ड और एक अन्य बनाम परितोष भूपेश कुमार सेठ और अन्य 123

—अनुच्छेद 131, 298, 299 और 300 – अनुच्छेद 131 के लागू होने का प्रश्न—रेल अधिनियम, 1890 की धारा 80 के अधीन नुकसानी के लिए भारत संघ के विरुद्ध राज्य का दावा—चूंकि उक्त दावा अनुच्छेद 131 के अधीन आने वाला संवैधानिक संबंधों के विषय में 'विवाद' नहीं है तथा उच्चतम न्यायालय को अनुच्छेद 131 के अधीन प्राप्त अनन्य अधिकारिता वाणिज्यिक प्रकृति के ऐसे साधारण विवाद को लागू नहीं होती, अत: राज्य द्वारा भारत संघ के विरुद्ध फाइल किया गया सिविल वाद कायम रखने योग्य है।

—अनुच्छेद 226—[सपठित डिस्प्लेस्ड पर्सन्स (क्लेम्स) सप्लीमेंटरी ऐक्ट, 1954 (1954 का 12)—धारा 5 (2)]—नैसर्गिक न्याय का सिद्धान्त—अधिनियम के अधीन विशेष पुनरीक्षण की शक्ति—विस्थापित व्यक्ति (प्रतिकर और पुनर्वास) अधिनियम के अधीन की गई कार्यवाहियों में विस्थापित व्यक्ति की पुत्रियों और विधवा को उसके वारिस के रूप में प्रतिस्थापित करने से इनकार करने विषयक आदेश दिया जाना—ऐसे आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण फाइल किया जाना—पुत्रियों और विधवा को सुने जाने का अवसर दिया जाएगा।

—अनुच्छेद 226—पक्षपात विषयक पिटीशन-विद्यालय तथा महाविद्यालय के लिए पाठ्य पुस्तकों तथा पुस्तकालयों के लिए पुस्तकों का चयन—राज्य सरकार द्वारा गठित समिति की सिफारिश पर चयन किया जाना—पुस्तकों को चयन के लिए प्रकाशकों द्वारा प्रस्तुत किया जाना—कतिपय पुस्तकों के चयन के विषय में तथा समिति के गठन की बाबत आक्षेप—यह नहीं कहा जा सकता था कि प्रकाशक ने चयन के लिए पुस्तकों को प्रस्तुत मात्र करके आक्षेप का अधित्यजन कर दिया था—यदि किसी व्यक्ति द्वारा कोई भी पुस्तक प्रस्तुत न की गई हो तो उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह 'व्यथित व्यक्ति' नहीं था।

———

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका
तुलनात्मक सारणी
जनवरी, 1985

क्रम सं०	निर्णय तथा दिनांक	ए० आई० आर०	एस० सी० आर०	एस० सी० सी०
1	2	3	4	5
1.	राजरानी (श्रीमती) बनाम मुख्य बन्दोबस्त आयुक्त, दिल्ली और अन्य (3.5.84)	1984 जुलाई, 1234	—	—
2.	पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ बनाम देवजानी चक्रवर्ती और अन्य (17.5.84)	1984 सितम्बर, 1444	—	(1983) 3 अगस्त, 612
3.	पंजाब विश्वविद्यालय बनाम सुभाष चन्द्र और एक अन्य (17.5.84)	1984 अगस्त, 1415	—	(1984) 3 अगस्त, 603

1	2	3	4	5
4.	प्रदीप जैन (डा०) और अन्य **बनाम** भारत संघ और अन्य (22.6.84)	1984 अगस्त, 1420	—	(1984) 3 अगस्त, 654
5.	धर्मेश प्रसाद वर्मा **बनाम** फैयाजुल आज़म (17.7 84)	1984 सितम्बर, 1516	—	(1984) 4 अक्तूबर, 3
6.	महाराष्ट्र राज्य माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा बोर्ड और एक अन्य **बनाम** परितोष भूपेश कुमार सेठ (17.7.84)	1984 सितम्बर, 1543	—	—
7.	सुनील जेतली और अन्य **बनाम** हरियाणा राज्य और अन्य (30.7.84)	1984 सितम्बर, 1534	—	(1984) 4 अक्तूबर, 296
8.	जे० महापात्रा एण्ड कम्पनी (मैसर्स) **बनाम** उड़ीसा राज्य और एक अन्य (10.8.84)	1984 अक्तूबर, 1572	—	(1984) 4 अक्तूबर, 103
9.	ओ० पी० सिंगला और एक अन्य **बनाम** भारत संघ और अन्य (14.8.84)	1984 अक्तूबर, 1595	—	(1984) 4 नवम्बर, 450

1	2	3	4	5
10.	चन्द्र बंसी सिंह और अन्य **बनाम** बिहार राज्य और अन्य (22.8.84)	1984 नवम्बर, 1767	—	—
11.	दीपक पाहवा और अन्य **बनाम** उप राज्यपाल, दिल्ली और अन्य (22.8.84)	1984 नवम्बर, 1721	—	—
12.	भारत संघ **बनाम** राजस्थान राज्य. (4.9.84)	1984 अक्तूबर, 1675	—	(1984) 4 अक्तूबर, 238
13.	अजय दीक्षित, राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम के अधीन निरुद्ध (जिला कारागार, आगरा में बंदीकृत) अपने वाद-मित्र और पिता श्री राम नारायण दीक्षित की मार्फत **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य (26.9.84)	1985 जनवरी, 18	—	—
14.	राधेश्याम और अन्य **बनाम** कल्याण मल (10.10.84)	—	—	(1984) 4 नवम्बर, 447

उच्चतम न्यायालय के (प्रकाशनीय और अप्रकाशनीय) निर्णयों के महत्वपूर्ण मुद्दे

15 सितम्बर, 1984 को समाप्त सप्ताह :

क्र० सं० अन्तर्वस्तु **मद**

---

*उच्चतम न्यायालय की अनुज्ञा से प्रकाशित।

निर्णय-सूची

बोर्स्टल स्कूल्स ऐक्ट, 1925 (आन्ध्र अधिनियम) :

254. धारा 10क और 14 —व्याप्ति—अधिनियम का उद्देश्य और प्रयोजन— व्याख्या ?

अभिनिर्धारित— अधिनियम के उपबंधों की पृष्ठभूमि से पता चलता है कि ऐसे व्यक्ति की दशा में भी जो आजीवान कारावास से दण्डनीय अपराध का सिद्धदोष है किन्तु जो अधिनियम की धारा 10-क के अधीन राज्य सरकार द्वारा किए गए आदेश के फलस्वरूप बोर्स्टल स्कूल में बन्दी रखा गया है, कारावास की अवधि जो निरोध काल के स्थान पर राज्य सरकार द्वारा प्रतिस्थापित की जा सकती है, किसी भी दशा में पांच वर्ष से अधिक नहीं हो सकती। यह एकमात्र उपबंध है जो राज्य सरकार को ऐसे व्यक्ति को जो बोर्स्टल स्कूल में है, कारागार में भेजने का प्राधिकार देता है

निर्णय-सूची

बोर्स्टल स्कूल्स ऐक्ट, 1925 (आन्ध्र अधिनियम) :

254. धारा 10क और 14 —व्याप्ति—अधिनियम का उद्देश्य और प्रयोजन—व्याख्या ?

अभिनिर्धारित—अधिनियम के उपबंधों की पृष्ठभूमि से पता चलता है कि ऐसे व्यक्ति की दशा में भी जो आजीवान कारावास से दण्डनीय अपराध का सिद्धदोष है किन्तु जो अधिनियम की धारा 10-क के अधीन राज्य सरकार द्वारा किए गए आदेश के फलस्वरूप बोर्स्टल स्कूल में बन्दी रखा गया है, कारावास की अवधि जो निरोध काल के स्थान पर राज्य सरकार द्वारा प्रतिस्थापित की जा सकती है, किसी भी दशा में पांच वर्ष से अधिक नहीं हो सकती। यह एकमात्र उपबंध है जो राज्य सरकार को ऐसे व्यक्ति को जो बोर्स्टल स्कूल में है, कारागार में भेजने का प्राधिकार देता है

और यहां भी यह तभी संभव है जब अधिनियम की धारा 14 के अनुसार बोर्स्टल स्कूल के अधीक्षक द्वारा उसके प्रतिकूल रिपोर्ट हो।

(न्या० सब्यसाची मुखर्जी ने सुझाव दिया कि राज्य सरकार को या तो अधिनियम की धारा 10-क की भाषा बदलने के बारे में विचार करना चाहिए या उसे धारा 10-क के अधीन कोई आदेश अधिक विनिर्दिष्ट रूप से देना चाहिए।)

आन्ध्र प्रदेश राज्य बनाम **वल्लभपुरम रवि** : दाण्डिक अपील सं० 254/84 जिसका विनिश्चय 14.9.1984 को किया गया।
न्या० वेंकटरामय्या और सब्यसाची मुखर्जी।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 :

255. धारा 428—व्याप्ति—एक मामले में सिद्धदोष होने पर कारावास भोगने वाला व्यक्ति—एक दूसरे मामले की बाबत अन्वेषण आदि में लगा समय क्या पश्चात् वाले मामले में अधिरोपित किए जाने वाले दण्डादेश में मुजरा किया जा सकता है ?

अभिनिर्धारित—यदि कोई व्यक्ति एक मामले में अपराध का सिद्ध-दोष ठहराए जाने पर न्यायालय द्वारा अधिरोपित कारावास का दण्डादेश भोग रहा है तो वह दावा नहीं कर सकता कि किसी दूसरे मामले के अन्वेषण जांच या विचारण में लगा समय पश्चात् वाले मामले में अधिरोपित किए जाने वाले कारावास के दण्डादेश में मुजरा किया जाए, भले ही वह उस अवधि के दौरान निरोध में रहा हो। ऐसी स्थिति में निरोध की अवधि भोग रहे कारावास की अवधि का वस्तुत: एक अंग होती है। दूसरे मामले में अन्वेषण के दौरान उसके निरोध की अवधि यह नहीं होती। वह संहिता की धारा 428 में दोहरे फायदे का दावा नहीं कर सकता।

रघबीर सिंह बनाम **हरियाणा राज्य** : रिट पिटीशन (दाण्डिक) सं० 941/84 जिसका विनिश्चय 13.9.84 को किया गया।
न्या० वेंकटरामय्या और सब्यसाची मुखर्जी।

256. धारा 433क—किशोर अपराधी को आजीवन कारावास का दण्डादेश दिया जाना—उसे बोर्स्टल स्कूल भेजा जाना—क्या उसे 23 वर्ष की आयु का होने पर रिहा कर दिया जाए या 14 वर्ष तक कारागार में रखा जाए ?

अभिनिर्धारित—संहिता की धारा 433क उन व्यक्तियों की बाबत लागू नहीं होगी जो आन्ध्र बोर्स्टल ऐक्ट, 1925 की धारा 10-क के अधीन आते हैं । धारा 433 को अधिनियमित करते समय संसद का आशय अधिनियम की धारा 10-क के अधीन किशोर अपराधियों को उपलभ्य फायदे से वंचित करना नहीं था । यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि संविधान के के अनुच्छेद 254 के फलस्वरूप अधिनियम को पश्चात् वाले केन्द्रीय विधान के मार्ग से हट जाना चाहिए जोकि 1925 के अधिनियम के प्रतिकूल है क्योंकि तब ऐसी कोई प्रतिकूलता नहीं रहेगी । यदि संहिता की धारा 433क मार्ग से अलग रखी जाए तो 1925 के अधिनियम की धारा 10-क का निर्वचन उसी ढंग से किया जाएगा, जिसमें इसे हमेशा समझा जाता है । बोर्स्टल स्कूल में 1925 के अधिनियम की धारा 10-क के अधीन निरुद्ध व्यक्ति को, ऐसा अर्थान्वयन करने पर, 23 वर्ष की आयु प्राप्त करने पर निर्मुक्त करना होगा ।

आंध्र प्रदेश राज्य बनाम **वल्लभपुरम रवि** : दाण्डिक अपील सं० 254/84 जिसका विनिश्चय 14.9.1984 को किया गया ।

न्या० वेंकटरामय्या और सब्यसाची मुखर्जी ।

सिविल सेवा :

257. सरकारी सेवक की समय-पूर्व सेवा-निवृत्ति—पंजाब सिविल सेवा (समयपूर्व सेवा-निवृत्ति) नियम 1975—अर्हक सेवा की गलत संगणना किया जाना—आक्षेपिक आदेश में यह उल्लेख न किया जाना कि शक्ति का प्रयोग लोकहित में किया गया है—क्या यह बुद्धि का प्रयोग न करने के समान है और इससे आदेश दूषित हो जाता है ?

अभिनिर्धारित—नियमों के नियम 3(1)(क) के अधीन शक्ति का प्रयोग करते समय समुचित प्राधिकारी को सबसे पहले यह निश्चित करना चाहिए कि क्या कर्मचारी को समयपूर्व सेवा-निवृत्त करना लोकहित में है और यह पता लगाना चाहिए कि उसने सुसंगत तारीख को अर्हक सेवा के 25 वर्ष पूरे कर लिए हैं या नहीं । प्रस्तुत मामले में, अर्हक सेवा की गलत संगणना की गई, इसलिए सरकारी सेवक को अनिवार्यत: सेवा-निवृत्त नहीं किया जा सकता । आक्षेपित आदेश में यह नहीं लिखा है कि शक्ति का प्रयोग लोकहित में किया गया है । यह आदेश सक्षम प्राधिकारी द्वारा बुद्धि का प्रयोग न करने की बुराई से दूषित है । अत: अपीलार्थी अनिवार्यत: सेवा-निवृत्त नहीं किया जा सकता ।

हंस राज्य बनाम पंजाब राज्य और अन्य ; सिविल अपील सं० 1251/78 जिसका विनिश्चय 26.10.1984 को किया गया ।

न्या० देसाई और मदान ।

आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 :

258. धारा 10—क्या कंपनी के अधिकारियों को तब तक अभियोजित नहीं किया जा सकता जब तक कि स्वयं कंपनी को अभियोजित न किया जाए ?

अभिनिर्धारित—इससे पहले कि किसी कंपनी का भारसाधक व्यक्ति या अधिकारी अधिनियम के उपबन्धों के उल्लंघन के कारण उस हैसियत में दोषी ठहराया जाए, यह सिद्ध किया जाना चाहिए कि कंपनी ने अधिनियम के अधीन जारी किए गए आदेशों का उल्लंघन किया है । दूसरे शब्दों में यह निष्कर्ष होना चाहिए कि उल्लंघन कंपनी द्वारा अभियुक्त के दोषसिद्ध किए जाने से पहले किया गया था न कि स्वयं कंपनी को अभियुक्त के साथ अभियोजित किया गया हो ।

शिव रतन अग्रवाल और एक अन्य बनाम मध्य प्रदेश राज्य : दाण्डिक अपील सं० 452-453/84 जिसका विनिश्चय 12.9.84 को किया गया ।

न्या० चिन्नप्पा रेड्डी और मदान ।

आय-कर अधिनियम, 1961 :

259. धारा 192(1)—नियोजक—क्या वह बहाली के बदले पदच्युत कर्मकार को दिए गए प्रतिकर पर आय-कर काटने के लिए कानूनी तौर पर बाध्य है ?

अभिनिर्धारित—प्रस्तुत मामले में पिछली मजदूरी के बदले में प्रतिकर दिया गया था और बहाली के बदले में भावी मजदूरी दी गई थी, जो वर्षानुवर्ष संदेय थी और होगी । न्यायालय का यह भी आदेश था कि दिलवाई गई सम्पूर्ण प्रतिकर की रकम 1970 (पदच्युति का वर्ष) से 1980 (अधिवर्षिता पर बहाली का वर्ष) तक फैलाई जानी चाहिए । इस दृष्टि से कर्मकार आय-कर अधिनियम की धारा 89 के अनुसार अनुतोष के लिए हकदार है ।

सुन्दरम् मोटर्स प्राइवेट लिमिटेड बनाम श्री अमीरजान और एक अन्य : सिविल अपील सं० 2741 (एन० एल०)/72 जिसका विनिश्चय 12.9.1984 को किया गया ।

न्या० देसाई, बालकृष्ण एराडी और खालिद ।

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 :

260. बहाली के बदले में पदच्युत कर्मकार को प्रतिकर दिया जाना— धारा 192(1) के अधीन आय-कर की कटौती—क्या आय-कर सम्पूर्ण रकम पर काटा जाए ?

(देखिए मद सं० 259)

भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 :

261. अर्जित भूमि का प्रतिकर उच्च न्यायालय द्वारा बढ़ाया जाना—राज्य सरकार द्वारा विहित 6 प्रतिशत की दर पर ब्याज मूल प्रतिकर पर अनुज्ञात किया जाना– बढ़ाई गई रकम पर कब्जे की तारीख से निर्णय की तारीख तक केवल 4 प्रतिशत की दर पर और उसके पश्चात् 6 प्रतिशत की दर पर ब्याज अनुज्ञात किया जाना—यह कहां तक सही है ?

अभिनिर्धारित--प्रतिकर का अधिकार और उसकी मात्रा दो सुभिन्न संकल्पनाएं हैं। हालांकि प्रतिकर की मात्रा की प्रक्रिया अनेकों प्रक्रमों से होकर गुजर सकती है, वह प्रक्रिया भूमि का मूल्य संगणित करने की प्रक्रिया मात्र होती है। फिर भी इस प्रकार निकाले गए प्रतिकर का अधिकार अर्जन की तारीख से जुड़ा होता है। दिलवाया गया अतिरिक्त प्रतिकर भूमि के वास्तविक मूल्य और दिलवाई गई वास्तविक रकम, जो उसके वास्तविक मूल्य से कम होती है, के अंतर को दर्शाता है। इस बात से कि यह बाद में अवधरित किया जाता है, यह अभिप्रेत नहीं है कि उस रकम का अधिकार एक बाद की तारीख से अस्तित्व में आता है। कोई कारण नहीं है कि बढ़ाई गई ब्याज की दर कब्जे की तारीख से लागू न की जाए।

जोगिन्वर सिंह और अन्य बनाम पंजाब राज्य और एक अन्य : सिविल अपील सं० 2293/78 जिसका विनिश्चय 29 8.84 को किया गया ।

न्या० पाठक और ठक्कर ।

परिसीमा अधिनियम, 1963 :

262. धारा 5—मूल अपीलार्थी की मृत्यु हो जाना—पुत्रों द्वारा अपील के लम्बित रहने की जानकारी न होने का दावा—प्रतिस्थापन आवेदन दो वर्ष बाद किया जाना—क्या विलम्ब माफ किया जा सकता है ?

अभिनिर्धारित—विचारण न्यायालय की रिपोर्ट की जांच-पड़ताल करते समय उच्च न्यायालय ने ऐसे न्यायालय का मार्ग नहीं अपनाया जो मामले में पुनरीक्षण अधिकारिता का प्रयोग करता है। उसे विचारण न्यायालय द्वारा एकत्र सामग्री की परीक्षा करनी चाहिए और अपना यह समाधान करना चाहिए कि पिटीशनर ने पर्याप्त हेतुक सिद्ध कर दिया है, जिसके कारण वह प्रतिस्थापन आवेदन करने से निवारित था। अपीलार्थी द्वारा विलम्ब का दिया गया कारण पर्याप्त था, जिसके कारण वह प्रतिस्थापन आवेदन करने से निवारित था। अत: विलम्ब माफ किया जाना चाहिए।

शीतल प्रसाद सक्सेना (मृत) (विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत) बनाम भारत संघ और अन्य : सिविल अपील सं० 843/84 जिसका विनिश्चय 28-8-1984 को किया गया।

न्या० देसाई, बालकृष्ण एराडी और खालिद।

प्रक्रिया :

263. कम न्यायालय फीस दी जानी—निपेक्ष के लिए समय बढ़ाने का अनुरोध—क्या उच्च न्यायालय ने अनुरोध अस्वीकार करके न्यायोचित कार्य किया ?

अभिनिर्धारित— मामले के तथ्यों के आधार पर उच्च न्यायालय को न्यायालय फीस संदत्त करने के लिए समय बढ़ाने के वादी-अपीलार्थी के बहुत युक्तियुक्त अनुरोध में हस्तक्षेप करने से इन्कार नहीं करना चाहिए था।

प्रेम नारायण बनाम **मैसर्स विष्णु एक्सचेंज चेरिटेबल ट्रस्ट और अन्य :** सिविल अपील सं० 3673/84 जिसका विनिश्चिय 31-8-1984 को किया गया।

न्या० देसाई और रंगनाथ मिश्र।

कराधान :

264. पंजाब विक्रय-कर अधिनियम, 1948—ट्रेक्टर में लगी हुई बैल्ट-पुल्ली —क्या यह एक कृषिक उपकरण है जिसे विक्रय-कर के उद्ग्रहण से छूट दी जा सकती है ?

अभिनिर्धारित— हालांकि ट्रेक्टर में प्रयुक्त बेल्ट-पुल्ली से कृषिक काम में ट्रेक्टर की उपयोगिता बढ़ सकती है, फिर भी स्वयं इसी से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि यह एक कृषिक उपकरण है। इसे एक अतिरिक्त पुर्जे के रूप में बेचा जा सकता है और वस्तुतः इसका उपयोग अन्य अनेक मशीनों में किया जाता है, उदाहरण के लिए मोटर-कार इंजन आदि में।

पंजाब राज्य बनाम मैसर्स हिन्दसन्स (प्राइवेट) लिमिटेड : सिविल अपील सं० 1817-19/84 जिसका विनिश्चय 20-9-84 को किया गया।

न्या० देसाई और मदान।

---

29 सितम्बर, 1984 को समाप्त सप्ताह :

निर्णय-सूची

सिविल सेवा :

265. "समान काम के लिए समान वेतन"—स्नातकोत्तर शिक्षकों को उच्चतर श्रेणी वेतन दिया जाना—क्या सेवा में रहते हुए उच्चतर अर्हता प्राप्त करने वाले शिक्षक अर्हता प्राप्त करने पर उच्चतर श्रेणी के लिए हकदार हैं ?

अभिनिर्धारित—पंजाब सरकार द्वारा जारी किए गए 1967 के परिपत्र में विनिर्दिष्ट श्रेणियां केवल उन व्यक्तियों को लागू हैं जो प्राध्यापक का पद विनिर्दिष्ट तौर पर धारण करते हैं, जिनकी संख्या सीमित है। प्रसुविधाओं की मांग तभी की जा सकती है, जब प्राध्यापक के पद पर नियुक्त किया गया हो अन्यथा नहीं। यह प्रसुविधा उन तक विस्तारित नहीं थी जिन्होंने परिपत्र जारी किए जाने के बाद अपनी अर्हता बढ़ाई थी। समान काम के लिए समान वेतन का सिद्धांत इस मामले में लागू नहीं होता।

गुरपाल तुली बनाम **पंजाब राज्य :** सिविल अपील सं० 3452/82 जिसका विनिश्चय 28.9.84 को किया गया।

न्या० पाठक और आर० बी० मिश्र।

सुखाचार अधिनियम :

266. एक सामान्य भूमि का होना—क्या एक पक्षकार सहस्वामी को उस सामान्य भूमि के उपयोग के प्रतिकूल परिस्थिति में डाल सकता है ?

अभिनिर्धारित—सह-स्वामित्व अधिकारों के अन्तर्गत अनिर्बन्धित प्रयोग भी आता है, जिसके अधिकार व्ययन के मामले में असीमित हैं । सह-स्वामित्व के अधिकार में अनेक अधिकार पहले से विद्यमान होते हैं । सहस्वामी द्वारा भूमि के प्रयोग पर विधि द्वारा केवल एकमात्र यह निर्बन्धन लगाया गया है कि इसका प्रयोग ऐसे न किया जाए जिससे प्रतिकूल प्रभाव पड़े या दूसरे सहस्वामी का अहित हो ।

अय्यास्वामी गोंडर बनाम **मुन्नुस्वामी गोंडर** : सिविल अपील सं० 2118/78 जिसका विनिश्चय 25.9.84 को किया गया ।

न्या० ए० पी० सेन और आर० बी० मिश्र ।

कर्मचारी भविष्य निधि तथा प्रकीर्ण उपबन्ध अधिनियम, 1952 :

267. केन्द्रीय सरकर द्वारा प्रादेशिक भविष्य निधि संगठन स्थापित किया जाना—औद्योगिक विवाद अधिकरण को निर्देश किया जाना—क्या राज्य सरकार औद्योगिक विवाद अधिनियम,1947 की धारा 2(क) के अधीन "समुचित सरकार" है ?

अभिनिर्धारित—अधिनियम के विभिन्न उपबंधों को तथा केन्द्रीय बोर्ड, राज्य बोर्ड, प्रादेशिक समिति तथा प्रादेशिक भविष्य निधि आयुक्त द्वारा किए गए कारबार की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए प्रादेशिक भविष्य निधि संगठन के प्रबन्ध-मण्डल और कार्मिकों में उत्पन्न औद्योगिक विवाद के मामले में औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 2(क) के अधीन राज्य सरकार समुचित सरकार नहीं है बल्कि केन्द्रीय सरकार "समुचित सरकार" है । संगठन की गतिविधि संविधान के अनुच्छेद 43 में देखी जा सकती है । भविष्य निधि संगठन का कार्य शासकीय स्वरूप का है और किसी उद्योग से सम्बन्धित नहीं है, जिसे यह अधिनियम लागू होता है ।

प्रादेशिक भविष्य निधि आयुक्त, कर्नाटक बनाम **कर्मकार, जिनका प्रतिनिधित्व प्रधान सचिव, कर्नाटक भविष्य निधि कर्मचारी संघ ने किया** : सिविल अपील सं० 3796/84 जिसका विनिश्चय 26.9.1984 को किया गया ।

न्या० चिन्नप्पा रेड्डी, ए० पी० सेन और वेंकटरामय्या ।

राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम, 1980 :

268. निरोध के आदेश में घिसे-पिटे आधारों का होना—निरोध पर इसका प्रभाव ?

अभिनिर्धारित—निरोध आदेश अभिखण्डित कर दिया गया। इस बात पर विचार करने के लिए कि क्या निरोध लोक-व्यवस्था बनाए रखने के आधार पर आवश्यक था, प्रत्येक मामले में निरुद्ध व्यक्ति के विरुद्ध अभिकथित आधारों की प्रकृति पर विचार करना और यह देखना आवश्यक है कि क्या वे निरोध के प्रयोजन के लिए सुसंगत हैं या नहीं। प्रस्तुत मामले में आदेश में वर्णित आधारों की प्रकृति ऐसी नहीं है कि उनसे ऐसी कोई आशंका पैदा हो सके कि जन-जीवन लेशमात्र भी संकटग्रस्त हो सकता है। आधारों में से एक आधार पुराना आधार था और अन्य आधार इतने गम्भीर नहीं थे कि वे लोक-व्यवस्था के तुरन्त विक्षुब्ध होने के समान थे या उसके बारे में युक्ति-युक्त आशंका हो सकती थी।

अजय दीक्षित बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** : रिट पिटीशन (दाण्डिक) सं० 916/84 जिसका विनिश्चय 26.9.1984 को किया गया।

किराया नियंत्रण :

269. मध्य प्रदेश आवास नियंत्रण अधिनियम, 1961—धारा 12(1)(च)—तथ्यों के बारे में एकसमान निष्कर्ष—उच्चतम न्यायालय कब हस्तक्षेप करेगा ?

अभिनिर्धारित—जब तक कि यह दर्शित न कर दिया जाए कि मकान-मालिक की आवश्यकता सम्बन्धी तथ्य के निष्कर्ष द्वेषपूर्ण हैं अथवा यह कि विधि के सुसंगत उपबंधों का या तो गलत निर्वचन किया गया है या उन्हें गलत लागू किया गया है, तब तक किराएदार सफलतापूर्वक निष्कर्षों की आलोचना नहीं कर सकता।

जय किशन बनाम **मुमम्मात मुमताज़ बेगम** : सिविल अपील सं० 2465/80 जिसका विनिश्चय 24.9.84 को किया गया।

न्या० पाठक और ठक्कर।

270. उत्तर प्रदेश शहरी भवन (किराए पर देने, किराए तथा बेदखली का विनियमन) अधिनियम, 1972—धारा 3—किराएदार—अर्थ—किराएदारी अधिकार—क्या यह अधिकार विल द्वारा वसीयत किया जा सकता है—धारा 14 की व्याप्ति ?

अभिनिर्धारित—(1976 में संशोधन के बाद) धारा 14 को लागू करने के लिए अपीलार्थी को यह साबित करना होगा कि वह संशोधन अधिनियम के प्रारम्भ से ठीक पूर्व मकान-मालिक की सम्मति से अनुज्ञप्तिधारी या किराएदार था। प्रस्तुत मामले में वह ऐसा नहीं कर सका। अतः वह यथासंशोधित धारा 14 का फायदा प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरे, अधिनियम की स्कीम मूल किराएदार के जीवन-काल के बाद प्रभावी होने वाली किराएदारी के अधिकार का अंतरण अनुज्ञात नहीं करती। जो भी हो, विल अन्य सम्पत्तियों की बाबत निष्पादित की गई थी, किराएदारी की बाबत नहीं। प्रस्तुत मामले में मूल किराएदार बिना संतान के मर गया था। अपीलार्थी ने जो कि मृत किराएदार का भतीजा था, दावा किया कि मृत किराएदार ने उस भवन की किराएदारी उसे विल द्वारा वसीयत की थी।

जसपाल सिंह बनाम अपर जिला न्यायाधीश, बुलन्दशहर : सिविल अपील सं० 1275/79 जिसका विनिश्चय 28.9.84 को किया गया।

न्या० वेंकटरामय्या और आर० बी० मिश्र।

बोनस संदाय अधिनियम, 1965 :

271. धारा 32(iv)—औद्योगिक (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1951 के अधीन सरकार द्वारा औद्योगिक उपक्रम ग्रहण किया जाना और प्राधिकृत नियंत्रक द्वारा उसका चलाया जाना—क्या कर्मचारी अधिनियम के प्रवर्तन से बाहर हैं ?

अभिनिर्धारित—अधिसूचित आदेश जारी करने पर औद्योगिक उपक्रम के प्रबन्धमण्डल में परिवर्तन हो जाता है। प्रबन्धमण्डल में यह परिवर्तन औद्योगिक उपक्रम के अर्जन के समान अथवा केन्द्रीय सरकार द्वारा उसके अभिग्रहण के समान नहीं होता। यह ऐसा कोई प्रतिष्ठान नहीं हो जाता है जोकि केन्द्रीय सरकार के प्राधिकार से चलाए गए किसी उद्योग में लगा हो। अतः उसके कर्मचारी बोनस अधिनियम के प्रवर्तन से अपवर्जित नहीं होंगे, जैसा कि धारा 32(iv) में उपबंधित है।

राष्ट्रीय मिल मजदूर सभा, नागपुर बनाम दि माडल मिल्स, नागपुर : सिविल अपील सं० 1619/71 जिसका विनिश्चय 18.9.84 को किया गया।

न्या० देसाई, बालकृष्ण एराडी और खालिद।

पद्धति :

272. उच्च न्यायालय द्वारा दोषमुक्ति—उच्चतम न्यायालय कब हस्तक्षेप करेगा ?

अभिनिर्धारित—साधारणतः उच्चतम न्यायालय उच्च न्यायालय द्वारा लेखबद्ध दोषमुक्ति में हस्तक्षेप करनें के लिए अनिच्छुक होगा किन्तु न्यायालय का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उच्चतम न्यायालय का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसी स्थिति में हस्तक्षेप करे यदि अन्य बातों के साथ-साथ समाधानप्रद स्वरूप के अपराध में फंसाने वाले साक्ष्य की उपेक्षा की गई है या उसे अनदेखा किया गया है, जिससे कि अनापेक्षित दोषमुक्ति हो गई है।

पंजाब राज्य बनाम भूरा सिंह : दाण्डिक अपील सं० 469/76 जिसका विनिश्चय 10.9.84 को किया गया।

न्या० तुलज़ापुरकर, ठक्कर और खालिद।

273. एकल न्यायाधीश द्वारा उसी न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चय से सहमत न होना—ऐसी स्थिति में क्या प्रक्रिया अपनाई जाए ?

अभिनिर्धारित—यदि उच्च न्यायालय का एकल न्यायाधीश उसी मुद्दे पर उस न्यायालय के पूर्वतर विनिश्चय से सहमत नहीं है तो उसे वह मामला वृहत्तर न्यायपीठ को निर्देशित करना चाहिए। न्यायिक औचित्य या शिष्टाचार के अनुसार यह अपेक्षित नहीं है कि वह उसी उच्च न्यायालय के विनिश्चय से प्रतिकूल मत अपनाए।

अय्यास्वामी गोंडर बनाम मुन्नुस्वामी गोंडर : सिविल अपील सं० 2118/78 जिसका विनिश्चय 25.9.1984 को किया गया।

न्या० ए० पी० सेन और आर० बी० मिश्र।

274. हत्या—दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील—उच्चतम न्यायालय कब हस्तक्षेप करेगा ?

अभिनिर्धारित—साधारणतः उच्चतम न्यायालय उच्च न्यायालय में लेखबद्ध दोषमुक्ति में हस्तक्षेप नहीं करता किन्तु जब समाधानप्रद स्वरूप के अपराध में फंसाने वाले साक्ष्य की मुख्यतः ऐसी कुछ परिस्थितियों पर निर्भर करके उपेक्षा कर दी जाती है जो ऐसे अपराध में फंसाने वाले साक्ष्य के महत्व को कम नहीं करती है तो उच्चतम न्यायालय का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह न्याय का मार्ग प्रशस्त करने के लिए दोषमुक्ति में हस्तक्षेप करे।

उत्तर प्रदेश राज्य बनाम गोकरण : दाण्डिक अपील सं० 71/77 जिसका विनिश्चय 28.9.1984 को किया गया।

न्या० तुलज़ापुरकर, ठक्कर और खालिद।

तारीख 6 अक्तूबर, 1984 को समाप्त सप्ताह :

निर्णय-सूची

सिविल सेवा :

275 नियमानुसार संदेय अधिकतम पेंशन को भूतलक्षी रूप से पुनरीक्षित करके कम किया जाना—क्या राज्य सरकार ऐसा करने के लिए सक्षम है ?

अभिनिर्धारित—चूंकि पेंशन एक मूल अधिकार है, इसलिए इसे संविधान में दी गई रीति से ही छीना या कम किया जा सकता है। जब अधिकतम पेंशन घटाकर 1000.00 रुपए से 857 रुपए के लगभग कर दी गई तो पेंशन भोगी विधि के प्राधिकार के बिना अपने अधिकार से वंचित हो गया किन्तु इसे लोक प्रयोजन के लिए किया नहीं कहा जा सकता और न ही अपनी सम्पत्ति से उसे वंचित करने के लिए कोई प्रतिकर संदत्त किया गया। अनुच्छेद 19 (1)(च) के अन्तर्गत दिया गया मूल अधिकार खण्ड (5) में दी गई सीमा तक ही निर्बन्धित किया जा सकता है। वह खण्ड पेंशन प्राप्त करने के अधिकार के सम्बन्ध में लागू नहीं होता। नियमों का संशोधन वैसी विधि के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता, जिसका उल्लेख अनुच्छेद 19 के खण्ड (5) के अन्तर्गत किया गया है। नियम को भूतलक्षी रूप से संशोधित करके जो कुछ किया गया वह तत्समय प्रवृत्त नियमानुसार पेंशन प्राप्त करने के अधिकार को छीनना था, अतः संशोधन शून्य था।

सलाबुद्दीन मोहम्मद युनुस बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य** : सिविल अपील सं० 2629/77 जिसका विनिश्चय 28.9.1984 को किया गया।

मुख्य न्या० वाई० वी० चन्द्रचूड़, न्या० मदान और रंगनाथ मिश्र।

276. वचन-विवंध—लोक सेवा आयोग द्वारा कुछ नामों की सिफारिश किया जाना—सरकार द्वारा नियुक्तियां न करने का विनिश्चय—क्या सरकार वचन-विबंध से आबद्ध है ?

अभिनिर्धारित—कुछ पदों पर भर्ती के लिए आवेदन आमंत्रित करने की अधिसूचना उन अभ्यर्थियों को केवल एक आमंत्रण है, जिनके पास भर्ती

के लिए आवेदन करने के लिए विनिर्दिष्ट अर्हताएं हैं। उसमें ऐसा कोई वचन नहीं दिया जाता है कि चयन किया जाएगा या यदि चयन किया गया तो चुने गए अभ्यर्थी नियुक्त किए जाएंगे। चुने गए अभ्यर्थी चयन के लिए आवेदन करने मात्र से या चयन के बाद नियुक्ति के लिए कोई अधिकार अर्जित नहीं करते। अतः राज्य के विरुद्ध वचन-विबंध का कोई प्रश्न नहीं है।

जतीन्द्र कुमार बनाम **पंजाब राज्य** : सिविल अपील सं० 1194/84 जिसका विनिश्चय 28.9.84 को किया गया।

न्या० देसाई, अमरेन्द्र नाथ सेन और आर० बी० मिश्र।

277. लोक सेवा आयोग द्वारा सिफारिशें—क्या सरकार चुने गए सभा अभ्यर्थियों को नियुक्त करने के लिए आबद्ध है ?

अभिनिर्धारित—यह तथ्य कि लोक सेवा आयोग ने चयन किया है और सरकार से चुने गए व्यक्तियों के नामों की सिफारिश की है, चुने गए व्यक्तियों को नियुक्ति का कोई अधिकार प्रदान नहीं करता न ही चुने गए अभ्यर्थी यह दावा कर सकते हैं कि सरकार को आयोग की सिफारिश अवश्य स्वीकार करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, प्रत्याशित रिक्तियों पर भर्ती के लिए चयन की प्रक्रिया से उस पद पर नियुक्त किए जाने का कोई अधिकार सृष्ट नहीं होता जिसे परमादेश रिट द्वारा प्रवर्तित कराया जा सके।

(देखिए मद सं० 276)

संविधान, 1950 :

278. अनुच्छेद 320—लोक सेवा आयोग द्वारा सिफारिशें—क्या ये सिफारिशें आज्ञापक हैं—सरकार आयोग की सिफारिशों से कब विचलन कर सकती है ?

अभिनिर्धारित—उच्चतर लोक पदों पर नियुक्तियां करते समय सरकार से यह अपेक्षित है कि वह लोक सेवा आयोग से परामर्श करे। चयन आयोग द्वारा किया जाएगा और सरकार से यह आपेक्षित है कि वह आयोग द्वारा चुने गए अभ्यर्थियों को नियुक्त करके पदों को भरे और आयोग की सिफारिशों के अनुसार योग्यता-क्रम का कड़ाई से पालन करे। सरकार ऐसे व्यक्ति को नियुक्त नहीं कर सकती, जिसका नाम चयन-सूची में नहीं है किंतु

सरकार यह विनिश्चय कर सकती है कि कितनी नियुक्तियां की जानी हैं। यदि सरकार आयोग की सिफारिश स्वीकार नहीं करती है तो संविधान के अनुसार सरकार इस बात के लिए व्यादिष्ट है कि वह विधान सभा के पटल पर आयोग की सिफारिशों को अस्वीकार करने के कारण प्रस्तुत करे। इस प्रकार सरकार किसी भी विचलन के लिए उत्तरदायी बनाई गई है। अनुच्छेद 323 का यह अभिप्राय नहीं है कि अभ्यर्थी साधिकार यह दावा कर सकता है कि सरकार को आयोग की सिफारिश अवश्य स्वीकार करनी चाहिए।

जतीन्द्र कुमार बनाम पंजाब राज्य : सिविल अपील सं० 1194/84 जिसका विनिश्चय 28.9.1984 को किया गया।

न्या० देसाई, अमरेन्द्र नाथ सेन और आर० बी० मिश्र।

(देखिए मद सं० 276,277)

279. अनुच्छेद 19 1) और (5) —पेंशन—क्या सम्पत्ति है—क्या सरकार पेंशन को भूतलक्षी रूप से घटाकर कम कर सकती है ?

(देखिए मद सं० 276,277 और 278)

हैदराबाद सिविल सेवा नियम :

280. नियम 299(1)(ख)—अधिकतम पेंशन को भूतलक्षी रूप से पुनरीक्षित करके कम किया जाना—क्या सरकार ऐसा करने के लिए सक्षम है।

(देखिए मद सं० 275)

अहमद हुसैन खान बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य : सिविल अपील सं० 2627-2628/77 जिनका विनिश्चय 28.9.84 को किया गया।

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 :

281. अनुच्छेद 226 और 136—विभागीय जांच के बाद कर्मकार को पदच्युत किया जाना—उच्च न्यायालय/उच्चतम न्यायालय साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन कब कर सकता है ?

अभिनिर्धारित—यह सुस्थिर है कि जहां अवचार के निष्कर्ष किसी विधिक साक्ष्य पर आधारित नहीं होते और नियोजक का निष्कर्ष ऐसा होता है कि कोई भी युक्तिवान मनुष्य उस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचेगा तो अधिनियम की धारा 11 क के अधीन नियुक्त मध्यस्थ या अनुच्छेद 136 के अधीन अपील में उच्चतम न्यायालय ऐसे निष्कर्ष को द्वेषपूर्ण मानकर अस्वीकार कर सकता है। यह अभिनिर्धारित करना कि निष्कर्ष द्वेषपूर्ण है,

निष्कर्षों का पुनर्मूल्यांकन नहीं है । इसी प्रकार, यदि न्यायिक-कल्प अधिकरण या मध्यस्थ ऐसा निष्कर्ष लेखबद्ध करता है जो किसी विधिक साक्ष्य पर आधारित नहीं है और वे निष्कर्ष अटकलों और अनुमानों पर आधारित हैं तो ऐसी जांच बुद्धि का प्रयोग न करने के कारण अतिरिक्त रूप से दोषग्रस्त और दूषित होगी । औद्योगिक अधिकरण या मध्यस्थ या न्यायिककल्प प्राधिकारी केवल ऐसे निष्कर्षों को ही अस्वीकार नहीं कर सकता बल्कि ऐसे निष्कर्षों को भी अस्वीकार कर सकता है जो किसी विधिक साक्ष्य पर आधारित नहीं हैं । साक्ष्य के मूल्यांकन और साक्ष्य के पूर्ण अभाव में एक बहुत बड़ा अन्तर है जहां पदच्युति के आदेश को एक विभागीय जांच के ऐसे निष्कर्ष के आधार पर कायम रखने की मांग की जाए जो द्वेषपूर्ण सिद्ध कर दिया जाए और वह जांच बुद्धि का प्रयोग न करने की त्रुटि से दूषित हो वहां न्यायालय के सामने यही रास्ता रह जाता है कि वह उसे अपास्त करे और उसके पुनः पद-स्थापन का आदेश दे ।

राजेन्द्र कुमार किंदरा बनाम **दिल्ली प्रशासन (सचिव) श्रम (के माध्यम से)** : सिविल अपील सं० 2386/84 जिसका विनिश्चय 27.9.84 को किया गया ।

282. अभिलाभप्रद नियोजन—पदच्युत कर्मकार—अपने ससुर के कारबार में उसके द्वारा मदद किया जाना—क्या इसे अभिलाभप्रद नियोजन कहा जा सकता है ?

अभिनिर्धारित—यदि वह कर्मकार और उसका परिवार अपने ससुर के साथ रहता है तो चूंकि उसके पास भरण-पोषण का कोई दूसरा स्रोत नहीं होता, इसलिए यह कहना बेतुका होगा कि वह अभिलाभप्रद नियोजन में है । यदि यह अभिलाभप्रद नियोजन है तो नियोजक यह भी दावा कर सकता है कि पदच्युत कर्मकार जीवित रहने के लिए भीख मांगने लगा है और उसे भी अभिलाभप्रद नियोजन की संज्ञा दी जा सकती है ।

राजेन्द्र कुमार किंदरा बनाम **दिल्ली प्रशासन (सचिव) श्रम (के माध्यम से)** : सिविल अपील सं० 2386/84 जिसका विनिश्चय 27-9-1984 को किया गया ।

न्या० देसाई और मदान ।

(देखिए मद सं० 281)

283. धारा 11क—धारा 10क के अधीन नियुक्त मध्यस्थ—क्या ऐसा मध्यस्थ जांच अधिकारी के निष्कर्ष के विरुद्ध अपील सुन सकता है और साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन कर सकता है ?

अभिनिर्धारित—यह सुस्थिर है कि अधिनियम की धारा 11क द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते हुए मध्यस्थ और उच्चतम न्यायालय दोनों विभागीय जांच में प्रस्तुत साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन कर सकते हैं और अपना यह समाधान कर सकते हैं कि क्या नियोजक द्वारा प्रस्तुत किया गया साक्ष्य कर्मकार के अवचार के समान होगा। आज यह दलील नहीं दी जा सकती कि मध्यस्थ को केवल यह विनिश्चित करने की शक्ति होती है कि क्या जांच अधिकारी का निष्कर्ष विचारणीय है जो कि जांच प्रस्तुत साक्ष्य से पता चलता है और वह स्वयं उस साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन नहीं कर सकता तथा इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकता कि कर्मकार के विरुद्ध अभिकथित अवचार सिद्ध किया गया है या नहीं।

राजेन्द्र कुमार किंदरा बनाम दिल्ली प्रशासन (सचिव) श्रम (के माध्यम से) : सिविल अपील सं० 2386/84 जिसका विनिश्चय 27-9-1984 को किया गया।

न्या० देसाई और मदान।

(देखिए मद सं० 281)

निर्वचन :

284. उच्च न्यायालय द्वारा देशी शराब पर संदत्त उत्पाद-शुल्क पर विक्रय कर का उद्ग्रहण और संग्रहण अवैध घोषित किया जाना—उच्चतम न्यायालय में अपील वापस ली जानी—भूतलक्षी रूप से विक्रय-कर बढ़ाते हुए विधिमान्यकरण अधिनियम अधिनियमित किया जाना—क्या राज्य दोष को दूर किए बिना उच्च न्यायालय के निर्णय को अविधिमान्य कर सकता है ?

(देखिए मद सं० 287)

दण्ड संहिता :

285. कूटकृत और मिथ्या दस्तावेजों का उपयोग करके मिथ्या दोषमुक्ति प्राप्त करने का प्रयास ?

अभिनिर्धारित—इस मामले से यह पता चलता है कि मिथ्या दोषमुक्ति प्राप्त करने के लिए लोग किस हद तक अविश्वसनीय पटुता का

प्रयोग करते हैं। अपीलार्थी कंवर बहादुर नामक एक व्यक्ति की हत्या की वजह से सिद्धदोष और दण्डादिष्ट किए गए थे। 12 वर्ष बाद एक समाचार-पत्र में यह रिपोर्ट प्रकाशित हुई कि कंवर बहादुर सिंह नामक एक व्यक्ति का शव संदेहास्पद परिस्थितियों में मिला है और यह कि मृतक के पास से एक पत्र मिला है जिससे पता चलता है कि उसने प्रायश्चित किया है। अपीलार्थियों के नातेदारों ने दावा किया कि कंवर बहादुर जिसकी हत्या के कारण अपीलार्थी सिद्धदोष ठहराये गए थे, 12 वर्ष से जीवित है और यह कि इसके बाद 1983 में उसका शव मिला है। उन्होंने अपीलार्थियों की दोषसिद्धि और दण्डादेश को अपास्त करने के लिए अनुरोध किया। जांच करने पर मजिस्ट्रेट का निष्कर्ष था कि जिस व्यक्ति का शव मिला है, वह यह अंकित नहीं है, जिसकी हत्या के लिए अपीलार्थी को दण्डादेश दिया गया था, मृतक के शरीर पर जो पत्र मिला है, वह कूटकृत और मिथ्या पत्र है और यह कि दोनों व्यक्तियों के फोटोचित्र एक दूसरे से नहीं मिलते। अपील खारिज कर दी गई।

लल्लू राम और अन्य बनाम उत्तर प्रदेश राज्य : दाण्डिक अपील सं० 476/84 जिसका विनिश्चय 28.9.1984 को किया गया।

मु० न्या० चन्द्रचूड़, न्या० वेंकटरामय्या और वरदराजन।

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 :

286. धारा 329(ख)—व्याप्ति—निर्वाचन—क्या निर्वाचनों को इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि निर्वाचक नामावली अविधिमान्य थी—क्या निर्वाचनों को चुनौती सम्पूर्ण निर्वाचन के लिए मानी जा सकती है ?

अभिनिर्धारित – लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 के अनुसार संपूर्ण निर्वाचनों को चुनौती नहीं दी जा सकती। अधिनियम में प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से निर्वाचन अनुध्यात है। निर्वाचन अर्जी फाइल करके उसी निर्वाचन को चुनौती दी जा सकती है। जब अंतिम नामावली प्रकाशित कर दी जाए और ऐसी निर्वाचक नामावली के आधार पर निर्वाचन कर दिया जाए तो कोई भी व्यक्ति किसी भी निर्वाचन क्षेत्र से या क्षेत्रों से इस आधार पर निर्वाचन को चुनौती नहीं दे सकता कि निर्वाचक नामावली दोषपूर्ण थी। ऐसी कार्रवाई में, जिसमें निर्वाचक नामावली के आधार पर आयोजित निर्वाचन की विधिमान्यता को चुनौती दी जाए, ऐसी निर्वाचक नामावली की अन्तिमता को आक्षेपित नहीं किया जा सकता। उच्चतम न्यायालय निर्वाचन आयोग को यह निदेश नहीं दे सकता कि संसद का कोई निर्वाचन आयोजित न किया जाए जब तक कि निर्वाचक नामावली का पुनरीक्षण पूरा न हो जाए।

इन्द्रजीत बरुआ बनाम **भारत का निर्वाचन आयोग** : सिविल अपील सं० 1219/79 जिसका विनिश्चय 28.8.1984 को किया गया।

न्या० भगवती, अमरेन्द्र नाथ सेन, बालकृष्ण एराडी, रंगनाथ मिश्र और खालिद।

कराधान :

287. देशी शराब पर विक्रय कीमत और उत्पाद शुल्क दोनों पर संगृहीत विक्रय-कर--उच्च न्यायालय द्वारा उस उपबन्ध को अवैध घोषित किया जाना--कर की दर को भूतलक्षी रूप से बढ़ाया जाना जिससे कि संग्रहण का आधिक्य वापस न करना पड़े—उच्चतम न्यायालय में की गई अपील वापस ली जानी—क्या राज्य इस कमी को दूर किए बिना उच्च न्यायालय के निर्णय को अविधिमान्यकृत कर सकता है ?

अभिनिर्धारित—इस मामले में संशोधित उपबन्ध को अधिनियमित करने का एकमात्र उद्देश्य उस दोष का उपचार या निवारण किए बिना, जो उच्च न्यायालय ने बताया था, उच्च न्यायालय के निर्णय को निष्प्रभाव करना था। जब उच्चतम न्यायालय में फाइल की गई अपील राज्य द्वारा वापस ले ली गई तो उच्च न्यायालय का निर्णय निश्चायक और पक्षकारों पर आबद्धकर हो गया। इस प्रकार कर बढ़ाया जाना स्पष्टतः मनमाना और अयुक्तियुक्त है।

डी० कावसजी एण्ड कम्पनी, मैसूर बनाम **मैसूर राज्य** : सिविल अपील सं० 1353/73 जिसका विनिश्चय 26.9.1984 को किया गया।

न्या० भगवती, अमरेन्द्र नाथ सेन और रंगनाथ मिश्र।

तारीख 20 अक्तूबर, 1984 को समाप्त सप्ताह :

क्र० सं० अन्तर्वस्तु **मद**

1. **संविधान, 1950 :**

अनुच्छेद 226—पिटीशनर को बेइमानी का फायदा प्राप्त करते हुए या अन्यायसंगत अभिलाभ को शाश्वत् बनाने

निर्णय-सूची

संविधान, 1950 :

288. अनुच्छेद 226—पिटीशनर को बेईमानी से फायदा प्राप्त करते हुए या अन्यायसंगत लाभ को शाश्वत् बनाने का प्रयास करते हुए पाया जाना—क्या उच्च न्यायालय द्वारा अनुतोष देने से इन्कार करना न्यायोचित होगा ?

अभिनिर्धारित—जहां पिटीशनर बेईमानी से फायदा प्राप्त करने या अन्यायसंगत अभिलाभ को शाश्वत् बनाने की खातिर उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता का सहारा लेना चाहता है, वहां उच्च न्यायालय को अनुदेश देने से इन्कार करने की शक्ति हमेशा प्राप्त होती है । प्रस्तुत मामले में पिटीशनर प्रत्याभूति दाता के रूप में संदाय करने के लिए दायी था । यद्यपि दायित्व का निर्वहन करने के लिए उसके पास पर्याप्त निधियां थीं, फिर भी उसने उससे बचने की कोशिश की । प्रपीड़क कार्यवाहियां संस्थित करने से पूर्व, जिसके अन्तर्गत गिरफ्तारी का वारंट जारी किया जाना शामिल था, रकम का संदाय करने के लिए उसे पर्याप्त अवसर दिया गया किन्तु उसने अपने दायित्व का निर्वहन करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया ।

मित्तल एम० पी० बनाम हरियाणा राज्य : सिविल अपील सं० 1396/78 जिसका विनिश्चय 10.10.1984 को किया गया । न्या० पाठक और ठक्कर ।

289. अनुच्छेद 226—पिटीशन आरम्भ में ही खारिज किया जाना—उच्च न्यायालय को आदेश के कारण देने चाहिएं ?
(देखिए मद सं० 296)

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1958 :

290. धारा 2(9)—"कर्मचारी" मुद्रणालयों के प्रशासनिक और संपादकीय कर्मचारी क्या इस धारा के अर्थ में कर्मचारी हैं ?

अभिनिर्धारित—"कर्मचारी"—शब्द से ऐसा कोई व्यक्ति, जो किसी कारखाने में मजदूरी पर नियोजित है या ऐसा कोई व्यक्ति अभिप्रेत है, जो कारखाने के काम के संबंध में मजदूरी पर नियोजित है। समाचार-पत्रों के प्रशासनिक कर्मचारी और संपादकीय कर्मचारी प्रत्यक्षत: ऐसे काम पर नियोजित किए जाते हैं जो कारखाने के काम से आनुषंगिक या प्रारम्भिक या संसक्त हैं। मुद्रणालय का काम संपादकीय कर्मचारियों की सहायता के बिना नहीं किया जा सकता, वे समाचार-पत्र छापने के लिए सामग्री तैयार करते हैं। इसी प्रकार प्रशासनिक कर्मचारी भी कारखाने के कार्य का प्रबन्ध करने के लिए आवश्यक होते हैं।

श्री नरकेसरी प्रकाशन लिमिटेड वनाम **कर्मचारी राज्य बीमा निगम :** सिविल अपील सं० 3296/84 जिसका विनिश्चय 15.10.1984 को किया गया।

न्या० ए० पी० सेन और वेंकटरामय्या।

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 :

291 निर्देश एकपक्षीय तौर पर खारिज—अधिनिर्णय राजपत्र में प्रकाशित—क्या एकपक्षीय आदेश को फिर से मंगवाया जा सकता है और फाइल में पुन: रखा जा सकता है—क्या एकपक्षीय आदेश अंतिम हो जाता है ?

अभिनिर्धारित—ग्रिन्डले बैंक वाले मामले में [1981] 4 उम० नि० प० 857=[1981] 2 एस० सी० आर० 341 उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि जहां एकपक्षीय अधिनिर्णय किया जाए और राजपत्र में प्रकाशित कर दिया जाए, वहां औद्योगिक अधिकरण को केन्द्रीय नियमों के नियम 22 और 24 (ङ) के अधीन उसे अपास्त करने के लिए

आवेदन ग्रहण करने की अधिकारिता है, यदि उस तारीख को, जिसको एकपक्षीय अधिनिर्णय दिया गया था, हाजिर न होने के लिए पर्याप्त कारण सिद्ध कर दिया जाता है। एकपक्षीय आदेश को अन्तिमता प्रदान नहीं की जाती क्योंकि वह हमेशा पर्याप्त कारण बताये जाने पर अपास्त किया जा सकता है।

सतनाम वर्मा बनाम भारत संघ : सिविल अपील सं० 4502/84 जिसका निर्णय 19.10.1984 को किया गया।

न्या० देसाई और अमरेन्द्र नाथ सेन।

कृषि उत्पादन मंडी अधिनियम, 1964 :

292. धारा 2(न) — विनिर्दिष्ट कृषि उपज—साबुत दाल को दो परतों या भागों में किया जाना—उसे कारखाने में संसाधित किया जाना—क्या वह इस धारा के अर्थ में कृषि उपज है ?

अभिनिर्धारित—अधिनियम के उपबंधों पर विचार करने से पता चलता है कि अनुसूची (जिसे 1978 की अधिसूचना में पुनः ' विनिर्दिष्ट कृषि उपज'' बनाने के लिए उद्धृत किया गया है) साबुत दालों के प्रगणन के समय निर्माताओं का आशय साबुत और दली हुई दाल दोनों को विनिर्दिष्ट 'कृषि उपज' पद के अन्तर्गत शामिल करना था। अतः अनुसूची में वर्णित साबुत दाल के अन्तर्गत दली हुई दाल भी है। मण्डी शुल्क दली हुई दाल के विक्रय पर उद्ग्रहणीय है।

कृषि उत्पादन मण्डी समिति, कानपुर बनाम **मैसर्स गंगा दाल मिल एण्ड कम्पनी** : सिविल अपील सं० 10072/73/83 जिसका विनिश्चय 25.9.1984 को किया गया।

न्या० देसाई, बालकृष्ण एराडी और खालिद।

किराया नियंत्रण :

293. मध्य प्रदेश आवास नियंत्रण अधिनियम, 1961—धारा 12(1) (च)—मकान-मालिक द्वारा यह सिद्ध किया जाना कि परिसर उसे अपने प्रयोजन के लिए चाहिए—क्या मकान-मालिक कब्जा लेने के लिए हकदार है ?

अभिनिर्धारित—आमतौर पर जब एक बार मकान-मालिक यह सिद्ध कर देता है कि परिसर उसे अपने अधिभोग के लिए सद्भाविक रूप से

चाहिए, तो वह किरायेदार से कब्जा लेने के लिए हकदार है, चाहे वह परिसर का अधिभोग उसमें कोई परिवर्तन किये बिना या आवश्यक परिवर्तन करने के बाद करे। चाहे उसने अपने उपयोग के लिए उस भवन को गिराया और फिर से बनाया हो। ऐसी स्थिति में भी वही सिद्धांत लागू रहेगा।

राधे श्याम बनाम **कल्याण मल :** सिविल अपील सं० 750-53/82 जिसका विनिश्चय 10 10.1984 को किया गया।

न्या० वरदराजन और सब्यसाची मुखर्जी।

खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम, 1954 :

294. धारा 13 और नियमों का नियम 9क—'स्वास्थ्य प्राधिकारी अभियोजन संस्थित करने के तुरन्त बाद.........भेजेगा" —"तुरन्त" का अर्थ — क्या कोई विलम्ब अपेक्षित है या नहीं ?

अभिनिर्धारित—नियम 9क में "तुरन्त" शब्द का आशय तात्कालिकता की बजाए निरन्तरता का भाव सम्प्रेषित करना है। इसका अर्थ तुरन्त अगला क्षण या अगला घंटा या अगला दिन नहीं समझना है। लोक विश्लेषक की रिपोर्ट पक्षकार के पास शीघ्र से शीघ्र भेजी जानी चाहिए जिससे कि वह अधिनियम की धारा 13(2) के अधीन कानूनी अधिकार का प्रयोग अभियोजन पक्ष द्वारा साक्ष्य आरम्भ करने से पहले ठीक और पर्याप्त समय से कर सके। नियम 9क का पालन न करना घातक नहीं है। यह प्रतिकूल प्रभाव का प्रश्न है। इस खण्ड के शब्द धारा 13 (2) से शब्दशः लिए गए हैं, जिनके बीच में तुरन्त शब्द अंतःस्थापित किया गया है। नियम बनाने वाले प्राधिकारी का आशय 'तुरन्त' शब्द को ऊपर से जोड़कर कानून में संशोधन करना कभी नहीं हो सकता। नियम का निर्वचन धारा 13(2) के अनुसार और उसकी सीमाओं के भीतर करना होगा।

तुलसीराम बनाम **मध्य प्रदेश राज्य :** विशेष इजाजत पिटीशन (दाण्डिक) सं० 3038/83 जिसका विनिश्चय 11.10.1984 को किया गया।

न्या० चिन्नप्पा रेड्डी और खालिद।

295. धारा 16(1) (क) (i) — नियम 44 (ङ) — क्या एक खाद्य तेल (बिनौले का तेल) किसी दूसरे तेल (सोयाबीन तेल) में मिश्रित किया जा सकता है ?

अभिनिर्धारित—धारा 16 के अनुसार किसी खाद्य पदार्थ का विक्रय जो अधिनियम के अधीन बनाए गए किसी नियम द्वारा प्रतिषिद्ध है, खाद्य वस्तु बेचने वाले व्यक्ति को दण्ड के दायित्वाधीन बनाता है । नियम 44(ङ) दो या अधिक खाद्य तेलों को एक खाद्य तेल के रूप में मिश्रण का विक्रय प्रतिषिद्ध करता है। अत: सोयाबीन तेल में बिनौले के तेल का मिश्रण (यद्यपि दोनों तेल खाद्य तेल हैं) सोयाबीन तेल के रूप में नहीं बेचा जा सकता, चाहे उस मिश्रण से सोयाबीन तेल क्षतिकारक हुआ हो या नहीं ।

तुलसीराम बनाम मध्य प्रदेश राज्य : विशेष इजाजत पिटीशन (दाण्डिक) सं० 3038/83 जिसका विनिश्चय 11 10.1984 को किया गया ।

न्या० चिन्नप्पा रेड्डी और खालिद ।

प्रक्रिया :

296. पिटीशन आरम्भ में ही खारिज किया जाना—उच्च न्यायालय को आदेश के कारण देने चाहिएं ?

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन आरम्भ में खारिज करते समय उच्च न्यायालय को एक शब्द "खारिज" से कार्यवाहियों का निपटारा करने के बजाए अपने आदेश के कारणों का संक्षिप्त कथन देना चाहिए। उच्च न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन आरम्भिक अधिकारिता का प्रयोग करता है । यही समुचित है कि पिटीशनर को, जिसका रिट पिटीशन आरम्भ में ही खारिज कर दिया जाए, प्रतिकूल आदेश के कारण ज्ञात होने चाहिएं, चाहे पिटीशन चूक के आधार पर या किसी अन्य आरम्भिक आधार पर या संविवाद के गुणागुण पर नामंजूर किया गया हो और उसके कोई भी कारण हों। जब वह मामला अपील में उच्चतम न्यायालय के सामने आएगा तो कारणों के संक्षिप्त कथन से उच्चतम न्यायालय को बहुत मदद मिलेगी ।

मित्तल एम० पी० बनाम हरियाणा राज्य : सिविल अपील सं० 1396/78 जिसका विनिश्चय 10.10.1981 को किया गया ।

न्या० पाठक और ठक्कर ।

297. निचले न्यायालयों द्वारा उच्चतम न्यायालय के पूर्वतर विनिश्चय का हवाला न दिया जाना—वही दलील पुन: देना—औचित्य ?

अभिनिर्धारित—यद्यपि इस मामले में दी गई सभी दलीलों का उच्चतम न्यायालय ने तीन वर्ष पहले (ग्रिंडले बैंक वाले मामले [1981] 4 उम० नि० प० 857 = [1981] 2 एस० सी० आर० 341) उत्तर दे दिया था, फिर भी यह मामला न्यायालय के पास लाया गया है और वही दलीलें दी गई हैं। इससे साफ पता चलता है कि उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिकथित विधि की बिलकुल भी जानकारी नहीं है। विधिक प्रतिपादन को लागू विधि की जानकारी न होने से कार्यवाही तेजी के साथ बढ़ जाती हैं और इससे पक्षकार को अनावश्यक खर्च उठाना पड़ता है। इसके फलस्वरूप मुकदमों का अम्बार लग जाता है।

सतनाम वर्मा बनाम **भारत संघ** : सिविल अपील सं० 4502/84 जिसका विनिश्चय 19.10.1984 को किया गया।

न्या० देसाई और अमरेन्द्र नाथ सेन।

(देखिए मद सं० 291 भी)

कराधान :

298. विक्रय-कर—उत्तर प्रदेश बिक्री-कर अधिनियम—अधिकरण के समक्ष दोनों पक्षों की ओर से अपीलें—निर्धारिती की अपील खारिज—आयुक्त की अपील पृथक् रूप से न सुनी जानी—क्या यह कहा जा सकता है कि वह निर्धारिती की अपील में विलीन हो गई ?

अभिनिर्धारित—निर्धारिती और आयुक्त दोनों को अपील का कानूनी अधिकार प्राप्त है। इस शक्ति के प्रयोग में उन्होंने दो अपीलें फाइल कीं। जब दोनों पक्षकारों द्वारा की गई अपीलें अधिकरण के सामने थीं, तो उसे दोनों अपीलों को एक साथ जोड़ देना चाहिए था किन्तु ऐसा नहीं किया गया। अपीलों को एक साथ न जोड़ने में जो गलती की गई है, उसके कारण एक पक्षकार के कानूनी अधिकार को नहीं नकारा जा सकता है। यह सुस्थिर विधि है कि किसी पक्षकार को न्यायालय या अधिकरण की भूल के कारण नुकसान नहीं उठाना चाहिए। इस प्रकार की स्थिति में विलयन का सिद्धांत लागू नहीं होता और उच्च न्यायालय ने आयुक्त की अपील अस्वीकार करके गलती की।

विक्रय-कर आयुक्त, उत्तर प्रदेश, लखनऊ बनाम **मैसर्स विजय ईंट उद्योग** : सिविल अपील सं० 4121/84 जिसका विनिश्चय 15.10.84 को किया गया।

न्या० देसाई और रंगनाथ मिश्र।

299. तमिलनाडु सेल्स टेक्स ऐक्ट, 1976—सांविधानिकता ?

अभिनिर्धारित—अधिनियम विधिमान्य है। ये दलीलें कि विधान-मण्डल को यह विधि पारित करने की क्षमता नहीं है क्योंकि यह विक्रय पर नहीं बल्कि आय पर कर अधिरोपित करता है, कि कर दायित्व के अवधारण के लिए खण्ड प्रणाली का अपनाना विक्रय-कर की संकल्पना से असम्बद्ध है और यह कि अधिनियम के अधीन अतिरिक्त कर उद्ग्रहण करने से संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 का उल्लंघन होता है तथा यह कि ये उपबंध संविधान के अनुच्छेद 301 का भी उल्लंघन करते हैं [एस० कोडार बनाम केरल राज्य (1975) 1 एस० सी० आर० 121] में उच्चतम न्यायालय के पूर्वतर विनिश्चय के अन्तर्गत आ गई थीं। इनमें से किसी भी दलील में कोई सार नहीं है।

मोहम्मद अब्बुल कादिर फर्म बनाम तमिलनाडु राज्य : रिट पिटीशन सं० 4358/78 जिसका विनिश्चय 16.10.1984 को किया गया।

न्या० तुलजापुरकर, बालकृष्ण एराडी और मदान।

अधिलाभ कर अधिनियम, 1963 :

300. धारा 2(9)—समापनाधीन कंपनी—क्या अधिलाभ कर देने के लिए दायी है ?

अभिनिर्धारित—अधिनियम की धारा 2(9) में दी गई परिभाषा के अनुसार मानक कटौती के परिकलन के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि कंपनी की पूंजी अभिनिश्चित की जाए, जिसकी संगणना दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट रीति से की जाती है। जब तक यह नहीं कहा जा सकता कि कंपनी के पास निर्धारण वर्ष से सुसंगत पूर्व वर्ष के प्रथम दिन समादत्त शेयर पूंजी थी, तब तक उसमें अधिकथित सूत्र लागू नहीं हो सकता। कम्पनी का समापन होने के बाद यह नहीं कहा जा सकता कि किसी पश्चात्वर्ती वर्ष के प्रथम दिन समापक के हाथ में ऐसी कोई रकम थी, जिसे कम्पनी की समादत्त शेयर-पूंजी कहा जा सके या ऐसी कोई धनराशि थी, जिसे "आरक्षिति" का नाम दिया जा सके।

आय-कर आयुक्त, एर्नाकुलम, केरल बनाम **शासकीय समापक, पलई सैंट्रल बेंक लिमिटेड** : सिविल अपील सं० 2090/80 जिसका विनिश्चय 16.10.1984 को किया गया।

न्या० तुलजापुरकर, बालकृष्ण एराडी और मदान।

शब्द और पद :

301. विलयन का सिद्धांत —दोनों पक्षों की ओर से अपीलें—अपीलों को सुनवाई के लिए एक साथ न जोड़ा जाना—निर्धारिती की अपील खारिज किया जाना—क्या आयुक्त की अपील के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह निर्धारिती की अपील में विलीन हो गई थी।

(देखिए मद सं० 300)

————

राजरानी (श्रीमती)

वनाम

मुख्य बन्दोबस्त आयक्त, दिल्ली और अन्य

(3 मई, 1984)

(न्यायाधिपति डी०ए० देसाई, अमरेन्द्र नाथ सेन और आर० बी० मिश्र)

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 (1872 का 1)—धारा 35—लोक अभिलेख में प्रविष्टि की सुसंगति—मृत्यु और जन्म रजिस्टर—उस स्थान के, जहां मृतक व्यक्ति के कुटुम्ब ने कभी निवास किया था, कतिपय प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा मृत्यु प्रमाण-पत्र दिया जाना—इससे धारा 35 की अपेक्षायें पूरी नहीं होती हैं और वह साक्ष्य में ग्राह्य नहीं है।

संविधान, 1950 —अनुच्छेद 226 [सपठित डिस्पलेस्ड पर्सन्स (क्लेम्स) सप्लीमेंटरी ऐक्ट, 1954 (1954 का 12)—धारा 5 (2)]—नैसर्गिक न्याय का सिद्धान्त—अधिनियम के अधीन विशेष पुनरीक्षण की शक्ति—विस्थापित व्यक्ति (प्रतिकर और पुनर्वास) अधिनियम से अधीन की गई कार्यवाहियों में विस्थापित व्यक्ति की पुत्रियों और विधवा को उसके वारिस के रूप में प्रतिस्थापित करने के इनकार करने विषयक आदेश दिया जाना—ऐसे आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण फाइल किया जाना—पुत्रियों और विधवा को सुने जाने का अवसर दिया जाएगा।

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 (1956 का 30)—धारा 6, स्पष्टीकरण 1—सहदायिकी सम्पत्ति का न्यागमन—हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के प्रवर्तन के पश्चात् व्यक्ति की मृत्यु—तीन पुत्र, पुत्रियां और उसकी विधवा का शेष रहना—बंटवारा इनके बीच होगा।

अपीलार्थी का पिता पाकिस्तान से एक विस्थापित व्यक्ति का पुत्र था। पाकिस्तान में उसकी कृषि भूमि थी। देश के विभाजन के पश्चात्

उसका दावा सत्यापित किया गया था और उसके नाम से 26 मानक एकड़ 12-1/2 उर्वर भूमि थी। अपीलार्थी का पिता किसी समय दिसम्बर, 1954 में गायब हो गया और अपीलार्थी के भाई ने उसके गायब हो जाने की रिपोर्ट स्थानीय पुलिस को 25 दिसम्बर, 1974 को दर्ज कराई। पुलिस द्वारा मामले की जांच-पड़ताल की गई, किन्तु उसका पता नहीं चला। 1956 में अपर बन्दोबस्त आयुक्त द्वारा दावेदार, अपीलार्थी के पिता को नोटिस जारी किया गया। चूंकि वह नोटिस के अनुपालन में हाजिर नहीं हो सका, अपीलार्थी का बड़ा भाई अपर बन्दोबस्त आयुक्त के समक्ष हाजिर हुआ और उसने यह अभिकथन किया कि उसके पिता की मृत्यु हो गई थी और उसके विधिक वारिस के रूप में उसके केवल तीन पुत्र रह गए हैं। अपर बन्दोबस्त आयुक्त ने प्रतिस्थापन आवेदन मंजूर किया और अपीलार्थी के पिता के विधिक प्रतिनिधियों के रूप में उसके तीनों पुत्रों को अभिलेख में सूचीबद्ध करने का निदेश दिया यद्यपि उसके पीछे उसके उपर्युक्त तीन पुत्र, तीन पुत्रियां और उसकी विधवा रह गई थी। अपीलार्थी के एक भाई की 1961 में मृत्यु हो गई और उसके पश्चात् उसकी पुत्री और विधवा रह गई, जिसने अपनी अवयस्क पुत्री सहित उसके वारिस के रूप में सम्मिलित किए जाने के लिए आवेदन किया। 1964 में अपीलार्थी की माता ने बन्दोबस्त अधिकारी को भी आवेदन किया कि उसे और उसकी तीन पुत्रियों को भी सत्यापित दावे के बारे में प्रतिकर के संदाय के संबंध में मृतक के वारिस और विधिक प्रतिनिधि के रूप में प्रतिस्थापित किया जाए। उन्होंने प्रतिस्थापन के लिए आवेदन फाइल करने में हुए विलम्ब की माफी के लिए तथा विस्थापित व्यक्ति (प्रतिकर और पुनर्वास) अधिनियम, 1954 की धारा 9 के अधीन कार्यवाही प्रारम्भ करने के लिए भी प्रार्थना की। यह प्रार्थना मंजूर कर ली गई। जब राजस्थान के एम० ओ०/एस०ओ० द्वारा सुसंगत अभिलेख प्राप्त किया गया तो अपीलार्थी की माता ने यह अभिकथन किया कि मृतक के वारिसों के प्रतिस्थापन का पूर्ववर्ती आदेश वहां तक कपट और दुर्व्यपदेशन द्वारा प्राप्त किया गया है, जहां तक उन्होंने अपीलार्थी, माता और बहनों के अस्तित्व में होना प्रतिस्थापन-आवेदन में प्रकट नहीं किया। एम० ओ०/एस० ओ० द्वारा अपीलार्थी की माता का आवेदन नामंजूर कर दिया गया। अपीलार्थी की माता ने स्वयं अपनी ओर से तथा अपनी तीनों पुत्रियों की ओर से, जिनमें अपीलार्थी भी सम्मिलित है, प्रादेशिक बन्दोबस्त आयुक्त के समक्ष अपील फाइल की, जिसे खारिज कर दिया गया। इसके पश्चात्, उसने मुख्य बन्दोबस्त आयुक्त के समक्ष पुनरीक्षण पिटीशन फाइल किया और इसे भी खारिज कर दिया गया। इसके पश्चात् उसने स्वयं अपनी ओर से तथा अपीलार्थी की ओर से विस्थापित व्यक्ति

(प्रतिकर और पुनर्वास) अधिनियम, 1954 की धारा 33 के अधीन केन्द्रीय सरकार को आवेदन किया, किन्तु केन्द्रीय सरकार ने उसे नामंजूर कर दिया। तारीख 30 अगस्त, 1965 को अपीलार्थी ने अपर बन्दोबस्त आयुक्त के आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण फाइल किया, किन्तु मुख्य बन्दोबस्त आयुक्त ने उसे भी नामंजूर कर दिया। इसके पश्चात् अपीलार्थी ने दिल्ली उच्च न्यायालय के समक्ष रिट पिटीशन फाइल किया जिसके खिलाफ प्रस्तुत अपील उद्भूत हुई है। उच्च न्यायालय ने उक्त रिट पिटीशन को खारिज कर दिया। अपीलार्थी ने लैटर्स पेटेंट अपील फाइल की, जो खारिज की कर दी गई। इससे व्यथित होकर अपीलार्थी ने संविधान के अनुच्छेद 133 के अधीन प्रमाण-पत्र के लिए आवेदन किया जो प्रदान कर दिया गया। इस प्रकार अपीलार्थी ने उच्चतम न्यायालय में अपील की। अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—प्रस्तुत मामले में ऐसे स्थान के, जहां किसी समय कुटुम्ब के व्यक्तियों ने निवास किया था, कतिपय सम्मानित व्यक्तियों द्वारा दिया गया प्रमाण-पत्र साक्ष्य अधिनियम की धारा 35 की अपेक्षाओं का समर्थन नहीं करता। इस बारे में कोई सबूत नहीं है कि प्रमाणपत्र जारी करने वाले व्यक्ति पर जन्म और मृत्यु का अभिलेख रखने के लिए कोई कानूनी कर्तव्य सौंपा गया था और इसलिए उस मृत्यु प्रमाण-पत्र का कोई साक्ष्यिक मूल्य नहीं है। सम्पत्ति जब्त करने के लिए तथाकथित सम्मानित व्यक्तियों से मृत्यु प्रमाण-पत्र प्राप्त करना किसी व्यक्ति के लिए बहुत आसान है। यदि दीवान चन्द के अनुसार नानकचन्द की मृत्यु हो गई थी तो उसे यह भी दर्शित करना चाहिए था कि उसकी मृत्यु कैसे हुई और उसकी मृत्यु का स्थान सुसंगत है, न कि उसका जन्म-स्थान या निवास-स्थान। स्पष्टतः, प्रमाण-पत्र उस स्थान का नहीं है जहां नानकचन्द की मृत्यु हुई थी। इसलिए प्राधिकारियों ने मृत्यु के उस प्रमाण-पत्र का अवलम्ब लेने में गम्भीर भूल की है जोकि साक्ष्य में ग्राह्य नहीं है। (पैरा 14)

क्या पुत्रियां नानकचन्द द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति में हित की हकदार होंगी, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि क्या नानकचन्द की मृत्यु हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के प्रवर्तन से पूर्व या पश्चात् हुई थी। इसलिए यह विनिश्चय करना एक महत्वपूर्ण प्रश्न था कि नानकचन्द की मृत्यु हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के प्रवर्तन से पूर्व हुई थी या नहीं। इसके लिए यह पूर्णतः आवश्यक है कि अपीलार्थी को नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त के अनुसार अवसर दिया जाना चाहिए। (पैरा 15)

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 6 के स्पष्टीकरण-1 को दृष्टि में रखते हुए नानकचन्द ने अपने तीन पुत्रों और तीन पुत्रियों के बीच विभाजन किए जाने पर 1/5 हित प्राप्त किया होता। यदि एक बार नानकचन्द का हित उसकी मृत्यु से पूर्व 1/5 अवधारित किया जाता है तो उसका हित उसकी विधवा, उसके तीन पुत्रों और तीन पुत्रियों पर समान रूप से न्यागत होगा और इस प्रकार उनमें प्रत्येक का अंश $1/5 \times 1/7$ अर्थात् 1/35 होगा। इन वारिसों को उनके दावे से मात्र इसलिए वंचित नहीं किया जा सकता कि उनमें कतिपय ने दावे की मांग नहीं की है। (पैरा 17)

सिविल अपीली अधिकारिता : 1971 की सिविल अपील सं० 485.

(1970 की लेटर्स पेटेंट अपील में दिल्ली उच्च न्यायालय के तारीख 29 जनवरी, 1970 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध सिविल अपील)

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री डी० डी० ठाकुर, इ० सी० अग्रवाल और वी० के० पंडित

प्रत्यर्थी की ओर से श्री चमन लाल इत्रोरा

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति आर० बी० मिश्र ने दिया

न्यायाधिपति मिश्र —

प्रमाण-पत्र लेकर की गई वर्तमान लेटर्स पेटेंट अपील में तारीख 29 जनवरी, 1970 के दिल्ली उच्च न्यायालय के उस निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई है जिसमें दिल्ली के विद्वान् एकल न्यायमूर्ति के तारीख 7 जनवरी, 1970 वाले निर्णय और आदेश की पुष्टी की गई है।

2. अपीलार्थी का पिता, नानकचन्द पश्चिमी पाकिस्तान का विस्थापित व्यक्ति था, जहां उसने ग्राम छोटा भूख अवतार, तहसील भावलनगर, जिला भावलपुर में कृषि भूमि पीछे छोड़ दी थी। देश के विभाजन के पश्चात् अनुक्रमणिका सं० बी/बी० पी०-3/259 में उसका दावा 26 मानक एकड़ साढ़े बारह यूनिट के उसके नाम में सत्यापित किया गया था। नानकचन्द किसी समय दिसम्बर, 1964 में गायब हो गया था और उसके गायब होने के बारे में रिपोर्ट अपीलार्थी के भाई दीवान चन्द द्वारा, जिसे अपीलार्थी सं० 2 के रूप में इस अपील में सूचीबद्ध किया गया है, स्थानीय पुलिस मल्हौट, जिला फिरोजपुर पंजाब में 25 दिसम्बर, 1954 को दर्ज कराया गया था। इस

मामले में पुलिस द्वारा जांच की गई थी और अंततः पुलिस ने यह घोषित किया कि नानकचन्द कहीं नहीं मिला है।

3. 1956 में नानक चन्द दावेदार को अपर बन्दोबस्त आयुक्त दिल्ली द्वारा ऊपर निर्दिष्ट सत्यापित दावे की बाबत स्वप्रेरणया किए गए पुनरीक्षण में नोटिस जारी किया गया था। चूंकि नानकचन्द नोटिस के अनुपालन में हाजिर नहीं हो सका और हाजिर नहीं हुआ, इसलिए अपीलार्थी का बड़ा भाई अर्थात दीवान चन्द 25 अक्तूबर, 1956 को अपर बन्दोबस्त आयुक्त, दिल्ली के समक्ष हाजिर हुआ और यह अभिकथन किया कि नानकचन्द की मृत्यु हो गई थी और मृत व्यक्ति के विधिक वारिसों के रूप में उसके केवल तीन पुत्र अर्थात् दीवान चन्द, प्रभू दयाल और अशोक कुमार (अव्यस्क) रह गए थे।

4. विद्वान् अपर बन्दोबस्त आयुक्त ने तारीख 27 अक्तूबर, 1956 के अपने आदेश द्वारा प्रतिस्थापन का आवेदन मंजूर किया और एकमात्र दीवान चन्द, प्रभू दयाल और अशोक कुमार को मृतक नानकचन्द के विधिक प्रतिनिधियों के रूप में अभिलेख पर लाये जाने का निदेश दिया, यद्यपि नानकचन्द के पीछे पूर्वोक्त तीन पुत्र, तीन पुत्रियां अर्थात सतनाम देवी, लाजवंती और श्रीमती राजरानी तथा उसकी विधवा, श्रीमती चंदन बाई रह गई थीं।

5. नानकचन्द के तीन पुत्रों में से एक पुत्र प्रभू दयाल की मृत्यु 1961 में हुई, जिसके पीछे उसकी पुत्री संतोष कुमारी रह गई। उसकी विधवा लाजवंती ने अपनी अव्यस्क पुत्री संतोष कुमारी सहित मृत व्यक्ति के वारिस के रूप में प्रतिस्थापित किये जाने के लिए आवेदन किया। 1964 में अपीलार्थी की माता ने भी बन्दोबस्त अधिकारी को यह आवेदन किया कि उसे और उसकी तीन पुत्रियों को भी सत्यापित दावे के बारे में प्रतिकर के संदाय के संबंध में मृत नानकचन्द के वारिसों तथा विधिक प्रतिनिधियों के रूप में प्रतिस्थापित किया जाये। उन्होंने प्रतिस्थापित के आवेदन फाइल करने में हुए विलम्ब की माफी के लिए और विस्थापित व्यक्ति (प्रतिकर और पुर्नवास) अधिनियम, 1964 की धारा 9 के अधीन कार्यवाही आरम्भ करने के लिए भी प्रार्थना की। संबंधित बन्दोबस्त अधिकारी ने मुख्य बन्दोबस्त आयुक्त, राजस्थान की प्रत्यायोजित शक्तियों से तारीख 24 मार्च, 1964 वाली अपनी रिपोर्ट में विलम्ब की माफी के लिए प्रादेशिक बन्दोबस्त आयुक्त, राजस्थान को सिफारिश की। जिन्होंने तारीख 6 अप्रैल, 1964 के अपने आदेश द्वारा विलम्ब माफकर दिया और यह निदेश दिया कि मामले में नियमों के अनुसार प्रक्रिया

अपनायी जा सकती है और उसे अंतिम रूप दिया जा सकता है।

6. जब सुसंगत अभिलेख एम० ओ० और एस० ओ० राजस्थान को प्राप्त हुआ तब अपीलार्थी की माता ने यह अभिकथन किया कि मृतक नानक चन्द के वारिसों के प्रतिस्थापन का पूर्ववर्ती आदेश उसके पुत्रों द्वारा कपट और दुर्व्यपदेशन द्वारा प्राप्त किया गया, मिथ्या हुआ था, क्योंकि उन्होंने प्रतिस्थापन के अपने आवेदन में अपीलार्थी, अपनी माता और बहनों के अस्तित्व को प्रकट नहीं किया। एम० ओ० और एस० ओ ने 16 नवम्बर, 1964 के अपने आदेश द्वारा इस आधार पर अपीलार्थी की माता का आवेदन नामंजूर कर दिया कि अपर बन्दोबस्त आयुक्त द्वारा पारित तारीख 27 अक्तूबर, 1956 वाला पूर्ववर्ती आदेश जिसमें मृतक नानकचन्द के केवल तीन पुत्रों को ही उसके वारिस के रूप में घोषित किया गया था, मृत व्यक्ति की विधवा और पुत्रियों को अपवर्जित करके अपील या पुनरीक्षण के माध्यम से कदापि चुनौती नहीं दी गई थी इसलिए उक्त आदेश अंतिम हो गया था। इसलिए उसने हस्तक्षेप करने और प्रतितोष प्रदान करने से इन्कार कर दिया। अपीलार्थी की माता ने स्वयं अपनी ओर से और अपनी तीन पुत्रियों की ओर से, जिसमें अपीलार्थी भी सम्मिलित है, प्रादेशिक बन्दोबस्त आयुक्त के न्यायालय में अपील फाइल की जोकि प्रादेशिक बन्दोबत आयुक्त, (राजस्थान) की प्रत्यायोजित शक्तियों से श्री एस० एस० गोविल, एस० ओ० के समक्ष प्रस्तुत की गई और उन्होंने तारीख 22 दिसम्बर, 1964 वाले अपने आदेश द्वारा उसे खारिज कर दिया।

7. इन असफलताओं से निर्भीक रहते हुए अपीलार्थी की माता ने मुख्य बन्दोबस्त आयुक्त के समक्ष पुनरीक्षण पिटीशन फाइल किया जोकि मुख्य बन्दोबस्त आयुक्त की प्रत्यायोजित शक्तियों से श्री डी० एन० वोहरा, बन्दोबस्त आयुक्त के समक्ष सुनवाई के लिए प्रस्तुत किया गया और उन्होंने भी यह दृष्टिकोण अपनाया कि अपर बन्दोवस्त आयुक्त द्वारा पारित तारीख 18 दिसम्बर, 1954 वाला आदेश अन्तिम हो गया था और उन्हें उक्त आदेश में पुनरीक्षण या संशोधन करने की कोई अधिकारिता नहीं थी और तदनुसार उन्होंने पुनरीक्षण (आवेदन) खारिज कर दिया। इसके पश्चात् माता ने स्वयं अपनी ओर से तथा अपीलार्थी की ओर से विस्थापित व्यक्ति (प्रतिकर और पुनर्वास) अधिनियम, 1954 की धारा 33 के अधीन केन्द्रीय सरकार को आवेदन किया, किन्तु वह आवेदन केन्द्रीय सरकार, पुनर्वास मंत्रालय द्वारा ख़ारिज कर दिया गया। अपीलार्थी ने 30 जुलाई, 1965 को विस्थापित

व्यक्ति (अनुपूरक) दावा सत्यापन अधिनियम, 1954 (डिस्पलेस्ड परसन्ज़ सप्लीमेंटरी) की धारा 5 के अधीन अपर बन्दोबस्त आयुक्त के आदेश के विरुद्ध मुख्य बन्दोबस्त आयुक्त के समक्ष पुनरीक्षण भी फाइल किया, किन्तु 25 दिसम्बर, 1965 को इसका भी वही परिणाम निकला जिसमें अपालार्थी को सुनवाई का कोई अवसर नहीं दिया गया था।

8. अंततः अपीलार्थी ने दिल्ली उच्च न्यायालय के मुख्य बन्दोबस्त आयुक्त, दिल्ली द्वारा पारित तारीख 25 सितम्बर, 1965 के आदेश के विरुद्ध, जिसके द्वारा उसने मृतक नानकचन्द के विधिक वारिस के रूप में अपीलार्थी को प्रतिस्थापित करने से इनकार करते हुए अपर बन्दोबस्त आयुक्त द्वारा पारित तारीख 27 अक्तूबर, 1956 वाले आदेश की पुष्टि की थी, रिट पिटीशन फाइल किया जिसमें से प्रस्तुत अपील उद्‌भूत हुई है। वह रिट पिटीशन तारीख 7 जनवरी, 1970 वाले आदेश द्वारा खारिज कर दिया गया। अपीलार्थी ने असफलतापूर्वक लेटर्स पेटेंट अपील फाइल की जो 29 जनवरी, 1970 को खारिज कर दी गई थी। इससे व्यथित होकर अपीलार्थी ने संविधान के अनुच्छेद 133 के अधीन प्रमाण-पत्र के लिए आवेदन दिया जो मंजूर कर दिया गया। इस प्रकार अपीलार्थी इस न्यायालय में आया है।

9. अपीलार्थी की ओर से यह दलील दी गई है कि 27 अक्तूबर, 1956 को वह अव्यस्क थी, जब अन्य वारिसों अर्थात् अपीलार्थी और उसकी माता और उसकी दो बहनों के नाम प्रकट किये बिना वह आदेश दीवान चन्द द्वारा कपट और दुर्व्यपदेशन द्वारा प्राप्त किया गया था। अपीलार्थी ने विद्वान् मुख्य बन्दोबस्त आयुक्त के समक्ष 27 नवम्बर, 1964 को क्लेम्स (सप्लीमेंटरी) ऐक्ट, 1954 (1954 का 12) की धारा 5 के अधीन पुनरीक्षण पिटीशन फाइल किया, इस पर उन्होंने (विद्वान् मुख्य बन्दोबस्त आयुक्त ने) अपीलार्थी की सुनवाई किये बिना और उसे अपना अभिवाक् देने का कोई अवसर दिये बिना 25 सितम्बर, 1965 को पुनरीक्षण पिटीशन खारिज कर दिया। यह नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अतिक्रमण था।

10. उच्च न्यायालय ने दीवान चन्द, प्रत्यर्थी सं० 2 के अभिसाक्ष्य पर इस आशय से अवलम्ब लेना चाहा कि उसके पिता की हत्या कर दी गई थी और उसने यह प्रमाणित करते हुए मुख्य बन्दोबस्त आयुक्त के समक्ष मृत्यु का प्रमाण-पत्र प्रस्तुत किया था कि नानकचन्द की मृत्यु 25 अक्तूबर, 1956 से एक वर्ष 10 मास पूर्व हो गई थी और यह प्रमाणपत्र दीवान चन्द

द्वारा नगरपालिक समिति अबोहर के अध्यक्ष के समक्ष फाइल किये गये आवेदन पर दिये जाने का अभिकथन किया गया है। उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायमूर्ति ने यह मत व्यक्त किया है कि अपर बन्दोबस्त आयुक्त ने प्रमाणपत्र का अवलम्ब लेकर तथा नानकचन्द के पुत्रों को इस आधार पर उसके सत्यापित दावे के लिए वारिसों के रूप में प्रतिस्थापित करके सही निर्णय दिया है चूंकि नानकचन्द की मृत्यु हिन्दू उत्ताधिकार अधिनियम के प्रवर्तन से पूर्व हो गई थी, इसलिए उसकी पुत्रियां वारिस नहीं होंगी और अपने पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी नहीं हो सकती थीं।

11. अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल श्री ठाकुर ने दृढ़तापूर्वक यह दलील दी कि यदि उसे मुख्य बन्दोबस्त आयुक्त द्वारा अवसर दिया गया होता, तो वह उनके समक्ष यह साक्ष्य देने में समर्थ हुआ होता कि स्वयं दीवान चन्द की स्वीकृति के आधार पर नानकचन्द दिसम्बर, 1954 में किसी समय गायब हो गया था और उसके गायब होने की रिपोर्ट 25 दिसम्बर, 1954 को दिवान चन्द द्वारा स्थानीय पुलिस मल्होट, जिला फिरोजपुर में दर्ज कराई गई थी और जांच के परिणामस्वरूप पुलिस ने यह घोषित किया था कि नानकचन्द को नहीं ढूंढा जा सका। यह साक्ष्य मुख्य बन्दोबस्त आयुक्त के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्यर्थी की सुनवाई नहीं की गई थी।

12. इस मामले का विनिश्चय इस प्रश्न पर निर्भर करता है कि क्या नानकचंद की मृत्यु हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के प्रवर्तन से पूर्व हुई थी या उसके पश्चात्। यदि उसकी मृत्यु हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम के प्रवर्तन से पूर्व हुई थी तो स्पष्ट है कि पुत्रियां नानकचन्द द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति में कोई अंश प्राप्त नहीं कर सकतीं। दूसरी ओर यदि उसकी मृत्यु हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के प्रवर्तन के पश्चात् हुई थी तो पुत्रियां नानकचन्द द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति में समान रूप से अंश के लिए हकदार होंगी। किसी भी दशा में, नानकचन्द की विधवा इस तथ्य के बावजूद कि नानकचन्द की मृत्यु हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम से पूर्व या उसके पश्चात् हुई थी सम्पत्ति में अंश के लिए हकदार होगी। मामले का यह पहलू उच्च न्यायालय की दृष्टि से पूर्णतः ओझल हो गया है। यदि स्वयं दीवान चन्द की रिपोर्ट पर नानकचन्द दिसम्बर, 1954 में गायब हो गया और उन व्यक्तियों द्वारा जिन्हें उसके बारे में सूचना मिली होती यदि वह जीवित होता, 7 वर्ष तक सूचना नहीं मिली है, तो जब प्रश्न उठता है तब मृत्यु की धारणा की जा सकती है। किंतु प्रस्तुत मामले में ऐसी कोई धारणा उदभूत नहीं होती क्योंकि यह प्रश्न गायब होने की तारीख के ठीक 2 वर्ष पश्चात् उदभूत हुआ है।

13. जहां तक मृत्यु की वास्तविक तारीख का सम्बन्ध है, उच्च न्यायालय ने मृत्यु प्रमाण-पत्र पर विचार करते हुए निम्नलिखित मत व्यक्त किया—

> "न्यायिककल्प कार्य करते हुए, प्रशासनिक अधिकारी के रूप में अपर बन्दोबस्त आयुक्त, मृत्यु प्रमाण-पत्र पर विश्वास करने का हकदार था। इस बारे में कि नानकचन्द के कौन वारिस थे वह केवल आरम्भिक जांच करने के लिए आबद्ध था। उन्हें उस प्रश्न का अंतिम रूप से विनिश्चय नहीं करना था। आरम्भिक जांच के लिए उस स्थान के जहां उस कुटुम्ब ने निवास किया था, सम्मानित व्यक्तियों द्वारा हस्ताक्षरित मृत्यु प्रमाण-पत्र पर्याप्त था। इसलिए अपर बन्दोबस्त आयुक्त का यह समाधान हो गया था कि मृतक नानकचन्द के स्थान पर उसके पुत्रों का प्रतिस्थापित किया जाना उसकी पुत्रियों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेगा। इसलिए, विस्थापित व्यक्ति (दावे) अनुपूरक अधिनियम, 1954 की धारा 5 की उप-धारा (2) के अधीन पुत्री के सुने जाने का अवसर देना उसके लिए आवश्यक नहीं था।"

कम से कम यह कहना होगा ऐसे उस स्थान के, जहां किसी समय मृत व्यक्ति ने निवास किया था, सम्मानित व्यक्तियों द्वारा दिया गया प्रमाण-पत्र, उस साक्ष्य में ग्राह्य नहीं है। साक्ष्य अधिनियम की धारा 35 में यह उपबन्ध किया गया है कि किसी लोक या अन्य राजकीय पुस्तक रजिस्टर या अभिलेख में की गई प्रविष्टि, जो किसी विवाद्यक या सुसंगत तथ्य का कथन करती है और किसी लोक सेवक द्वारा अपने पदीय कर्तव्य के निर्वहन में या उस देश की, जिसमें ऐसी पुस्तक, रजिस्टर या अभिलेख रखा जाता है, विधि द्वारा विशेष रूप से व्यादिष्ट कर्तव्य के पालन में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा की गई है, स्वयं सुसंगत तथ्य है।

14. प्रस्तुत मामले में, ऐसे स्थान के, जहां किसी समय कुटुम्ब के व्यक्तियों ने निवास किया था, कतिपय सम्मानित व्यक्तियों द्वारा दिया गया प्रमाण-पत्र साक्ष्य अधिनियम की धारा 35 की अपेक्षाओं का समर्थन नहीं करता। इस बारे में कोई सबूत नहीं है कि प्रमाण-पत्र जारी करने वाले व्यक्ति पर जन्म और मृत्यु का अभिलेख रखने के लिए कोई कानूनी कर्तव्य सौंपा गया था और इसलिए उस मृत्यु प्रमाण-पत्र का कोई साक्ष्यिक मूल्य नहीं है। सम्पत्ति हथियाने के लिए तथाकथित् सम्मानित व्यक्तियों से मृत्यु प्रमाण-पत्र

प्राप्त करना किसी व्यक्ति के लिए बहुत आसान है। यदि दीवान चन्द के अनुसार नानकचन्द की मृत्यु हो गई थी तो उसे यह भी दर्शित करना चाहिए था कि उसकी मृत्यु कैसे हुई और उसकी मृत्यु का स्थान सुसंगत है न कि उसका जन्म-स्थान या निवास-स्थान। स्पष्ट है कि प्रमाण-पत्र उस स्थान का नहीं है जहां नानकचन्द की मृत्यु हुई थी। हमारा यह मत है कि प्राधिकारियों ने मृत्यु के उस प्रमाण-पत्र का अवलम्ब लेकर गम्भीर भूल की है जोकि साक्ष्य में ग्राह्य नहीं है।

15. उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी की ओर से दी गई इस दलील को अस्वीकार कर दिया है कि मात्र इस धारणा के आधार पर अपीलार्थी को विस्थापित व्यक्ति (दावा) अनुपूरक अधिनियम, 1954 की धारा 5 (2) के अधीन अवसर दिया जाना चाहिए कि नानकचन्द की मृत्यु हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के प्रवर्तन से बहुत पहले हुई थी और इसलिए पुत्रियों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था, क्योंकि वे वारिस नहीं होंगी। जो सिद्ध करना है उसे प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करना मात्र है। क्या पुत्रियां नानकचन्द द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति में हित की हकदार होंगी। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के परिवर्तन से पूर्व या पश्चात् नानकचन्द की मृत्यु पर निर्भर करेगा। इसलिए यह विनिश्चय करना एक महत्वपूर्ण प्रश्न था कि नानकचन्द की मृत्यु हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के प्रवर्तन से पूर्व हुई थी या नहीं। इसके लिए यह पूर्णत: आवश्यक है कि अपीलार्थी को नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त के अनुसरण में अवसर दिया जाना चाहिए। जैसा कि पहले मत व्यक्त किया गया है, यदि अपीलार्थी को अवसर दिया गया था तो वह नानकचन्द को स्वीकृति प्रस्तुत की होती कि उसके पिता नानकचन्द दिसम्बर, 1954 में किसी समय गायब हो गया और पुलिस द्वारा की गई जांच के परिणामस्वरूप उसके बारे में कुछ भी पता नहीं चल सका।

16. यह निष्कर्ष कि नानकचन्द की मृत्यु, मृत्यु प्रमाण-पत्र पर आधारित हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के प्रवर्तन से पूर्व हुई, क्षण-भर के लिए भी नहीं माना जा सका, क्योंकि यह अस्वीकार्य साक्ष्य पर आधारित है। यदि यह निष्कर्ष अपास्त कर दिया जाता है, तो इस निष्कर्ष से बचने के लिए कोई गुंजाइश नहीं है कि नानकचन्द की मृत्यु हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के प्रवर्तन से पूर्व नहीं, बल्कि उसके पश्चात् अर्थात् 25 अक्तूबर, 1956 के पश्चात् हुई थी।

17. इस बारे में कोई विवाद नहीं है कि नानकचन्द की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा, तीन पुत्र और तीन पुत्रियां रह गईं। दीवान चन्द ने यह अभि-

कथन करते हुए कपटपूर्वक आदेश प्राप्त किया कि नानकचन्द की मृत्यु के पश्चात् उसके पीछे केवल उसके तीन पुत्र रह गये। यदि नानकचन्द की मृत्यु हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के प्रवर्तन के पश्चात् हुई, जैसा कि पहले निष्कर्ष निकाला जा चुका है, तो यह स्पष्ट है कि उसकी विधवा, तीन पुत्रों और तीन पुत्रियों का उसके हित में समान अंशों के लिए उत्तराधिकार होगा, जोकि प्रत्येक के लिए 1/7 होगा। अब प्रश्न यह उठता है कि उसकी मृत्यु के समय नानकचन्द का हित क्या था। चूंकि प्रश्नगत सम्पत्ति मिताक्षरा सहदायिकी सम्पत्ति थी, इसलिए उसका हित हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 6 के स्पष्टीकरण 1 के उपबंधों के अनुसरण में अवधारित किया जाएगा। इस प्रक्रम पर धारा 6 का जहां तक यह इस मामले के प्रयोजनों के लिए तात्विक है, परिशीलन किया जाना समुचित होगा—

> "6. जब कि कोई हिन्दू पुरुष अपनी मृत्यु के समय मिताक्षरा सहदायिकी सम्पत्ति में हित रखते हुए इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् मरे तब उस सम्पत्ति में उसका हित सहदायिकी के उत्तरजीवी सदस्यों पर उत्तरजीविता के आधार पर न्यागत होगा, इस अधिनियम के अनुसार नहीं :
>
> परन्तु यदि मृतक अनुसूची (1) में विनिर्दिष्ट किसी नारी सम्बन्धिनी को या उस वर्ग में विनिर्दिष्ट ऐसे किसी पुरुष सम्बन्धी को जो ऐसी सम्बन्धिनी, के माध्यम से दावा करता हो, अपना उत्तरजीवी छोड़े तो मिताक्षरा सहदायिकी सम्पत्ति में मृतक का हित इस अधिनियम के अधीन, यथास्थिती, वसीयती या निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा न्यागत होगा, उत्तरजीविता द्वारा नहीं।
>
> स्पष्टीकरण-1—इस धारा के प्रयोजनों के लिए हिन्दू मिताक्षरा सहदायिकी का हित संपत्ति में का वह अंश समझा जाएगा जो उस में मिलता यदि उसकी अपनी मृत्यु से अव्यवहित पूर्व सम्पत्ति का विभाजन किया गया होता, इस बात का विचार किए बिना कि वह विभाजन का दावा करने का हकदार था या नहीं।"

नानकचन्द का हित सम्पत्ति में वह अंश समझा जाएगा जो उसे उस दशा में आबंटित किया होता। यदि सम्पत्ति का विभाजन उसकी मृत्यु के तुरन्त पूर्व किया गया होता, इस बात का विचार किये बिना कि वह विभाजन का दावा करने के लिए हकदार था अथवा नहीं। धारा 6 के स्पष्टीकरण-1 को दृष्टि में रखते हुए नानकचन्द ने अपने तीन पुत्रों और तीन पुत्रियों के बीच विभाजन

किये जाने पर 1/5 हित प्राप्त किया होता। यदि एक बार नानकचन्द का हित उसकी मृत्यु से पूर्व 1/5 अवधारित किया जाता है, तो उसका हित उसकी विधवा, उसके तीन पुत्रों और तीन पुत्रियों में समान रूप से न्यागत होगा और इस प्रकार उनमें प्रत्येक का अंश 1/5 × 1/7 अर्थात् 1/35 होगा। इन वारिसों को दावे से मात्र इसलिए वंचित नहीं किया जा सकता कि उनमें कतिपय ने दावे की मांग नहीं की है। जब वारिसों के बीच दावे के अवधारण का प्रश्न न्यायालय के समक्ष उत्पन्न होता है तो न्यायालय को यह देखना होता है कि प्रत्येक वारिस को उसका देय मिलता है। प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले श्री इत्रो रा अपीलार्थी की ओर से उठाए गए मुद्दे का सफलतापूर्वक उत्तर नहीं दे सके।

18. पूर्वगामी विचारविमर्श के आधार पर यह अपील अवश्य सफल होनी चाहिए और तदनुसार यह मंजूर की जाती है और उच्च न्यायालय का तथा अधीनस्थ न्यायालयों का निर्णय अपास्त किया जाता है तथा तीन पुत्रों, तीन पुत्रियों और विधवा के अंश निम्न प्रकार अवधारित किये जाते हैं—

3 पुत्र—प्रत्येक 1/35, 3 पुत्रियों—प्रत्येक 1/35 और विधवा 1/35 जमा 1/5।

चूंकि विधवा ने अपने पति की मृत्यु के पश्चात् उसका हित विरासत में प्राप्त किया है इसलिए उसका अंश 1/5 अवधारित किया जाता है। इसलिए उसका अंश 1/35 जमा 1/5 = 8/35 होगा।

19. इस मामले की परिस्थितियों में हम पक्षकारों को स्वयं अपने खर्चे वहन करने का निदेश देते हैं।

अपील मंजूर की गई।

प्र०/भू०

———

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

बनाम

देवजानी चक्रवर्ती और अन्य

और

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

बनाम

रणजीत सिंह नेगी और अन्य

(17 मई 1984)

(न्यायाधिपति ए० पी० सेन, ए० वरदराजन और बी० बालकृष्ण एराडी)

पंजाब यूनिवर्सिटी ऐक्ट, 1961 (1961 का 35)—धारा 20 (5)—सिंडीकेट द्वारा बनाये गए नियम का प्रभाव—पंजाब विश्वविद्यालय सिंडीकेट द्वारा नई शिक्षा पद्धति के अधीन 12वें स्तरमान की परीक्षा को पार्ट-I परीक्षा के समतुल्य माने जाने का विनिश्चय किया जाना—किन्तु बाद में, उस परीक्षा को प्री-यूनिवर्सिटी परीक्षा के समतुल्य मानते हुए पूर्वतर विनिश्चय में परिवर्तन किया जाना—यह आक्षेप कि पश्चात्कथित विनिश्चय भूतलक्षी प्रकृति का है, गलत है—वस्तुतः बाद वाले विनिश्चय भविष्यलक्षी प्रभाव के हैं।

पंजाब यूनीवर्सिटी ऐक्ट, 1961 (1961 का 35)—धारा 20 (5) और 31—नियम बनाने की शक्ति—विश्वविद्यालय के सिंडीकेट को धारा 20(5) के अधीन उसी प्रकार नियम बनाने की शक्ति प्राप्त है जैसे कि सीनेट को धारा 31 के अधीन प्राप्त है।

पंजाब विश्वविद्यालय के सिंडीकेट ने 10 फरवरी, 1977 को एक मई 10+2+3 शिक्षा-पद्धति के अधीन 12वें स्तरमान की परीक्षा को प्री-मेडीकल/प्री-इंजीनियरिंग/बी०ए० पार्ट-I बी०एस०सी० पार्ट-I बी कॉम पार्ट-I परीक्षा के समतुल्य समझे जाने का विनिश्चय किया और बाद में 4-6-1978 को विश्वविद्यालय ने 11वें स्तरमान की परीक्षा को विश्वविद्यालय

की प्री-यूनिवर्सिटी परीक्षा के समतुल्य मानने का विनिश्चय किया। किन्तु दूसरी ओर, कुलपति द्वारा गठित विशेषज्ञ समिति की सिफारिश पर विश्वविद्यालय के सिंडीकेट ने 18-4-1980 को यह विनिश्चय किया कि केन्द्रीय बोर्ड के विद्यालयों के 10+2+3 पद्धति में +2 पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष का ऐसा छात्र, जो प्रथम वर्ष के अन्त में सार्वजनिक परीक्षा नहीं देता है, उस छात्र के समतुल्य नहीं माना जाना चाहिए जिसने विश्वविद्यालय के प्री मेडीकल/प्री-इंजीनियरिंग/बी०ए०पार्ट-I/बी०एस०सी० पार्ट-I/बी० कॉम पार्ट-I में प्रवेश पाने के लिए पंजाब विश्वविद्यालय की प्री-यूनिवर्सिटी परीक्षा उत्तीर्ण की है, जबकि 7-5-1980 के विनिश्चय के अनुसार नई पद्धति में 12वें स्तरमान की परीक्षा को प्री-यूनिवर्सिटी परीक्षा के समतुल्य समझा गया था। ऐसे कतिपयों छात्रों ने, जिन्होंने 12 और 11 की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली थी, नए विनिश्चयों को चुनौती देते हुए रिट पिटीशन फाइल किए। उच्च न्यायालय ने रिट पिटीशन मंजूर कर लिए। किन्तु पंजाब विश्वविद्यालय ने उच्च न्यायालय के उस विनिश्चय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की। अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—प्रस्तुत मामले में भी नए विनिश्चय, प्रथमदृष्टया, भविष्यलक्षी प्रवर्तन वाले हैं और वे मात्र इसलिए भूतलक्षी प्रवर्तन वाले नहीं हो जाते, क्योंकि वे बाद में उन छात्रों को लागू किए गए थे जो शिक्षा सम्बन्धी अपना कैरियर प्रारम्भ कर चुके थे। इस विनिश्चय का उस अधिकार पर प्रभाव नहीं पड़ेगा जो उच्च न्यायालय के उन निर्णयों के आधार पर जिनको इन अपीलों में उलट दिया गया है, इन रिट पिटीशनों में के पिटीशनरों को अनुदत्त किया गया होता। (पैरा 7)

विश्वविद्यालय के सिंडीकेट को पंजाब विश्वविद्यालय अधिनियम 1961, (पंजाब यूनिवर्सिटी ऐक्ट) की धारा 20(5) के अधीन इसी रीति से नियम इत्यादि बनाने की शक्ति प्राप्त है, जैसी कि उस अधिनियम की धारा 31 के अधीन सीनेट को प्राप्त है। यह दलील अस्वीकार कर दी गई कि सिंडीकेट को वह शक्ति प्राप्त नहीं है जो सीनेट को अधिनियमकी धारा 31 के अधीन प्राप्त है और यह अभिनिर्धारित किया गया कि सिंडीकेट को अधिनियम की धारा 20(5) के अधीन वैसी ही शक्ति प्राप्त है। यह दलील भी अस्वीकार कर दी गई कि उस विषय की बाबत विश्वविद्यालय के विरुद्ध वचन-विबंध संबंधी कोई वर्जन है। (पैरा 5)

पैरा

अनुसरित निर्णय

[1984] [1984] उम० नि० प० = (1984) 3 एस० सी० सी० 603 :
पंजाब विश्वविद्यालय बनाम सुभाष चन्द्र. 6

उलट दिया गया निर्णय

[1976] (1976) पी० एल० आर० 920 :
पंजाब विश्वविद्यालय बनाम सुभाष चन्द्र 5,6

सिविल अपील अधिकारिता : 1980 की अपील संख्या 1381 और 1983 की सिविल अपील सं० 2667.

1980 के क्रमश: सिविल रिट पिटीशन सं० 1917 और 2349 में पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के क्रमश: तारीख 7 और 8 जुलाई, 1980 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाज़त लेकर की गई अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री जवाहर लाल गुप्त, जिनेन्द्र लाल और बी० आर० अग्रवाल

प्रत्यर्थी की ओर से श्री रणधीर जैन

यायालय का निर्णय न्यायाधिपति ए० वरदराजन ने दिया ।

न्यायाधिपति वरदराजन—

यह अपील पंजाब विश्वविद्यालय ने विशेष इजाज़त लेकर की है और वह 1980 के रिट पिटीशन 1917 और 1980 के रिट पिटीशन 2349 में पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के उन दो निर्णयों के विरुद्ध की गई है जिसमें खर्चे के बारे में कोई आदेश किए बिना उन रिट पिटीशनों को मंजूर कर लिया गया। 1980 का रिट पिटीशन 2349 18 जुलाई, 1980 को समावेदन के प्रक्रम में मंजूर किया गया, क्योंकि वह 1980 के रिट पिटीशन 1917 में दिये गये विनिश्चय के अन्तर्गत था जिसका निपटारा 7-7-1980 को किया गया। न्या० कुलवन्त सिंह तिवाना दोनों निर्णयों में न्या० रहे हैं और वे 1980 का रिट पिटीशन 1917 को सुनवाई के लिए न्यायाधीश हरबंस लाल के साथ और 1980 के रिट पिटीशन सं० 2349 की सुनवाई के लिए न्या० एम० एम० पुंछी के साथ उसमें शामिल थे । इन परिस्थितियों में एकमात्र 1980 के रिट पिटीशन 1917 से संबंधित तथ्यों का ही संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है ।

2. देश में कुछ वर्ष पहले 10+2+3 पद्धति के रूप में ज्ञात पद्धति शिक्षा संस्थाओं में प्रारम्भ की गई थी। भारतीय विश्वविद्यालय संगम ने पुरानी 11+3 वर्षीय डिग्री पाठ्यक्रम पद्धति के साथ जो कि कपितय राज्यों में प्रचलन में थी, 10+2+3 पद्धति की समतुल्यता के संबंध में विनिश्चय किया और यह सुझाव दिया कि उन सभी राज्यों में जहां शिक्षा पद्धति ऐसी है जिसमें प्रथम डिग्री के लिए 14 वर्ष अर्थात 11+3 वर्ष अपेक्षित है वहां केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड का नया प्लस 2 प्रक्रम तीन वर्षीय-डिग्री-पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष उत्तीर्ण करने के या दो वर्षीय डिग्री पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष में प्रवेश के समतुल्य समझा जाना चाहिए। भारतीय विश्वविद्यालय संगम ने यह सुझाव तारीख 14-4-1978 के पत्र द्वारा केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के अध्यक्ष को भेज दिया। अपीलार्थी, पंजाब विश्वविद्यालय, ने 10 फरवरी, 1977 को वह विनिश्चय किया कि नयी 10+2+3 पद्धति के अधीन बोर्डों विश्वविद्यालयों द्वारा संचालित 12वें स्तरमान की परीक्षा को विषयों के संयोजन के अनुसार प्री-मेडिकल/प्री-इंजीनियरिंग/बी० ए० पार्ट-1/बी० एस० सी० पार्ट-1/बी० काम० पार्ट-1 की परीक्षा के समतुल्य मान्यता प्रदान की जाए बाद में, 4 जून, 1978 को पंजाब विश्वविद्यालय ने नयी 10+2+3 पद्धति के 11वें स्तरमान को विश्वविद्यालय के प्री-यूनिवर्सिटी परीक्षा के समतुल्य मानने का विनिश्चय किया। तारीख 10-12-1977 और 4-6-1978 के उन विनिश्चयों की प्रतियां 1980 के रिट पिटीशन सं० 1917 में क्रमश: उपाबन्ध पी-2 और पी-3 थीं। उन दोनों परीक्षाओं की समतुल्यता की ये मान्यताएं वर्ष 1980 के प्रारम्भ होने तक बनी रहीं। किन्तु 18 अप्रैल, 1980 को पंजाब विश्वविद्यालय ने यह विनिश्चय किया कि केन्द्रीय बोर्ड के विद्यालयों की 10+2+3 पद्धति में प्लस 2 पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष के छात्र को जो प्रथम वर्ष के अन्त में कोई लोक परीक्षा नहीं है उस छात्र के समतुल्य नहीं समझा जाना चाहिए जिसने विश्वविद्यालय के प्री-मेडिकल/प्री-इंजीनियरिंग/बी० ए० पार्ट-1/बी० एस० सी० पार्ट 1/बी० काम० पार्ट-1 में प्रवेश के लिए पंजाब विश्वविद्यालय की प्री-यूनिवर्सिटी परीक्षा उत्तीर्ण की है। 7-5-1980 को पंजाब विश्वविद्यालय ने यह विनिश्चय किया कि किसी मान्यता प्राप्त बोर्ड परिषद/विश्वविद्यालय द्वारा संचालित नयी 10+2+3 पद्धति में 12वें स्तरमान की परीक्षा विश्वविद्यालय की प्री-यूनिवर्सिटी परीक्षा के समतुल्य समझी जायेगी। तारीख 18-4-1980 और 7-5-1980 के ये विनिश्चय 1980 के रिट पिटीशन 1917 में क्रमश: उपाबन्ध आर-2 और आर-3 हैं।

3. 1980 के रिट पिटीशन सं० 1917 में के पिटीशनर 1 से 37 ने

केन्द्रीय शिक्षा बोर्ड की 10+2+3 पद्धति में 12वें स्तरमान की परीक्षा उत्तीर्ण की थी और उसी रिट पिटीशन में के पिटीशनर 38 से 92 उसी पद्धति में 11वें स्तरमान से 12वें स्तरमान के लिए प्रोन्नत किये गये थे। इन 92 पिटीशरों ने तारीख 18-4-1980 और 7-5-1980 के पंजाब विश्वविद्यालय के इन विनिश्चयों (उपाबन्ध आर-2 और आर-3) को चुनौती देते हुए और यह दलील देते हुए 1980 का रिट पिटीशन 1917 फाइल किया कि विश्वविद्यालय के उन पूर्ववर्ती विनिश्चयों अर्थात् क्रमश: तारीख 10-12-1977 और 4-6-1978 के उपाबन्ध पी-2 और पी-3 को देखते हुए वे लगी समतुल्य कक्षा में संबद्ध महाविद्यालयों में तथा इंजीनियरिंग और मेडिकल कालेजों में भी प्रवेश पाने के उद्देश्य से +2 पाठ्यक्रम में की कक्षाओं में सम्मिलित प्रवेश लिए हुए थे और यह कि इसलिए विश्वविद्यालय पश्चातवर्ती विनिश्चयों (उपाबन्ध आर० 2 और आर० 3) द्वारा जो उनके लिए अपायकर हैं, उन विनिश्चयों को परिवर्तित नहीं कर सकता। उन्होंने उन दोनों विनिश्चयों पर के उस आधार के संबंध में वचन विबंध के सिद्धान्त का अवलम्ब लिया। 1980 के रिट पिटीशन 1917 में पिटीशनरों द्वारा किया गया आक्षेप का दूसरा आधार यह था कि विनिश्चय (उपाबन्ध आर० 2 और आर० 3) भूतलक्षी प्रवर्तन वाले हैं और उनके द्वारा उनके निहित अधिकार छीन लिए गए हैं और यह कि विश्वविद्यालय को या तो पंजाब विश्वविद्यालय अधिनियम (पंजाब यूनिवर्सिटी ऐक्ट) के अधीन या किसी परिनियम या विनियम या नियम के अधीन ऐसा कोई विनियम, नियम बनाने या अध्यादेश निकालने की कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है जो भूतलक्षी रूप से उनके निहित अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

4. अपीलार्थी-विश्वविद्यालय का प्रतिरक्षा-पक्ष यह था कि शिक्षा के हित में पूर्वतर विनिश्चय (उपाबन्ध पी० 2 और पी० 3) के स्थान पर विनिश्चय (उपाबन्ध आर० 2 और आर० 3) इस आधार पर किया गया था कि नयी 10+2+3 पद्धति में 11वें स्तरमान की परीक्षा लोक परीक्षा नहीं थी और उन विद्यालयों में, शिक्षा का स्तरमान, जहां वह पद्धति प्रचलन में थी, निम्न स्तर की थी और परीक्षा में अंक देने की पद्धति भी अकठोर थी। विश्वविद्यालय ने यह भी दलील दी कि विद्यालयों और महाविद्यालयों में समकक्ष परीक्षा में पाठ्यक्रम भी एक से नहीं थे। विश्वविद्यालय ने यह कथन किया कि विशेषज्ञों की समिति ने, जिसका गठन विश्वविद्यालय के कुलपति ने उस समय किया जब इंजीनियरिंग महाविद्यालयों के छात्रों ने आन्दोलन किया था, उस प्रश्न पर विचार किया और विद्यालयों में कुछ विषयों में किए

गए अध्यापन में कमी और पाठ्यक्रम में के अन्तर को देखते हुए, समतुल्यता की बाबत परिवर्तन का सुझाव देते हुए रिपोर्ट पेश की। इसलिए विश्वविद्यालय ने यह दलील दी कि नए विनिश्चय (उपाबन्ध आर० 2 और आर० 3) सद्भावपूर्वक किए गए थे और वे मात्र भविष्यलक्षी प्रवर्तन वाले हैं और यह कि रिट पटीशनों में पिटीशनरों ने वचन-विबंध के सिद्धान्त के बारे में जो अभिवचन किया है, वह विश्वविद्यालय को लागू नहीं होता।

5. वे विनिश्चय (उपाबंध पी-2, पी-3, आर-2 और आर-3) सिंडीकेट के हैं जिसे पंजाब विश्वविद्यालय अधिनियम (पंजाब यूनिवर्सिटी ऐक्ट) की धारा 20(5) के अधीन उसी रीति से नियम इत्यादि बनाने की शक्ति प्राप्त है, जैसी कि उस अधिनियम की धारा 31 के अधीन सीनेट को प्राप्त है। खण्ड न्यायपीठ के विद्वान न्यायाधीशों ने अपने समक्ष पेश की गई पिटीशनरों की यह दलील अस्वीकार कर दी कि सिन्डीकेट को वह शक्ति प्राप्त नहीं है जो सीनेट को अधिनियम की धारा 31 के अधीन प्राप्त है और यह अभिनिर्धारित किया कि सिन्डीकेट को अधिनियम की धारा 20(5) के अधीन वैसी ही शक्ति प्राप्त है। उन्होंने आगे दी गई यह दलील अस्वीकार कर दी कि उस विषय की बाबत विश्वविद्यालय के विरुद्ध वचन-विबंध संबंधी कोई वर्जन है, तथापि, यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यर्थी 1 से 37 1978 में पंजाब विश्वविद्यालय की क्षेत्रीय अधिकारिता के भीतर आने वाले केन्द्रीय विद्यालयों में 10+2 पाठ्यक्रम में सम्मलित हुए और 12वें स्तरमान की परीक्षा उत्तीर्ण की और +2 पद्धति में 12वें स्तरमान की पारित उत्तीर्ण करने के पश्चात् 3 वर्षीय-डिग्री पाठ्यक्रम के द्वितीय वर्ष में और अन्य पाठ्यक्रमों में पंजाब विश्वविद्यालय से सम्बद्ध महाविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए अपनी शिक्षा की योजना विशिष्ट रीति से बनाई थी। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि 1980 के रिट पिटीशन सं० 1917 में के पिटीशनरों सं० 38 से 92 के जिन्हें +2-पद्धति में11वें से 12वें स्तर मन में प्रोन्नत किया गया था, वैसा ही है। उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया कि उपाबंध आर-3 पिटीशनर सं० 1 से 37 को और उपाबन्ध आर-2 पिटीशनर 38 से 92 को 10+2 पद्धति में 12वें स्तरमान को उत्तीर्ण करने के पश्चात् इंजीनियरिंग और मेडिकल कालेजों में प्रवेश प्राप्त करने की ईप्सा करने के अधिकार से वंचित करेगा तथा उपाबन्ध आर० 2 और आर० 3 वह अधिकार छीन लेगा, और वे भूतलक्षी प्रकृति के हैं। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए खण्ड न्यायपीठ के विद्वान् न्यायाधीशों ने **पंजाब विश्वविद्यालय** बनाम **सुभाष चन्द्र** वाले

मामले[1] में पंजाब हरियाणा उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय का बहुत जोर देकर अवलम्ब लिया। तदनुसार विद्वान् न्यायाधीशों ने मात्र इस आधार पर, अर्थात् यह कि उपाबन्ध आर०2 और आर०3 भूतलक्षी प्रवर्तन वाले होने के कारण अवैध हैं, खर्चे के बारे में कोई आदेश दिये बिना 1980 का रिट पिटीशन 1917 मंजूर कर लिया और यह अभिनिर्धारित किया कि उपाबन्ध आर० 3 और आर० 2 पुराने विनिश्चयों (उपाबन्ध पी० 2 और पी० 3) के आधार पर उच्च कक्षाओं में या इंजीनियरिंग और मेडिकल कालेजों में प्रवेश प्राप्त करने की ईप्सा करने से उनके समक्ष वाले पिटीशनरों क्रमश: 1 से 37 और 38 से 92 के मार्ग में बाधक नहीं होंगे। अन्य खण्ड न्यायपीठ ने जिसने 1980 के रिट पिटीशन 2349 की सुनवाई की, खर्चे के बारे में कोई आदेश किये बिना वह पिटीशन मंजूर कर लिया क्योंकि वह 1980 के रिट पिटीशन 1917 में किए गए विनिश्चय के अन्तर्गत आता है।

6. हमारी राय यह है कि इन अपीलों को मंजूर करना ही पड़ेगा। उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीशों ने मात्र इस आधार पर रिट पिटीशनों को मंजूर किया था कि नए विनिश्चय (उपाबन्ध आर० 2 और आर० 3) भूतलक्षी प्रवर्तन वाले हैं और यह कि वे पूर्ववर्ती विनिश्चय (उपाबन्ध पी० 2 और पी०3) के आधार पर **पंजाब विश्वविद्यालय बनाम सुभाष चन्द्र**[1] वाले मामले में मुख्यत: पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय का अवलम्ब लेते हुए उच्च कक्षाओं या इंजीनियरिंग या मेडिकल कालेजों में प्रवेश प्राप्त करने की ईप्सा करने से उनके समक्ष वाले उनरिट पिटीशनरों पर प्रभाव नहीं डाल सकते। हमने 1977 के सि० अ० सं० 2828 में आज दिए गए पृथक् अपने **निर्णय**[2] में, जो कि उसी पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय से उद्भूत हुआ है, वह विनिश्चय उलट दिया है और यह अभिनिर्धारित किया है, कि उस आदेश में जिसे उस मामले में चुनौती दी गई है, कोई भी बात भूतलक्षी नहीं है। उस मामले में सुभाष चन्द्र को 1965 में दयानन्द मेडिकल कालेज, लुधियाना में एकीकृत एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश दिया गया था। अपने प्रवेश के समय नियम 7.1 के साथ पठित विनियम 25 के अधीन ऐसा छात्र जो एक विषय/प्रश्नपत्र में असफल हो जाता है, उन सभी विषयों के जिनके लिए उसने परीक्षा दी है, कुल

---

[1] 1976 पी० एल० आर० 920.

[2] [1984] 3 एस० सी० सी० 603

संकलित अंकों का 1 प्रतिशत अनुग्रहअंक प्राप्त करने का हकदार था किन्तु 1970 में उस नियम में संशोधन कर दिया गया जो इस आशय का था कि अनुग्रहअंक परीक्षा के किसी विशिष्ट विषय के लिए जिसमे वह असफल हुआ है, कुल संकलित अंकों का एक प्रतिशत होगा। सुभाष चन्द्र 1974 में वार्षिक एम० बी० बी० एस० की अन्तिम परीक्षा में शामिल हुआ और धात्री-विद्या की, जो कि उन चार विषयों में से, जिनके लिए वह उस समय (परीक्षा) में शामिल हुआ था, एक था, यौगिक परीक्षा में 200 अंकों में से 106 अंक प्राप्त किए और सिद्धांत सम्बन्धी परीक्षा में 200 अंकों में से 95 अंक प्राप्त किए। वह अन्य तीन विषयों में हुई परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ था जिनके लिए अंकों का कुल योग 1200 था। पुराने नियम के अधीन वह सभी चार विषयों के कुल योग अर्थात् 1600 अंकों के एक प्रतिशत से 16 अनुग्रहअंक प्राप्त करने का हकदार होता। किन्तु उसे नए नियम के अधीन केवल चार अनुग्रह-अंक अनुज्ञात किए गए जो कि उस विषय के लिए जिसमें वह असफल हो गया था, अर्थात् धात्री-विद्या के कुल योग का एक प्रतिशत होता है। उच्च न्यायालय ने उसकी यह दलील स्वीकार कर ली कि 1970 में बनाए गए नियम का संशोधन भूतलक्षी प्रवर्तन वाला था, यद्यपि उसे केवल सुभाष चन्द्र की बाबत 1974 में मात्र इसलिए लागू किया गया था क्योंकि वह 1965 में एकीकृत पाठ्यक्रम में उस समय सम्मिलित हुआ था, जब अनुग्रहअंक प्रदान करने से संबंधित नियम अधिक उदार थे। पूर्ण न्यायपीठ के निर्णय के विरुद्ध अपील मंजूर करते हुए, हमने यह अभिनिर्धारित किया है कि नियम के भूतलक्षी प्रवर्तन वाला होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है क्योंकि यह 1970 में विरचित किया गया था और इसमें यह नहीं उपबन्ध किया गया है कि यह किसी पूर्वतर तारीख से प्रवर्तन में था और यह केवल सुभाष चन्द्र की बाबत 1974 में लागू किया गया था। उसकी बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वह मात्र इसलिए भूतलक्षी प्रवर्तन वाला है क्योंकि यह सुभाष चन्द्र की बाबत लागू किया था जो 1970 में संशोधन किए जाने के पूर्व 1965 में उस पाठ्यक्रम में सम्मिलित हुआ था।

7. प्रस्तुत मामले में भी नए विनिश्चय, प्रथम दृष्ट्या, भविष्यलक्षी प्रवर्तन वाले हैं और वे मात्र इसलिए भूतलक्षी प्रवर्तन वाले नहीं हो जाते, क्योंकि वे बाद में उन छात्रों को लागू किए गए थे जो शिक्षा सम्बन्धी अपना कैरियर प्रारम्भ कर चुके थे। इसलिए हम इन अपीलों को मंजूर करते हैं किन्तु खर्चे के बारे में कोई भी आदेश नहीं देते हैं, और उच्च न्यायालय के निर्णयों को अपास्त करते हैं और रिट पिटीशन खारिज करते हैं। तथापि,

इस विनिश्चय का उस अधिकार पर प्रभाव नहीं पड़ेगा जो उच्च न्यायालय के उन निर्णयों के आधार पर जिनको इन अपीलों में उलट दिया गया है, इन रिट पिटीशनों में के पिटीशनरों को अनुदत्त किया गया होता ।

अपीलें मंजूर की गईं ।

प्र०/श्री०

पंजाब विश्वविद्यालय

बनाम

सुभाष चन्द्र और एक अन्य

(17 मई, 1984)

(न्यायाधिपति ए० पी० सेन, ए० वरदराजन और बी० बालकृष्ण एराडी)

पंजाब यूनिवर्सिटी ऐक्ट, 1961 (1961 का 35)—धारा 31 (2)(ढ)—विश्वविद्यालय की परीक्षा में बैठने वाले परीक्षार्थी को अंकों का कुछ प्रतिशत अनुग्रह अंकों के रूप में देने से सम्बन्धित विनियम का होना—1965 में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में किसी छात्र का प्रवेश लेना और 1974 की परीक्षा में उसका बैठना—किन्तु, 1970 में विनियम में संशोधन करके अनुग्रह अंकों के रूप में दिए जाने वाले अंकों के प्रतिशत में कमी कर दी जानी—ऐसे संशोधन के बारे में यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि वह भूतलक्षी प्रभाव का है—अतः वह संशोधन अविधिमान्य नहीं है।

वर्तमान मामले में प्रत्यर्थी सं० 1 को 1965 में पंजाब विश्वविद्यालय में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश मिला था। पंजाब विश्वविद्यालय में उस समय प्रवृत्त विनियम 25 के अनुसार प्रत्येक विषय में उत्तीर्ण होने के लिए 50 प्रतिशत अंक अपेक्षित थे। इसके बावजूद एक या अधिक प्रश्नपत्र या विषय में अनुत्तीर्ण परीक्षार्थी को परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए कुल संकलित अंकों का 4 प्रतिशत अनुग्रहांक के रूप में दिया जा सकता था। प्रत्यर्थी सं० 1 वर्ष 1974 में उक्त परीक्षा में बैठा। उसके पूर्व, 1970 में नियमों में परिवर्तन कर दिए गए और तदनुसार नियम 2.1 में एक अपवाद जोड़ दिया गया। उसके अनुसार प्रत्येक विषय के संकलित अंकों के 1 प्रतिशत अंक ही अनुग्रहांक के रूप में दिए जा सकते थे। प्रत्यर्थी सं० 1, चार में से तीन विषयों में उत्तीर्ण हो गया किन्तु प्रसूति-विज्ञान में उसे अनुग्रहांक के रूप में 4 अंक देने पर भी वह अपेक्षित 50 प्रतिशत अंक न प्राप्त कर सका और अनुत्तीर्ण हो गया। अनुग्रहांक देने के लिए 1970 में संशोधित नियम लागू किया गया, जबकि प्रत्यर्थी सं० 1 के पाठ्यक्रम में सम्मलित होने के समय 1965 में नियम भिन्न थे। इस मामले में

उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि 1970 में नियमों में किए गए संशोधन का प्रभाव भूतलक्षी था और उससे प्रत्यर्थी की परीक्षा की शर्तें भूतलक्षी प्रभाव से परिवर्तित हो गयीं और वह नियम 7.1 के साथ पठित विनियम 25 द्वारा नियंत्रित होता है। परिणामस्वरूप उच्च न्यायालय ने प्रत्यर्थी का परीक्षाफल पुराने नियम 7.1 के अनुसार अनुग्रहांक देकर पुनः घोषित करने का निदेश किया। विश्वविद्यालय ने उच्च न्यायालय के उसी निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायलय में अपील की। अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित— जब प्रत्यर्थी सं० 1 ने 1965 में एम० बी० बी० एस० के पाठ्यक्रम में प्रवेश लिया था, उस समय नियम 7.1 में, जैसा कि वह उस समय था और जिसे ऊपर उद्धृत किया गया है, यह उपबन्ध किया गया था कि जो परीक्षार्थी एक या अधिक प्रश्नपत्रों/विषयों या उनके योग में अनुत्तीर्ण होगा, उसे व्यावहारिक और आन्तरिक निर्धारण के लिए, अपवर्जित करते हुए परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ घोषित करने के लिए उसके सर्वोत्तम हित में उसके कुल संकलित अंकों का एक प्रतिशत अनुग्रहांक के रूप में दिया जा सकेगा। प्रत्यर्थी सं० 1 को जो केवल 9 वर्ष पूर्व 1974 में एम० बी० बी० एस० की अन्तिम परीक्षा में बैठा था, 4 विषयों अर्थात् औषधविज्ञान, शल्यचिकित्सा विज्ञान, आंख-कान, नाक-दंत चिकित्सा विज्ञान तथा प्रसूति विज्ञान में उत्तीर्ण होना था, जिसमें से प्रत्येक के लिए संकलित अंक 400 थे। उसे चिकित्सा-विज्ञान, शल्यचिकित्सा विज्ञान और आंख-कान-नाक और दंत चिकित्सा विज्ञान में क्रमशः 202, 225, 204 अंक प्राप्त हुए और उन विषयों में उसे परीक्षा में उत्तीर्ण घोषित किया गया। प्रसूति-विज्ञान में दो भाग होते हैं अर्थात् सिद्धांत और व्यावहारिक जिसमें प्रत्येक के संकलित अंक 200 थे। प्रत्यर्थी सं० 1 को व्यावहारिक परीक्षा में 200 अंकों में से 106 अंक प्राप्त हुए और सैद्धांतिक परीक्षा में 200 अंकों में से 95 अंक ही प्राप्त हुए। चूंकि समस्त 4 विषयों के जिनके लिए 1974 में वह परीक्षा में बैठा था, अंकों का कुल योग 1600 था, इसलिए नियम 7.1 जैसा कि वह 1965 में पाठ्यक्रम में उसके प्रवेश लेने के समय था, के साथ पठित पुराने विनियम 25 के अधीन वह अनुग्रहांक के रूप में 16 अंक प्राप्त करने का हकदार होता और उसे परीक्षा में उत्तीर्ण घोषित कर दिया गया होता, क्योंकि उसके द्वारा प्रसूति-विज्ञान की व्यावहारिक परीक्षा में प्राप्त 95 अंकों में अनुग्रहांक के रूप में दिए जाने वाले अतिरिक्त 16 अंकों को जोड़ देने से न्यूनतम 50 प्रतिशत अंकों की अपेक्षा पूरी हो गई होती। किन्तु 1974 में उसके एम० बी० बी० एस० की अंतिम

परीक्षा में बैठने से बहुत पहले, एम० बी० बी० एस० और बी० डी० एस० के छात्रों को दिए जाने वाले अनुग्रहांक से संबंधित यथापूर्व उल्लिखित नियम 2.1 में एक अपवाद जोड़कर उसे 1970 में विश्वविद्यालय की सीनेट द्वारा परिवर्तित कर दिया गया। यह दलील नहीं दी गई है कि यह परिवर्तन करने के लिए सरकार की मंजूरी प्राप्त नहीं की गई थी। अपवाद में यह कहा गया है कि एम० बी० बी० एस० और बी० डी० एस० की परीक्षाओं के मामले में प्रत्येक विषय के कुल अंकों का एक प्रतिशत अनुग्रहांक के रूप में दिया जाएगा, न कि समस्त विषयों के संकलित अंकों का एक प्रतिशत अन्य शब्दों में इस प्रयोजन के लिए प्रत्येक विषय एक पृथक एकक होगा और ऐसा किसी परीक्षार्थी को जो किसी विषय में एक प्रतिशत से अनधिक अंकों से अनुत्तीर्ण होता है, उस विषय में उत्तीर्ण होने के लिए अपेक्षित अंक दिए जा सकेंगे। 1970 में यथा-संशोधित इस नियम के अधीन, प्रत्यर्थी सं० 1, केवल प्रसूति विज्ञान विषय के लिए 400 अंकों के योग का एक प्रतिशत अंक अर्थात् कुल 4 अंक प्राप्त करने का हकदार था। चूंकि प्रसूति-विज्ञान की व्यावहारिक परीक्षा में, जिसके लिए योग उस विषय के लिए रखे गए 400 अंकों के कुल योग में से 200 अंक था, उसके द्वारा वस्तुतः प्राप्त 95 अंकों में अनुग्रहांक के रूप में प्राप्त 4 अंक जोड़ने से 200 अंकों में से केवल 99 अंक होते हैं, इसलिए वह 50 प्रतिशत अंक से कम था और उसे प्रसूति विज्ञान में अनुत्तीर्ण घोषित किया गया और उस विषय में पुनः परीक्षा देने के लिए कहा गया। (पैरा 9)

प्रत्येक विषय में उत्तीर्ण होने के लिए न्यूनतम विहित अंक 50 प्रतिशत हैं। पुराने नियम के अधीन, जैसा कि वह 1970 से पूर्व था, प्रत्यर्थी सं० 1 अनुग्रहांक के रूप में 16 अंक प्राप्त करके उत्तीर्ण हो सकता था, जोकि समस्त 4 विषयों अर्थात् औषध-विज्ञान, शल्य-चिकित्सा विज्ञान, आंख-कान, नाक-दन्त, चिकित्सा विज्ञान तथा प्रसूति-विज्ञान में प्राप्त अंकों के योग का 1 प्रतिशत है, भले ही उसने प्रसूति-विज्ञान की व्यावहारिक परीक्षा में 200 अंकों में से 84 अंक ही क्यों न प्राप्त किए होते, जोकि कुल 42 प्रतिशत होता है, और उसने अन्य विषयों/प्रश्नपत्रों में 50 प्रतिशत से अधिक अंक प्राप्त किए थे। जहां तक एम० बी० बी० एस० और बी० डी० एस० परीक्षाओं का सम्बन्ध था, सीनेट ने 1970 के नियम 2.1 में एक अपवाद जोड़कर इस स्पष्ट त्रुटि को सुधारना ठीक समझा जिसके अधीन उस विषय विशेष में संकलित अंकों का एक प्रतिशत अनुग्रहांक के रूप में होगा। वस्तुतः इस परिवर्तन को प्रभावी करने के लिए सीनेट के पास आवश्यक शक्ति थी और उसने परिवर्तन करके अयुक्तियुक्त कार्य नहीं किया है। सीनेट को अधिनियम

की धारा 31(1)(ण) के अधीन समय-समय पर परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए अपेक्षित अंकों का प्रतिशत नियत करने और अनुग्रहांक देने या देने से इंकार करने अथवा अनुग्रहांक में वृद्धि करने या उसे कम करने की आवश्यक शक्ति प्राप्त थी। यह परिवर्तन करके सीनेट ने कोई असद्भावपूर्ण कार्य नहीं किया है। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्यर्थी को जो 1974 में अंतिम परीक्षा में बैठा था, अनुग्रहांक से संबंधित नियमों में 1970 में किए गए परिवर्तन की पर्याप्त जानकारी नहीं थी अथवा यह कि परिवर्तन से उस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। (पैरा 10)

नियम 2.1 में जोड़े गए अपवाद द्वारा किए गए परिवर्तन में यह नहीं कहा गया है कि वह किसी पूर्वत्तर तारीख से प्रभावी होगा। प्रकटतः यह भविष्यलक्षी है। यह अभिनिर्धारित करना संभव नहीं है कि यह मात्र इसलिए भूतलक्षी रूप से प्रवृत्त है, क्योंकि यद्यपि इसे 1970 में पुरः स्थापित किया गया था, फिर भी इसे प्रत्यर्थी सं० 1 को लागू किया गया, जो पाठ्यक्रम में पहले 1965 में अपना प्रवेश लेने के बाद अंतिम परीक्षा के लिये 1974 में बैठा था। 1965 में उसके प्रवेश लेने के समय उसे ऐसा कोई वचन नहीं दिया गया था या दिया गया नहीं समझा जा सकता कि किसी परीक्षा को उत्तीर्ण करने के लिये अपेक्षित अंकों के प्रतिशत की बाबत या अनुग्रहांक दिए जाने की बाबत नियम या विनियम में कोई परिवर्तन नहीं किया जाएगा और यह कि उससे सम्बन्धित वे नियम जो प्रवेश के समय प्रवृत्त थे, उसको तब तक लागू बने रहेंगे, जब तक वह अपना सम्पूर्ण पाठ्यक्रम पूरा नहीं कर लेता। (पैरा 11)

इसलिए, वर्ष 1970 में बनाए गए भूतलक्षी प्रभाव वाले नियमों में मात्र इसलिए परिवर्तन करने का कोई प्रश्न नहीं है कि वह प्रत्यर्थी को 1974 में लागू किया गया था जो एम० बी० बी० एस० के पाठ्यक्रम में 1965 में तब सम्मिलित हुआ था, जबकि अनुग्रहांक दिए जाने की बाबत भिन्न नियम थे। इन परिस्थितियों में, उच्चतम न्यायालय ने खंड न्यायपीठ द्वारा व्यक्त मत की अभिपुष्टि करते हुए उस मामले के अपीलाधीन विनिश्चय में पूर्ण न्यायपीठ द्वारा व्यक्त मत को अननुमोदित कर दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि विश्वविद्यालय का यह कहना ठीक था कि प्रत्यर्थी सं० 1 पुराने नियमों के अधीन अनुग्रहांक के रूप में 16 अंक प्राप्त करने का हकदार नहीं था, बल्कि नए नियमों के अधीन अनुग्रहांक के रूप में 4 अंक प्राप्त करने का ही हकदार था और इसलिए वह प्रसूति-विज्ञान की परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हुआ था। (पैरा 12)

अनुसरित निर्णय

पैरा

[1965] [1965] 1 एस० सी० आर० 297 :
बी० एन० मिश्र बनाम उ० प्र० राज्य. 11

अनुमोदित निर्णय

[1968] तारीख 17 जुलाई, 1968 को विनिश्चित 1967 :
की लेटर्स पेटेंट अपील सं० 697
सेवा राम बनाम कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय. 7,12

निर्दिष्ट निर्णय

[1972] [1972] 3 उम० नि० प० 753=1972 ए० आई०
आर० एस० सी० 2427 :
हुकुम चन्द्र बनाम भारत संघ. 6

सिविल अपीली अधिकारिता : 1977 की सिविल अपील सं० 2828 (एन० सी० एम०).

(1975 की लेटर्स पेटेंट अपील सं० 352 में पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के 7 सितम्बर, 1976 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाज़त लेकर की गयी अपील)

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री जवाहर लाल गुप्ता, जानेन्द्र लाल और बी० आर० अग्रवाल

प्रत्यर्थी की ओर से श्री रणधीर जैन

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति ए० वरदराजन् ने दिया।

न्या० वरदराजन्—

पंजाब विश्वविद्यालय ने यह अपील 1975 की लेटर्स पेटेंट अपील सं० 352 में पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के उस निर्णय के विरुद्ध विशेष इजाज़त लेकर की है, जिसके द्वारा उसने 1975 के रिट पिटीशन सं० 1017 में विद्वान् एकल न्यायाधीश के निर्णय को पुष्ट कर दिया था।

2. सुभाष चन्द्र ने जो कि इस अपील में प्रत्यर्थी सं० 1 है, 1965 में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम के लिए दयानन्द चिकित्सा महाविद्यालय, लुधियाना, में उस समय प्रवेश लिया, जब पंजाब विश्वविद्यालय का विनियम 25 प्रवृत्त था। उस विनियम के अधीन प्रत्येक विषय में उत्तीर्ण होने के लिए न्यूनतम 50 प्रतिशत अंक प्राप्त करना अपेक्षित था। तथापि, एम० बी० बी० एस० और कतिपय अन्य पाठ्यक्रमों से सम्बन्धित नियम 7.1 में यह उपबन्ध किया गया था कि—

> *"किसी ऐसे परीक्षार्थी को जो एक या अधिक प्रश्नपत्रों/विषयों में और/या कुल अंकों को मिलाकर अनुत्तीर्ण रहता है, परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ घोषित किये जाने की दृष्टि से उसके सर्वोत्तम लाभ के लिए उसके कुल संवलित अंकों (जिनके अन्तंगत प्रायोगिक और आन्तरिक निर्धारण के अंक भी हैं) के 1 प्रतिशत अंक तक अनुग्रहांक के रूप में दिए जा सकते हैं।"

किन्तु मई, 1970 में विश्वविद्यालय ने नियम 2.1 में अपवाद के रूप में संशोधन कर दिया जो नियम 7.1 का तत्स्थानी था, जो कि 1965 में प्रवृत्त था और वह निम्नलिखित रूप में है—

> "**2. 1—ऐसा परीक्षार्थी जो परीक्षा के समस्त विषयों में परीक्षा देता है और जो एक या अधिक विषयों में लिखित, प्रायोगिक सत्रीय या मौखिक परीक्षा और या कुल अंकों को मिलाकर (यदि कुल अंकों को मिलाकर उत्तीर्ण होना पृथक् रूप से अपेक्षित हो) तो

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

> "a candidate who fails in one or more papers subjects and/or aggregate may be given grace marks upto 1 per cent of the total aggreg ate marks (including marks for practical and internal assessment) to his best advantage in order to be declare to have passed the examination."

> "**2.1—A candidate who appears in all subjects of the examination and who fails in one or more subjects Written, practical, sessional or viva voce and/or aggregate (if there is a separate requirement of passing

उसे कमी पूरी करने के लिए आन्तरिक मूल्यांकन में प्राप्त अंकों को अपवर्जित करके कुल अंकों के योग के 10 प्रतिशत तक अंक अनुग्रहांक के रूप में उस दशा में दिए जाएंगे, यदि ऐसी वृद्धि से परीक्षार्थी परीक्षा उत्तीर्ण कर सकता है। अनुग्रहांक देते समय एक अंक के 1/2 या उस से अधिक भाग को पूर्णांकित कर दिया जायेगा।

अपवाद—तथापि एम० बी० बी०एस० और बी० डी० एस० परीक्षाओं की दशा में अनुग्रहांक प्रत्येक विषय के कुल अंकों के एक प्रतिशत तक दिए जाएंगे, न कि समस्त विषयों के अंकों के योग के एक प्रतिशत तक। दूसरे शब्दों में, इस प्रयोजन के लिए प्रत्येक विषय पृथक एकक होगा और ऐसे परीक्षार्थी को जो किसी विषय में उस विषय के अंकों के योग के एक प्रतिशत से अनधिक अंकों से अनुत्तीर्ण रहता है, उस विषय में उत्तीर्ण किए जाने के लिए अपेक्षित अंक दे दिए जाएंगे।"

3. प्रत्यर्थी सं० 1 सुभाष चन्द वर्ष 1974 की एम० बी० बी० एस० परीक्षा में बैठा और उसे निम्नलिखित अंक प्राप्त हुए:—

आयुर्विज्ञान	400 में से 202
शल्य-चिकित्सा	400 में से 225

---

in the aggregate) shall be given grace marks upto 1% of the total aggregate marks (excluding marks for internal assessment) to make up for the deficiency if by such addition the candidate can pass the examination. While awarding grace marks fraction working to 1/2 or more will be rounded to a whole.

Exception—In the case of M. B. B. S. and B. D. S. examinations, however, the grace marks shall be given up to one per cent of total of each subject and not upto one per cent of aggregate of all the subjects. In other words, each subject will be, for this purpose, a separate unit, and a candidate who fails in a subject by not more than one per cent of the aggregate marks of that subject may be given the required number of marks in order to pass in that subject."

आंख, नाक, गला, कान, दन्त 400 में से 204
चिकित्सा

प्रसूति-विज्ञान 1. सिद्धांत—200 में से 95) पुन:
2. प्रायोगिक—200 में से 106) परीक्षा

4. नियम 7.1 के साथ पठित विनियम 25 के अनुसार जोकि 1965 में सुभाष चन्द्र के पाठ्यक्रम में प्रवेश लेने के समय प्रवृत्त था, वह उपर्युक्त सभी चारों विषयों के अंकों के योग अर्थात् 1600 का एक प्रतिशत अंक अर्थात् 16 अंक अनुग्रहांक के रूप में प्राप्त करने का पात्र था और तब वह प्रसूति-विज्ञान में भी उत्तीर्ण हो जाता। किन्तु उसे पंजाब विश्वविद्यालय वर्ष 1974 के नियम 201 के साथ पठित संशोधित विनियम 25 के अनुसार प्रसूति विज्ञान के कुल 400 अंकों का एक प्रतिशत अर्थात् 4 अंक ही अनुग्रहांक के रूप में दिया गया और उसे प्रसूति-विज्ञान में अनुत्तीर्ण ठहराया गया, क्योंकि उसे 95 अंकों जो वस्तुत: उसने प्राप्त किये थे, और उस विषय में के सिद्धांत में अनुग्रहांक के रूप में उसे दिए गए 4 अंकों का जोड़ 50 प्रतिशत से एक प्रतिशत कम रह गया। उसकी दलील यह है कि पुराने नियम 7.1 के साथ पठित पुराना विनियम 25 जो 1965 में पाठ्यक्रम में उसके प्रवेश लेने के समय प्रवृत्त था, उसे लागू किया जाना चाहिए और उसके बारे में यह घोषित किया जाना चाहिए कि वह प्रसूति विज्ञान सहित अन्तिम परीक्षा में पूर्ण रूप से उत्तीर्ण हो चुका है।

5. उच्च न्यायालय के समक्ष पंजाब विश्वविद्यालय की ओर से यह दलील दी गयी कि संशोधन के पश्चात् परीक्षा में बैठने वाले छात्रों को संशोधित विनियम और नियम लागू करने में भूतलक्षिता का तत्व नहीं है और यह कि छात्र सम्बद्ध परीक्षा प्रारम्भ होने के समय प्रवृत्त विनियम के अनुसार अंक प्राप्त करने के लिए आबद्ध थे और उन्हें ऐसे किसी विनियम या नियम का जो उस समय प्रवृत्त था, जब उसे पाठ्यक्रम में प्रवेश दिया गया था, फायदा प्राप्त करने का दावा करने का निहित अधिकार प्राप्त नहीं है।

6. मुख्य न्यायमूर्ति एस० एस० संधानवालिया ने जो उस लैटर्स पेटेंट अपील में जिससे हमारे समक्ष यह अपील उद्भूत हुई है, पूर्ण न्यायपीठ की ओर से निर्णय दिया, पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के कतिपय विनिश्चयों का उल्लेख किया और यह मत व्यक्त किया कि विवाद्य प्रश्न के विनिश्चय के लिए उनमें कोई स्पष्ट मार्गदर्शन नहीं अधिकथित किया गया

है, अर्थात् क्या विश्वविद्यालय किसी छात्र को दिए जाने वाले अनुग्रहांक के प्रतिशत और उसे प्रदान करने के आधार से संबंधित विनियम को परिवर्तित करने का हकदार है, अर्थात् यह कि क्या यह उन समस्त विषयों के अंकों के योग के आधार पर दिया जाएगा जिनमें छात्र सम्बद्ध परीक्षा में बैठे थे या उस विषय के अंकों के योग के आधार पर दिया जाएगा जिसमें उस परीक्षा में वे अनुत्तीर्ण रहे हैं। विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति ने इस न्यायालय के **हुकम चन्द्र बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में व्यक्त निम्नलिखित मत का उल्लेख किया—

> "इसके पीछे सिद्धांत यह है कि प्रभुतासम्पन्न (सावेरन) विधानमण्डल की बात और है जिसमें विधियों को भूतलक्षी प्रवर्तन के साथ अधिनियमित करने की शक्ति है उस प्राधिकारी को तो, जिसमें अधीनस्थ विधान (सबार्डिनेट लेजिसलेशन) बनाने की शक्ति निहित है, अपनी शक्ति की सीमाओं के अन्दर ही रहते हुए काम करना पड़ता है और वह उस सीमा का अतिलंघन नहीं कर सकता।"

और आगे उन्होंने उस बात पर विचार किया कि क्या पंजाब यूनिवर्सिटी ऐक्ट (पंजाब विश्वविद्यालय अधिनियम) की धारा 31 जिसके अधीन प्रश्नगत विनियम विरचित किया गया है, सीनेट को भूतलक्षी प्रभाव से विनियम बनाने की शक्ति देती है। धारा 31 इस प्रकार है—

> *धारा 31 (क) सीनेट, सरकार की मंजूरी से समय-समय पर विश्वविद्यालय से संबंधित समस्त विषयों के लिए उपबन्ध करने की दृष्टि से इस अधिनियम से सुसंगत विनियम बना सकेगी।
>
> (2) विशिष्ट रूप से और पूर्वगामी शक्ति की व्यापकता पर

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

> "*S. 31 (1) The, Senate, with the sanction of the Government, may from time to time make regulations consistant with this Act to provide for all matters relating to the University.
>
> (2) In particular and without prejudice the

---

[1] [1972] 3 उम० नि० प० 753=ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 2427.

प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, ऐसे विनियमों में निम्नलिखित उपबन्ध किए जा सकेंगे —

(क) से (ढ) ... .

(ण) परीक्षार्थियों द्वारा विश्वविद्यालय की किसी परीक्षा में बैठने के लिए और विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त या अनुदत्त किन्हीं डिग्रियों, डिप्लोमाओं, लाइसेंसों, उपाधियों, सम्मान-प्रतीकों, छात्र-वृत्तियों तथा पुरस्कारों के लिए अनुसरण किए जाने वाले शिक्षा पाठ्यक्रम और अनुपालन की जाने वाली शर्तें ।"

"मैट्रिकुलेशन परीक्षा से भिन्न" शब्दों का जो उपखण्ड (ण) में पहले आए हुए हैं, भारत सरकार की तारीख 6 दिसम्बर, 1969 वाली अधिसूचना द्वारा लोप कर दिया गया है ।"

7. विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति ने यह राय व्यक्त की कि पंजाब यूनिवर्सिटी ऐक्ट (पंजाब विश्वविद्यालय अधिनियम) की धारा 31 में ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे सीनेट को भूतलक्षी प्रभाव से विनियम विरचित करने की शक्ति अभिव्यक्त रूप से या विवक्षित रूप से मिलती हो, और यह अभिनिर्धारित किया कि 1970 में यथासंशोधित विनियम ने प्रत्यर्थी सं० 1, सुभाष चन्द्र की जिसका परीक्षा में बैठना उसके लिए अपायकर था, शर्तों को भूतलक्षी प्रभाव से परिवर्तित कर दिया है और वह उसे लागू नहीं हो सकता और यह कि वे नियम 7.1 के साथ, जैसा कि वह उस समय प्रवृत्त था, जबकि उसने 1965 में पाठ्यक्रम में प्रवेश लिया था, पठित विनियम 25 से ही शासित होता है। इस प्रकार विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति ने पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय की

---

generality of the foregoing power such regulations may provide for—

(a) to (m) ... ...

(n) the courses of study to be followed and the conditions to be complied with by candidates for any university examination, and for degrees, diplomas Licences, titles, marks of honour scholarships and prizes conferred or granted by the University."

खण्ड न्यायपीठ (न्या० बी० के० महाजन और न्या० पी० सी० जैन) द्वारा **सेवाराम** बनाम कुरुक्षेत्र **विश्वविद्यालय**[1] वाले मामले में अपनाए गए दृष्टिकोण से भिन्न मत व्यक्त किया जिसमें निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया गया था —

> "विश्वविद्यालय एक स्वायत्तशासी निकाय है और उसे परीक्षा के संचालन से और किसी डिग्री के लिए आवश्यक अर्हक अंकों से संबंधित अपेक्षित नियमों में परिवर्तन करने के मामले में पूरा अधिकार है, परन्तु यह तब जबकि विनियम उस परीक्षा से जिसमें परीक्षार्थी को बैठना है, काफी पूर्व बना लिए जाएं ।"

8. विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति ने पंजाब विश्वविद्यालय की ओर से किए गए इस निवेदन को अस्वीकार कर दिया कि नियम 2.1 में 1970 में एक अपवाद जोड़कर विनियम में किया गया परिवर्तन केवल भविष्य में ली जाने वाली परीक्षाओं से संबंधित था और नियम का भूतलक्षी प्रवर्तन होने का कोई प्रश्न नहीं उठता, और यह अभिनिर्धारित किया कि जिस समय प्रत्यर्थी संख्या 1,सुभाष चन्द्र ने 1965 में पाठ्यक्रम में प्रवेश लिया, उस समय स्पष्ट रूप से उसका आशय औषध-विज्ञान और शल्य-चिकित्सा विज्ञान में डिग्री प्राप्त करने का था और यह कि यह एकल एकीकृत पाठ्यक्रम है । विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति ने यह मत व्यक्त किया कि नियम 2.1 में अपवाद जोड़कर विनियम में किया गया परिवर्तन उसी एकल एकीकृत संहत पाठ्यक्रम में किया गया परिवर्तन है और वह भूतलक्षी प्रकृति का है । शेष दोनों विद्वान् न्यायाधीश मुख्य न्यायमूर्ति के इस मत से सहमत थे और तदनुसार पूर्ण न्यायपीठ ने अपील खारिज कर दी और पंजाब विश्वविद्यालय को यह निदेश दिया कि प्रत्यर्थी सं० 1, सुभाष चन्द्र को 1965 में पाठ्यक्रम में उसके प्रवेश लेने के समय प्रवृत्त नियम 7.1 के साथ पठित पुराने विनियम 25 के अनुसार 16 अंक अनुग्रहांक के रूप में न कि संशोधित विनियम के अनुसार 4 अंक देने के पश्चात् उसका परीक्षाफल पुनः घोषित करे ।

9. हमारी राय यह है कि इस अपील को सफल होना चाहिए । ऊपर उद्धृत पंजाब यूनिवर्सिटी ऐक्ट (पंजाब विश्वविद्यालय अधिनियम) की धारा 31 (1), जो ऊपर उद्धृत की गयी है, पंजाब विश्वविद्यालय की सीनेट को

---

[1] [1968] तारीख 17-7-1968 को विनिश्चित 1967 का एल० पी० ए० 97.

समय-समय पर सरकार की मंजूरी से विश्वविद्यालय से संबंधित समस्त विषयों के लिए उपबन्ध करने के वास्ते उस अधिनियम के उपबन्धों से सुसंगत विनियम बनाने में समर्थ बनाती है। धारा 31 (2) (ण) में यह उपबन्ध किया गया है कि विशिष्टत: और पूर्वगामी शक्ति की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, ऐसे विनियम में अध्ययन के लिए अनुसरण किये जाने वाले पाठ्यक्रमों और विश्वविद्यालय की किसी परीक्षा के लिए परीक्षार्थी द्वारा पूरी की जाने वाली शर्तें तथा विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त या अनुदत्त की जाने वाली डिग्रियों, डिप्लोमाओं, लाइसेंसों, उपाधियों, सम्मान-प्रतीकों, छात्रवृत्तियों और पुरस्कारों की बाबत उपबन्ध किया जा सकेगा। परीक्षा-विषय में अंकों का अपेक्षित प्रतिशत प्राप्त करना, अधिनियम की धारा 31 (2) के उप-खंड (ण) में आने वाले "विश्वविद्यालय की किसी परीक्षा के लिए परीक्षार्थी द्वारा पूरी की जाने वाली शर्तें" वाले खंड के अधीन आता है। इसलिए, सीनेट को इस बात पर विचार करते हुए कि क्या परीक्षार्थी उस विषय या उन विषयों में जिस में या जिनमें बैठे वे हैं, ली गयी परीक्षा उत्तीर्ण होने के पात्र हैं, विश्वविद्यालय परीक्षा में बैठने वाले परीक्षार्थियों को कुछ प्रतिशत अंक अनुग्रहांक के रूप में देने की शक्ति प्राप्त है। इस बात में कोई भी विवाद नहीं है कि किसी एक प्रश्नपत्र/विषय में परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए न्यूनतम अपेक्षित अंक, अंकों के 50 प्रतिशत हैं। जब सुभाष चन्द्र, प्रत्यर्थी सं० 1 ने 1965 में एम० बी० बी० एस० के पाठ्यक्रम में प्रवेश लिया था उस समय नियम 7.1 में जैसा कि वह उस समय था और जिसे उद्धृत किया गया है, यह उपबन्ध किया गया था कि जो परीक्षार्थी एक या अधिक प्रश्नपत्रों/विषयों में या उनके योग में अनुत्तीर्ण होगा, उसे व्यावहारिक और आन्तरिक निर्धारण के लिए अपवर्जित करते हुए परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ घोषित करने के लिए उसके सर्वोत्तम हित में उसके कुल संकलित अंकों का एक प्रतिशत अनुग्रहांक के रूप में दिया जा सकेगा। सुभाष चन्द्र, प्रत्यर्थी सं० 1 को जो केवल 9 वर्ष पूर्व 1974 में एम० बी० बी० एस० की अन्तिम परीक्षा में बैठा था, 4 विषयों अर्थात् औषध-विज्ञान, शल्य-चिकित्सा विज्ञान, आंख, कान, नाक-दंत चिकित्सा विज्ञान तथा प्रसूति-विज्ञान में उत्तीर्ण होना था जिनमें से प्रत्येक के लिए संकलित अंक 400 थे। उसे चिकित्सा-विज्ञान, शल्य-चिकित्सा विज्ञान, और आंख, कान, नाक और दंत चिकित्सा विज्ञान में क्रमश: 202, 225, 204 अंक प्राप्त हुए और उन विषयों में उसे परीक्षा में उत्तीर्ण घोषित किया गया। प्रसूति-विज्ञान में दो भाग होते है अर्थात् सिद्धांत और व्यावहारिक जिसमें से प्रत्येक के संकलित अंक 200 थे। सुभाष चन्द्र, प्रत्यर्थी सं० 1 को व्यावहारिक परीक्षा में 200 अंकों में से 106 अंक प्राप्त हुए और सैद्धान्तिक परीक्षा में 200

अंकों में से 95 अंक ही प्राप्त हुए। चूंकि समस्त 4 विषयों के जिनके लिए 1974 में वह परीक्षा में बैठा था, अंकों का कुल योग 1600 था, इसलिए नियम 7.1 जैसा कि वह 1965 में पाठ्यक्रम में उसके प्रवेश लेने के समय था, के साथ पठित पुराने विनियम 25 के अधीन वह अनुग्रहांक के रूप में 16 अंक प्राप्त करने का हकदार होता और उसे परीक्षा में उत्तीर्ण घोषित कर दिया गया होता क्योंकि उसके द्वारा प्रसूति-विज्ञान की व्यावहारिक परीक्षा में प्राप्त 95 अंकों में अनुग्रहांक के रूप में दिये जाने वाले अतिरिक्त 16 अंकों को जोड़ देने से न्यूनतम 50 प्रतिशत अंकों की अपेक्षा पूरी हो गयी होती। किन्तु 1974 में सुभाष चन्द्र के एम० बी० बी० एस० की अन्तिम परीक्षा में बैठने से बहुत पहले, एम० बी० बी० एस० और बी० डी० एस० के छात्रों को दिये जाने वाले अनुग्रहांक से संबंधित यथापूर्व-उल्लिखित नियम 21 में एक अपवाद जोड़कर उसे 1970 में विश्वविद्यालय की सीनेट द्वारा परिवर्तित कर दिया गया। यह दलील नहीं दी गयी है कि यह परिवर्तन करने के लिए सरकार की मंजूरी प्राप्त नहीं की गयी थी। अपवाद में यह कहा गया है कि तथापि, एम० बी० बी० एस० और बी० डी० एस० की परीक्षाओं के मामले में प्रत्येक विषय के कुल अंकों का एक प्रतिशत अनुग्रहांक के रूप में दिया जायेगा, न कि समस्त विषयों के संकलित अंकों का एक प्रतिशत, अन्य शब्दों में इस प्रयोजन के लिए प्रत्येक विषय एक पृथक् एकक होगा और ऐसा किसी परीक्षार्थी का जो किसी विषय में एक प्रतिशत से अनधिक अंकों से अनुत्तीर्ण होता है, उस विषय में उत्तीर्ण होने के लिए अपेक्षित अंक दिये जा सकेंगे। 1970 में यथा-संशोधित इस नियम के अधीन, सुभाष चन्द्र, प्रत्यर्थी सं० 1, केवल प्रसूति-विज्ञान विषय के लिए 400 अंकों के योग का एक प्रतिशत अंक अर्थात् कुल 4 अंक प्राप्त करने का हकदार था। चूंकि प्रसूति-विज्ञान व्यावहारिक परीक्षा में जिसके लिए योग, उस विषय के लिए रखे गए 400 अंकों के कुल योग में से 200 अंक था उसके द्वारा वस्तुतः प्राप्त 95 अंकों में अनुग्रहांक के रूप में प्राप्त 4 अंक जोड़ने से 200 अंकों में से केवल 99 अंक होते हैं, इसलिए वह 50 प्रतिशत अंक से कम था और उसे प्रसूति-विज्ञान में अनुत्तीर्ण घोषित किया गया और उस विषय में पुनः परीक्षा देने के लिए कहा गया।

10. प्रत्येक विषय में उत्तीर्ण होने के लिए न्यूनतम विहित अंक 50 प्रतिशत हैं। पुराने नियम के अधीन जैसा कि वे 1970 से पूर्व था, सुभाष चन्द्र अनुग्रहांक के रूप में 16 अंक प्राप्त करके उत्तीर्ण हो सकता था, जोकि समस्त 4 विषयों अर्थात् औषध-विज्ञान, शल्य-चिकित्सा विज्ञान आंख,

कान, नाक-दंत चिकित्सा-विज्ञान तथा प्रसूति-विज्ञान में प्राप्त अंकों के योग का 1 प्रतिशत है भले ही उसने प्रसूति-विज्ञान के व्यावहारिक परीक्षा में 200 अंकों में से 84 अंक ही क्यों न प्राप्त किए होते, जो कि कुल 42 प्रतिशत होता है और उसने अन्य विषयों/प्रश्नपत्रों में 50 प्रतिशत से अधिक अंक प्राप्त किये। जहां तक एम० बी० बी० एस और बी० डी० एस० परीक्षाओं का सम्बन्ध था, सीनेट ने 1970 के नियम 2.1 में एक अपवाद जोड़कर इस स्पष्ट त्रुटि को सुधारना ठीक समझा जिसके अधीन उस विषय विशेष में संकलित अंकों का एक प्रतिशत अनुग्रहांक के रूप में होगा। हम ऐसा नहीं समझते कि इस परिवर्तन को प्रभावी करने के लिए सीनेट के पास आवश्यक शक्ति नहीं थी या उसने परिवर्तन करके अयुक्तियुक्त कार्य किया है। हम ऐसा समझते हैं कि सीनेट को अधिनियम की धारा 31(2) (ण) के अधीन समय-समय पर परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए अपेक्षित अंकों का प्रतिशत नियत करने और अनुग्रहांक देने से इन्कार करने अथवा अनुग्रहांक में वृद्धि करने या उसे कम करने की आवश्यक शक्ति प्राप्त थी। हमारे समक्ष यह दलील नहीं दी गई कि यह परिवर्तन करते हुए सीनेट ने कोई असद्भावपूर्ण कार्य किया है। यह दलील नहीं दी जा सकती कि सुभाष चन्द्र को जो 1974 में अन्तिम परीक्षा में बैठा था, अनुग्रहांक से सम्बन्धित नियमों में 1970 में किये गये परिवर्तन की पर्याप्त जानकारी नहीं थी अथवा यह कि परिवर्तन से उस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

11. हम, उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के विद्वान् न्यायमूर्तियों के इस मत से सहमत नहीं हैं कि वर्ष 1970 वाले कैलण्डर के नियम 2.1 में अपवाद में जोड़ कर किए गए परिवर्तन में भूतलक्षी प्रभाव का कोई तत्व है। शार्टर अक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी, तृतीय संस्करण के अनुसार कानूनों आदि की बाबत "भूतलक्षी" (रीट्रस्पेक्टिव) शब्द का अर्थ है "विगत समय की बाबत प्रवृत्त होना"। नियम 2.1 में जोड़े गये अपवाद द्वारा किए गए परिवर्तन में यह नहीं कहा गया है कि वह किसी पूर्वतर तारीख से प्रभावी होगा। प्रकटतः यह भविष्यलक्षी है। यह अभिनिर्धारित करना संभव नहीं है कि यह मात्र इसलिए भूतलक्षी रूप से प्रवृत्त है, क्योंकि यद्यपि इसे 1970 में पुरःस्थापित किया गया था, फिर भी इसे सुभाष चन्द्र प्रत्यर्थी सं० 1 को लागू किया गया जो पाठ्यक्रम में पहले 1965 में अपना प्रवेश लेने के बाद अन्तिम परीक्षा के लिए 1974 में बैठा था। 1965 में उसके प्रवेश लेने के समय उसे ऐसा कोई वचन नहीं दिया गया था या दिया गया नहीं समझा जा सकता कि किसी परीक्षा को उत्तीर्ण करने के लिए अपेक्षित अंकों के प्रतिशत की बाबत या

अनुग्रहांक दिए जाने की बाबत नियम या विनियम में कोई परिवर्तन नहीं किया जाएगा और यह कि उससे सम्बन्धित वे नियम जो प्रवेश के समय प्रवृत्त थे उसको तब तक लागू बने रहेंगे जब तक वह अपना संपूर्ण पाठ्यक्रम पूरा नहीं कर लेता। 1979 के कलेण्डर में पृष्ठ 1 पर हमें निम्नलिखित उल्लेख मिलता है—

> "एक शिक्षा-सत्र से अधिक तक चलने वाले समेकित प्रकृति के पाठ्यक्रम के होते हुए भी पाठ्यक्रम में छात्र के प्रवेश लेने के समय प्रवृत्त विनियम शिक्षा-सत्र के दौरान या उसके अन्त में ली जाने वाली परीक्षाओं तक ही लागू होंगे। इन विनियमों की किसी बात के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि वह बाद में विश्वविद्यालय द्वारा विनियमों के संशोधन को विवर्जित करती है और संशोधित विनियम, यदि कोई है, समस्त छात्रों को लागू होंगे चाहे, वे पुराने हों या नये।"

यह वैसा ही है जैसा कि इसे होना चाहिए, यद्यपि 1965 में जब सुभाष चन्द्र को पाठ्यक्रम में प्रवेश दिया गया था, उस समय इस प्रकार का कोई उपबन्ध नहीं था। यह संस्वीकृति की गई है कि इसे 1971 में पुरःस्थापित किया गया। 1965 वाले वर्ष में ऐसे उपबन्ध के न होने का कोई महत्व नहीं है। इस सम्बन्ध में इस न्यायालय ने ऐसे ही मामलों में भूतलक्षिता की बाबत **बी० एन० मिश्र बनाम राज्य**[1] वाले मामले में जो कुछ कहा था, उसका उल्लेख करना आवश्यक है—

> "अपीलार्थी की ओर से दी गई दूसरी दलील यह है कि नियम भूतलक्षी प्रभाव वाले है और कोई भूतलक्षी नियम बनाया नहीं जा सकता। जब हमने नियम पढ़ा, तब हमें उसमें कोई भूतलक्षिता नहीं मिली। नियम में मात्र यह उपबन्ध किया गया है कि जिस तारीख से यह प्रवृत्त होगा उस तारीख से सेवा-निवृत्ति की आयु 55 वर्ष होगी। इसलिए, यह उस तारीख से समस्त सरकारी सेवकों को, भले ही उन्हें 25 मई, 1961 से पूर्व क्यों न भर्ती किया गया हो यह उसी प्रकार लागू होगा जिस प्रकार 1957 वाला नियम लागू होता है जिसमें सेवकों की आयु 55 वर्ष से बढ़ाकर 58 वर्ष कर दी गई थी भले ही वे 1957 से पूर्व भर्ती किए गए हों। किन्तु इस बात पर जोर दिया गया है कि परन्तुक से यह दर्शित होता है कि नियम को भूतलक्षी रूप से लागू किया गया

---

[1] [1965] 1 एस० सी० आर० 297.

था। हम उस परन्तुक के प्रति पहले ही निर्देश कर चुके हैं, जिसमें यह अधिकथित है कि ऐसे सरकारी सेवकों जिन्होंने 17 जून, 1957 से या उससे पूर्व 55 वर्ष की आयु प्राप्त कर ली है और जो 25 मई, 1961 को 58 वर्ष के नहीं हुए हैं, के बारे में यह समझा जाएगा कि उन्हें अधिवर्षिता की तारीख अर्थात् 55 वर्ष के पश्चात् सेवा में बनाए रखा गया है। हमारी राय में इस परन्तुक से नियम भूतलक्षी नहीं हो जाता है : इसमें केवल यह उपबन्ध किया गया है कि 1957 वाले पूर्ववर्ती नियम को ध्यान में रखते हुए जिसे 1961 वाले नियम द्वारा परिवर्तित किया जा रहा था, 55 वर्ष के बाद की गई सेवा की कालावधि की बाबत क्या समझना चाहिए। इसके बाद उसी तारीख से जारी किए गए द्वितीय आदेश से भी स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि नियम भूतलक्षी प्रभाव से लागू नहीं था क्योंकि वास्तविक प्रभाव स्वरूप कोई भी सरकारी सेवक नये नियम की तारीख अर्थात् 25 मई, 1961 से पूर्व सेवा-निवृत्त नहीं किया गया और सबको 31 दिसम्बर, 1961 तक निरन्तर सेवा में रखा गया और इसलिए वे पुराने नियम के अनुसार अधिवर्षिता की आयु प्राप्त करने पर सेवा निवृत्त होते। इसलिए हमारी यह राय है कि सेवा-निवृत्ति की आयु 58 वर्ष को घटाकर 55 वर्ष तक करने वाले नये नियमों की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वे भूतलक्षी हैं। नये नियम का परन्तुक और द्वितीय अधिसूचना नये नियम के तुरन्त लागू कर दिये जाने से लोक सेवा में उसका होने वाली कठिन परिस्थिति पर काबू पाने की रीति मात्र है और नये नियम के प्रवृत्त किये जाने से उत्पन्न किसी वित्तीय आक्षेप का सामना करने का उपाय मात्र थे। इसलिए नए नियम को इस आधार पर खंडित नहीं किया जा सकता कि वे भूतलक्षी रूप से लागू है।"

12. इसलिए, हमारी यह स्पष्ट राय है कि वर्ष 1970 में बनाये गये भूतलक्षी प्रभाव वाले नियमों में मात्र इसलिए परिवर्तन करने का कोई प्रश्न नहीं है कि वह सुभाष चन्द्र को 1974 में लागू किया गया था जो एम० बी० बी० एस० के पाठ्यक्रम में 1965 में तब सम्मिलित हुआ था, जबकि अनुग्रहांक दिये जाने की बाबत भिन्न नियम थे। इन परिस्थितियों में, हम खंड न्यायपीठ द्वारा जिसमें न्यायमूर्ति बी० के० महाजन और पी० सी० जैन थे, सेवाराम बनाम कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय[1] वाले मामले में व्यक्त मत को अभिष्ट

---

[1] [1968] तारीख 17-7-1967 को विनिश्चित 1967 का एल० पी० ए० 97.

करते हैं और उस मामले में के अपीलाधीन विनिश्चय में पूर्ण न्यायपीठ के विद्वान् न्यायमूर्तियों द्वारा व्यक्त मत को अनुमोदित करते हैं और यह अभिनिर्धारित करते हैं कि वे विश्वविद्यालय का यह अभिनिर्धारित करना ठीक था कि सुभाष चन्द्र, प्रत्यर्थी सं० 1 पुराने नियमों के अधीन अनुग्रहांक के रूप में 16 अंक प्राप्त करने का हकदार नहीं था, बल्कि नये नियमों के अधीन अनुग्रहांक के रूप में 4 अंक प्राप्त करने का ही हकदार था और इसलिए वह प्रसूति-विज्ञान की परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हुआ था। हम अपील मंजूर करते हैं किन्तु खर्चे की बाबत कोई आदेश नहीं करते। तथापि यदि लेटर्स पेटेंट अपील में पूर्ण न्यायपीठ के विद्वान् न्यायाधीशों के निर्देश के अनुसार प्रसूति-विज्ञान में सुभाष चन्द्र की परीक्षा का परिणाम घोषित कर दिया गया है तो उस पर इस विनिश्चय का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

अपील मंजूर की गई।

द्वि०/श्री०

प्रदीप जैन (डा०) और अन्य

बनाम

भारत संघ और अन्य

तथा

कुमारी रीता निरंकारी

बनाम

दिल्ली विश्वविद्यालय

तथा

मीनाक्षी

बनाम

भारत संघ

तथा

अल्का अग्रवाल

बनाम

भारत संघ

तथा

शालिनी

बनाम

भारत संघ और एक अन्य

(22 जून, 1984)

(न्यायाधिपति पी० एन० भगवती, अमरेन्द्र नाथ सेन और रंगनाथ मिश्र)

संविधान, 1950—अनुच्छेद 5, 14 और 16(2)—एम० बी० बी० एस० और बी० डी० एस० पाठ्यक्रमों में राज्य में 'अधिवास' और संस्थावार अधिमानता के आधार पर किए गए आरक्षण को इस आधार पर चुनौती दी जानी कि उससे संविधान के अनुच्छेद

14 और 16(2) का अतिक्रमण होता है—राज्यों के चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए निवास की अपेक्षा से अनुच्छेद 16(2) का अतिक्रमण नहीं होता है—अनुच्छेद 16(2) जन्म-स्थान के आधार पर किए जाने वाले बिभेद को प्रतिषिद्ध करता है, न कि निवास के आधार पर—राज्य के भीतर निवास और संस्थावार अधिमानता के आधार पर एम० बी० बी० एस० में आरक्षण खुले साधारण स्थानों के 70 प्रतिशत से अधिक तथा एम० डी० और एम० एस० आदि में 50 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए—ऐसे आधारों पर पूर्ण आक्षरण से संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है—तथापि कतिपय विशिष्ट विषयों में अखिल भारतीय योग्यता के आधार पर ही प्रवेश किया जाना चाहिए।

रिट पिटीशनों के इस समूह में चिकित्सा महाविद्यालयों में स्नातकपूर्व और स्नातकोत्तर दोनों ही स्तरों पर प्रवेशों को प्रभावित करने वाला एक बहुत ही राष्ट्रीय महत्व का प्रश्न उद्भूत हुआ है। प्रश्न यह है कि क्या संवैधानिक मूल्यों के अनुसार किसी राज्य में स्थित चिकित्सा महाविद्यालय या उच्च शिक्षा प्रदान करने वाले किसी अन्य संस्थान में प्रवेशों को केवल उन व्यक्तियों तक सीमित किया जा सकता है जिनका राज्य में 'अधिवास' है अथवा जो किसी निश्चित वर्षों से राज्य में निवासी हैं या क्या उनके लिए प्रवेश में कोई आरक्षण किया जा सकता है जिससे उन्हें उन लोगों पर अधिमानता दी जा सके जिनके पास योग्यता के बावजूद राज्य के अधिवासी या निवासी होने की अर्हता नहीं है। एकमात्र कसौटी वाला संवैधानिक उपबन्ध, जिस पर ऐसी निवास संबंधी आवश्यकता की जांच की जा सकती है, अनुच्छेद 14 है और वह बहुत संक्षिप्त है जिसे चुनौती दी गई है और जिस पर इन रिट पिटीशनों में इस न्यायालय द्वारा विचार किया जाना है। उच्चतम न्यायालय में फाइल की गई सिविल अपील और रिट पिटीशनों को मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—जहां तक चिकित्सा महाविद्यालय जैसी किसी शैक्षणिक संस्था में प्रवेश का संबंध है, अनुच्छेद 16 (2) लागू नहीं होता है। इसलिए यदि किसी राज्य के चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए निवास संबंधी कोई अपेक्षा है तो उसकी इस आधार पर निन्दा नहीं की जा सकती कि उससे संविधान के अनुच्छेद 16 (2) का अतिक्रमण होता है और इसीलिए वह असंवैधानिक है, और न ही निवास संबंधी ऐसी किसी अपेक्षा को अविधिमान्य करने के लिए अनुच्छेद 16 (2) को लागू किया जा सकता है, क्योंकि अनुच्छेद 16 (2) जन्मस्थान के आधार पर, न कि निवास के आधार पर विभेद को प्रतिषिद्ध करता है। निवास स्थान और जन्मस्थान दो भिन्न

संकल्पनाएं हैं और वास्तव में विधि की दृष्टि से दोनों की भिन्न अर्थव्याप्तियां हैं। (पैरा 6)

अधिवास की संकल्पना के मूल में एकमात्र धारणा स्थायी मकान की है। किन्तु मूल रूप से वह इस बात का अवधारण करने के प्रयोजन के लिए एक विधिक संकल्पना है कि किसी व्यक्ति को लागू होने वाली स्वीय विधि क्या है और यदि किसी व्यक्ति का स्थायी मकान नहीं है तो भी उसमें विधि द्वारा अधिवास विनिहित किया गया है। अधिवास के मुख्यतः दो प्रवर्ग हैं। मूलतः अधिवास जो जन्म के कारण प्रत्येक व्यक्ति को विधि के प्रवर्तन से अर्थात् उसके पिता या उसकी माता के अधिवास से और इस बात से कि वैध या अवैध है तथा उससे कि अधिवास की उसकी पसन्द क्या है, दिया जाता है; उसकी ऐसी पसन्द जिसे रखने के लिए प्रत्येक पूर्ण वयस्क व्यक्ति अपने उस स्थान के बदले में स्थान अर्जित करने के लिए स्वतंत्र है जो उसके पास वर्तमान में है। किसी व्यक्ति को मूल अधिवास उसके जन्म से प्रदान किया जाता है जबकि पसन्द का अधिवास किसी ऐसे राज्यक्षेत्र में निवास द्वारा अर्जित किया जाता है जो कि सुभिन्न विधिक पद्धतियों के अध्यधीन होता है और जिसमें स्थायी रूप से या अनिश्चित काल तक रहने का आशय होता है। अधिवास का क्षेत्र, चाहे वह मूल अधिवास हो या पसन्द का अधिवास हो, वह देश है जिसकी विभिन्न विधिक पद्धतियां हैं, न कि देश में ऐसा कोई विशेष स्थान, जहां व्यक्ति निवास करता हो। (पैरा 7)

संविधान केवल एक अधिवास को अर्थात् भारत में अधिवास को ही मान्यता प्रदान करता है। संविधान का अनुच्छेद 5 स्पष्ट है और उसमें केवल एक अधिवास के प्रति अर्थात् 'भारत के राज्यक्षेत्र में अधिवास' के प्रति निर्देश किया गया है। 'अधिवास' की संकल्पना की नगरपालिक विधियों के लागू होने के बारे में कोई संगति नहीं है चाहे वे भारत संघ द्वारा या राज्यों द्वारा बनायी गई हो। भारत का नागरिक किसी एक राज्य में अथवा भारत संघ का भाग बनने वाले किसी अन्य राज्य में अधिवसित है। अधिवास जो उसका है, केवल एक ही है, अर्थात् भारत के राज्यक्षेत्र में अधिवास। जब कोई व्यक्ति किसी एक राज्य का स्थायी निवासी है, किसी अन्य राज्य में स्थायी या अनिश्चितकाल तक रहने के लिए जाता है तो उसके अधिवास में कोई परिवर्तन नहीं होता है; वह अपनी पसन्द का नया अधिवास अर्जित नहीं करता। उसका अधिवास वही अर्थात् भारतीय अधिवास बना रहता है। यह बात सही है और राज्य सरकारों की ओर से दिया गया यह तर्क सही है कि कुछ राज्य सरकारों ने अपने राज्यक्षेत्रों के भीतर स्थित चिकित्सा महा-

विद्यालय में प्रवेश के लिए अधिवास संबंधी अपेक्षा विहित करने वाले नियमों में 'अधिवास' शब्द का उपयोग उसके तकनीकी विधिक अर्थ में नहीं किया है, बल्कि उसका उपयोग एक बहुत ही आम अर्थ में किया है और उससे निवास करना अभिप्रेत है और वह स्थायी या अनिश्चितकाल तक निवास करने के विचार को प्रकट करना आशयित है। (पैरा 8)

देश में के सभी नागरिकों को समान अवसर प्रदान करके तकनीकी संस्थाओं और चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए सर्वोत्तम और सर्वाधिक योग्य विद्यार्थियों का चयन करने का सदैव ही प्रयत्न किया जाना चाहिए और किसी भी नागरिक को राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता पर गम्भीर प्रतिकूल उपाय के बिना वैध रूप से हमारी सांविधानिक व्यवस्था में बाहरी व्यक्ति के रूप में नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, विशेष विषयों में शिक्षा देने वाले चिकित्सा महाविद्यालयों या अन्य संस्थाओं में कम योग्य विद्यार्थियों को मात्र इसलिए प्रवेश देना जबकि अधिक योग्य विद्यार्थी उपलब्ध हों, राष्ट्रीय हित के विरुद्ध होगा क्योंकि कम योग्य विद्यार्थी राज्य के स्थायी निवासी हैं, या कुछ वर्षों से निवासी हैं, जबकि अधिक योग्य विद्यार्थी उस राज्य के निवासी नहीं हैं, यद्यपि दोनों ही प्रवर्ग के विद्यार्थी भारत के नागरिक हैं। अधिक योग्य विद्यार्थियों को इस आधार पर अपवर्जित करने से कि वे राज्य के निवासी नहीं हैं, स्तर से नीचे के विद्यार्थियों को बढ़ावा देने और इससे चिकित्सा विषयक सक्षमता में गिरावट आने की संभाव्यता रहेगी जोकि आगे चलकर उसी क्षेत्र के लिए हानिकारक होगी। प्रारंभ में ही योग्यता का पूर्ण रूप से त्याग करके नीम-हकीम और अनाड़ी चिकित्सकों को थोपना कोई वरदान नहीं है। और न ही प्रवेश से सर्वाधिक योग्य व्यक्तियों को केवल इस कारण से हीं इंकार किया जा सकता है, क्योंकि उससे राष्ट्र हानि होगी और किसी भी क्षेत्र का हित राष्ट्र के हित से ऊंचा नहीं हो सकता। इसलिए चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए अभ्यर्थियों के चयन में मूलभूत बात योग्यता ही होनी चाहिए। किसी भी नियमावली का, जो चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश को विनियमित करने के लिए बनाई जाती है, उद्देश्य सर्वोत्तम और सर्वाधिक योग्य विद्यार्थियों को प्राप्त करने का ही होना चाहिए। (पैरा 10)

चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए अनुसरण किया जाने वाला चयन का सिद्धान्त चाहे जो भी हो, उसे समता की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। संविधान के अधीन समता की संकल्पना एक गतिशील संकल्पना है। उसकी परिधि के भीतर समानीकरण और संरक्षणात्मक विभेद की प्रत्येक प्रक्रिया है। समता केवल एक आदर्श कसौटी ही नहीं बनी रहनी चाहिए

किन्तु वह अधिकांश लोगों के लिए जीवित वास्तविकता होनी चाहिए। ऊंच-नीच की वर्ण व्यवस्था वाले ऐसे समाज में जिस पर अमिट सामंती छाप लगी हुई हो और जिसमें वस्तुतः ऐसी विषमता हो जिसका उपचार संभव नहीं है, यह सुझाव देना निरर्थक है कि वर्गजन्य निरर्हताओं को समाप्त करने के लिए और सामूहिक समता को अग्रसर करने के लिए प्रगतिशील उपाय इस आधार पर समता के विरोधी हैं कि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा प्राप्त अंकों के आधार पर पूर्णतः निर्णीत योग्यता के आधार पर समान अवसर का हकदार है। ऐसे सुझाव का विरोध नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करना समता खण्ड को निरर्थक बनाना होगा तथा विद्यमान असमानताओं को शाश्वत बनाना होगा। अवसर की समता केवल विधिक समता की बात नहीं है। उसका अस्तित्व न केवल निरर्हताओं के अभाव पर आश्रित है बल्कि योग्यताओं की उपस्थिति पर भी निर्भर होता है। इसलिए जहां कोई असमानता है, वहां वास्तव में विधिक समता सदैव उसको सुस्पष्ट कर देती है। वास्तव में जो असमान हैं, उनके साथ समान मानकों के आधार पर व्यवहार नहीं किया जा सकता; वह विधि के समक्ष समता हो सकती है किन्तु निश्चित रूप से वह वास्तविक समता नहीं हो सकती। इसलिए वस्तुतः उन असमानताओं की ओर ध्यान देना आवश्यक है जो समाज में विद्यमान हैं और सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े व्यक्तियों को अधिमानता देकर के या अधिक लाभप्रद स्थिति वाले व्यक्तियों पर विकलांग लोगों को थोप कर सकारात्मक कार्रवाई करनी आवश्यक है ताकि वास्तविक समता लाई जा सके। यद्यपि ऐसी सकारात्मक कार्रवाई स्पष्टतः विभेदकारी है, तथापि वह असमानताओं को दूर करके और समुदाय के कमजोर वर्गों को अधिक बलवान और शक्तिशाली व्यक्तियों के साथ समता के आधार पर लाकर इस व्यापक आधार पर समता कायम करने के लिए है ताकि समाज का प्रत्येक सदस्य, चाहे उसका जन्म-स्थान, व्यवसाय या सामाजिक स्थिति जो कुछ हो, अपने शरीर-गठन, चरित्र और बुद्धि की प्राकृतिक देन का पूर्ण उपयोग करके समान अवसर का लाभ उठा सकें। चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश की स्कीम योग्यता पर आधारित चयन के सिद्धांत से वहां विचलित हो सकती है, जहां ऐसे लोगों के बीच, जो असमान हैं, अवसर की वास्तविक समानता लाने के प्रयोजन के लिए ऐसा करना आवश्यक हो। (पैरा 13)

जिस दूसरी बात पर न्यायालयों ने योग्यता पर आधारित चयन के सिद्धांत में रियायत देने पर बल दिया है, वह किसी विशेष क्षेत्र की ओर से किया गया पिछड़ेपन का दावा है। ऐसे मामले हुए हैं जिनमें पिछड़े क्षेत्र में

रहने वाले विद्यार्थियों के साथ चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए अधिमानता का व्यवहार किया गया है और अधिमानता के ऐसे व्यवहार को इस आधार पर कायम रखा गया है कि वह अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध स्पष्ट रूप से विभेदकारी है फिर भी वह उस असंतुलन या कमी को दूर करने के लिए आशयित है जिसे पिछड़े क्षेत्र के विद्यार्थी भुगत रहे हैं और इस प्रकार इससे व्यापक अर्थ में वास्तविक समता आएगी। पिछड़े क्षेत्र में रहने वाले विद्यार्थियों के लिए ऐसे अधिमानता का ऐसा व्यवहार उपेक्षित भौगोलिक या मानवीय क्षेत्रों में ऊपर उठने का अवसर प्रदान करके व्यापक आधार पर अवसर की समता प्रदान करने के लिए परिकल्पित है जो उन्हें उस दशा में प्राप्त नहीं हो सकती यदि उनके साथ अधिमानता का व्यवहार नहीं किया जाता है और यदि उनके साथ चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए अन्य व्यक्तियों के समान ही व्यवहार किया जाता है क्योंकि तो वे कभी भी उन व्यक्तियों से जो अच्छी तरह से बसे हुए हैं प्रतिस्पर्धा करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। यदि इस सिद्धांत को सर्जनात्मक और कल्पनात्मक रूप से लागू किया जाता है, तो पिछड़े क्षेत्र में निवास पर आधारित अधिमानता का व्यवहार विकास के असमान स्तरों को कम करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है और ऐसा अधिमानी व्यवहार संभवतः अनुच्छेद 14 की कसौटी पर खरा उतर सकेगा क्योंकि वह राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में विद्यमान असंतुलन को कम करने के लिए होगा। ऐसा मामला हो सकता हो जिसमें कोई क्षेत्र शैक्षिक रूप से पिछड़ा है या जिसमें चिकित्सा सेवाओं की बहुत ही कमी है और ऐसे मामले में उस पिछड़े क्षेत्र के लिए गंभीर शैक्षणिक और स्वास्थ्य सेवा संबंधी विभेद होगा और जो समता और सेवा की विचारधारा वाले कल्याणकारी राज्य को अवश्य ही कम करना चाहिए। ऐसी नीति का प्रयोजन विद्यमान असमानता को दूर करना होगा और पिछड़े क्षेत्र के निवासियों के लिए कल्याण पर आधारित समता को अग्रसर करना होगा। यदि ऐसे मामले में राज्य चिकित्सा शिक्षा के अवसर के अभाव को दूर करना चाहता है और ऐसे पिछड़े क्षेत्र के मध्य में चिकित्सा महाविद्यालय प्रारम्भ करके ऐसे पिछड़े क्षेत्र में सक्षम और पर्याप्त चिकित्सा सेवाएं प्रदान करना चाहता है और उस क्षेत्र के विद्यार्थियों के लिए स्थानों का उचित प्रतिशत आरक्षित करता है तो ऐसे आरक्षण या अधिमानी व्यवहार को विभेदकारी कहना संभव नहीं हो सकेगा। जो बात प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान असमानता को समाप्त करने के लिए आशयित है, उसे विभेदकारी कहकर के उस पर दोष नहीं लगाया जा सकता। (पैरा 18)

अखिल भारतीय आधार पर एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश सुनिश्चित करने की नीति अत्यधिक वांछनीय नीति है जो इस मूल कल्पना पर आधारित है कि भारत एक राष्ट्र है और प्रत्येक नागरिक शिक्षा को अग्रसर करने के लिए समान अवसर प्राप्त करने हेतु हकदार है किन्तु यह एक अभीष्ट आदर्श है और उसे वर्तमान परिस्थितियों में अपनाना वास्तविक रूप से संभव नहीं भी हो सकता, क्योंकि वह अवसर की वास्तविक समता तब तक प्रदान नहीं कर सकता जब तक कि असमानताओं का पूर्ण अभाव न हो और यह एक ऐसी स्थिति है जो साधारणत: आज देश में विद्यमान नहीं है। निवास की अपेक्षा के आधार पर कुछ प्रतिशत आरक्षण वैध रूप से किया जा सकता है ताकि व्यापक आधार पर चिकित्सा महाविद्यालय में प्रवेश के लिए समान अवसर प्राप्त हो सकें जिससे कि औपचारिक नहीं बल्कि वास्तविक और केवल विधिक ही नहीं, बल्कि वास्तविक समता लाई जा सके । इस कारण से किए गए आरक्षण के प्रतिशत में उसी विश्वविद्यालय की प्री-यूनीवर्सिटी कोर्स परीक्षा या प्री-मेडिकल परीक्षा पास करने वाले विद्यार्थियों के लिए संस्थावार आरक्षण सम्मलित किया जा सकता है अथवा राज्य में चिकित्सा महाविद्यालयों के अन्तर्देश की शैक्षणिक स्कूल पद्धति से अर्हता परीक्षा पास करने पर प्रवेश दिया जा सकता है और इस प्रयोजन के लिए राज्य बोर्ड से संबंधित स्कूलों और सेन्ट्रल बोर्ड आफ सेकेंडरी एजूकेशन से संबंधित स्कूलों के बीच कोई प्रभेद नहीं किया जाना चाहिए । अन्तरिम उपाय के रूप में उपबन्ध करना संवैधानिक रूप से तब तक अनुज्ञेय होगा, जब तक कि ऐसी अवस्था में नहीं पहुंच जाते हैं, जबकि व्यापक अर्थ में समता के नियम की व्यापक आज्ञा का अनुसरण नहीं किया जाता और राष्ट्रीय प्रवेश परीक्षा के आधार पर एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश सुनिश्चित नहीं किया जाता। यह एक ऐसा आदर्श है जिस तक पहुंचने के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए । विहित निवास संबंधी अपेक्षा को पूरा करने वाले विद्यार्थियों के लिए और उन विद्यार्थियों के लिए भी, जिन्होंने प्री-यूनिवर्सिटी कोर्स या प्री-मेडिकल परीक्षा पास की है अथवा विश्वविद्यालय या राज्य द्वारा ली गई कोई अन्य अर्हता परीक्षा पास की है, चिकित्सा महा-विद्यालयों में स्थानों के कुछ प्रतिशत का आरक्षण अवश्य ही किया जाना चाहिए तथा इस प्रयोजन के लिए उससे कोई विभेद नहीं करना चाहिए, चाहे अर्हता परीक्षा राज्य बोर्ड या सेन्ट्रल बोर्ड आफ सेकेंडरी एजूकेशन संचालित करता हो, क्योंकि राज्य बोर्ड से सहबद्ध स्कूलों और सेंट्रल बोर्ड आफ सेकेंडरी एजूकेशन से संबंद्ध स्कूलों के बीच कोई प्रभेद नहीं कर सकता है । निवास संबंधी अपेक्षा और संस्थावार अधिमानता पर आधारित आरक्षण के मामले में भारत सरकार की नीति इस निमित्त उच्चतम न्यायालय द्वारा अपनाए गए मत के अनुसार

है। यदि किसी प्रक्रम में भी अखिल भारतीय प्रवेश परीक्षा के आधार पर एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश को विनियमित करने का विनिश्चय किया गया है, तो भी निवास या संस्थावार सहबद्धता के आधार पर चयन किए गए अभ्यर्थियों के बीच स्थानों के आबंटन के लिए कोई उपबन्ध करना होगा। (पैरा 19)

राज्य में अधिवास या निवास की अपेक्षा के आधार पर अथवा संस्थावार अधिमानता के आधार पर ऐसे विद्यार्थियों के लिए कुछ राज्य सरकारों द्वारा किए गए पूर्ण आरक्षण की निन्दा करते हैं जिन्होंने विश्वविद्यालय या राज्य द्वारा ली गई अर्हता परीक्षा पास की है और योग्यता के बावजूद भी इस अपेक्षा को पूरा न करने वाले सभी विद्यार्थियों को अपवर्जित किया है। ऐसे पूर्ण आरक्षण को संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करने के आधार पर असांविधानिक और शून्य घोषित किया जाता है। (पैरा 20)

किसी विशेष राज्य के मामले में राज्य में निवास की अपेक्षा या संस्थावार अधिमानता पर आधारित आरक्षण की सीमा क्या होनी चाहिए। ऐसा आरक्षण विधिमान्य रूप से किए गए अन्य प्रकार के आरक्षणों पर विचार करने के पश्चात् खुले स्थानों की कुल संख्या के 70 प्रतिशत की बाहरी सीमा से किसी भी दशा में अधिक नहीं होना चाहिए। मेडिकल एजूकेशन रिव्यू कमेटी ने यह सुझाव दिया है कि बाहरी सीमा 75 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए किन्तु बाहरी सीमा 70 प्रतिशत तक नियत करना न्यायोचित और उचित होगा। उच्चतम न्यायालय द्वारा नियत की गई यह बाहरी सीमा आहिस्ता-आहिस्ता कई वर्षों के बाद उत्तरोत्तर कम होती चली जाएगी और कम हो जाएगी और वह ऐसा काम है जो भारतीय चिकित्सा परिषद् को करना होगा। आज से नौ मास की कालावधि के भीतर भारतीय चिकित्सा परिषद् को इस बात पर विचार करने का निदेश दिया जाता है कि क्या इस न्यायालय द्वारा नियत की गई 70 प्रतिशत की बाहरी सीमा में कुछ कमी किए जाने की आवश्यकता है और यदि भारतीय चिकित्सा परिषद् इस बाहरी सीमा को कुछ कम नियत करती है तो वह राज्य और संघ राज्यक्षेत्रों पर आबद्धकर होगी। भारतीय चिकित्सा परिषद् को प्रत्येक तीन वर्ष की समाप्ति पर इस प्रकार नियत बाहरी सीमा पर पुनर्विचार करने के लिए भी निदेश दिया जाता है, किन्तु किसी भी दशा में यह बाहरी सीमा इस न्यायालय द्वारा नियत 70 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। किसी भी दशा में ऐसे राज्य या विश्वविद्यालय को विचार में लाए बिना जिससे कि वे आए हैं, अखिल भारतीय विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए खुले स्थान कम से कम 30 प्रतिशत होंगे और

ऐसे प्रवेश राज्य द्वारा ली गई अखिल भारतीय प्रवेश परीक्षा या प्रवेश परीक्षा के आधार पर पूर्णतः योग्यता के आधार पर किए जाएंगे। यद्यपि यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जहां इस निर्णय में दिए गए निदेशों के अनुसार निवास संबंधी अपेक्षा या संस्थावार अधिमानता के आधार पर आधारित आरक्षण इस निर्णय में दिए गए निदेशों के अनुसार किया जाता है, वहां भी ऐसे आरक्षण द्वारा उपदर्शित स्रोतों से प्रवेश केवल योग्यता पर आधारित होगा क्योंकि उद्देश्य ऐसे स्रोतों से सर्वोत्तम और सर्वाधिक योग्य विद्यार्थियों का चयन करना होना चाहिए। (पैरा 21)

जहां तक स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों जैसे एम० एस०, एम० डी० और इसी प्रकार के अन्य पाठ्यक्रमों में प्रवेश का संबंध है, किसी राज्य के भीतर निवास संबंधी अपेक्षा अथवा संस्थावार अधिमानता पर आधारित किसी भी प्रकार के आरक्षण के लिए उपबंध करना वांछनीय नहीं होगा। किन्तु अवसर की समानता के व्यापक सिद्धान्तों और शिक्षा में संस्था की सततता को ध्यान में रखते हुए, जिसका स्वयं का अपना महत्व और मूल्य है, यह निदेश दिया जाता है कि यद्यपि राज्य के भीतर निवास की अपेक्षा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए आरक्षण का आधार नहीं होना चाहिए तथापि वर्तमान परिस्थितियों में स्थानों का कतिपय प्रतिशत इस अर्थ में संस्थावार अधिमानता के आधार पर आरक्षित किया जा सकता है कि ऐसे विद्यार्थी को, जिसने किसी चिकित्सा महाविद्यालय या विश्वविद्यालय से एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम पास किया है, उसी चिकित्सा महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए अधिमानता दी जा सकती है किन्तु संस्थावार अधिमानता के आधार पर ऐसा आरक्षण स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए उपलभ्य खुले स्थानों की कुल संख्या के 50 प्रतिशत से किसी भी दशा में अधिक नहीं होना चाहिए। यह बाहरी सीमा, जो नियत की जा रही है, उसी रीति से, जो एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए इस न्यायालय द्वारा निर्दिष्ट की गयी है, भारतीय चिकित्सा परिषद् द्वारा उस सीमा में कमी करते हुए पुनरीक्षण के अध्यधीन होगी। किन्तु स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में प्रवेश के संबंध में भी यह निदेश दिया जाता है कि जहां तक न्यूरो सर्जरी और कार्डियोलाजी जैसे विशिष्ट विषयों का संबंध है, संस्थावार अधिमानता के आधार पर भी बिल्कुल ही कोई आरक्षण नहीं होना चाहिए और प्रवेश पूर्णतः अखिल भारतीय योग्यता के आधार पर ही दिए जाने चाहिएं। (पैरा 22)

एम० बी० बी० एस० और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में प्रवेश के संबंध में जो कुछ भी ऊपर कहा गया है, वह बी० डी० एस० और एम० डी० एस० पाठ्यक्रमों में प्रवेश के संबंध में भी समान रूप से लागू होना चाहिए। जहां तक बी० डी० एस० और एम० डी० एस० पाठ्यक्रमों में प्रवेश का संबंध है, एम० बी० बी० एस० और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में प्रवेश के संबंध में जो निदेश भारतीय चिकित्सा परिषद् को उच्चतम न्यायालय ने दिए हैं, उनको ही इण्डियन डेंटल कौंसिल, जो दन्त चिकित्सा व्यवसायियों का एक कानूनी निकाय है, कार्यान्वित करेगी। इसलिए जहां तक बी० डी० एस० और एम० डी० एस० पाठ्यक्रमों में प्रवेश का संबंध है, भारतीय चिकित्सा परिषद् को उच्चतम न्यायालय ने जो निदेश दिए हैं उन्हें इस प्रकार पढ़ना चाहिए कि वे इण्डियन डेन्टल कौंसिल को यथा-आवश्यक परिवर्तन सहित, लागू होते हैं। (पैरा 23)

इसलिए रिट पिटीशनों में पिटीशनरों को प्रवेश के संबंध में कोई और निदेश देना इस न्यायालय के लिए आवश्यक नहीं है क्योंकि जिस शिक्षा-सत्र के लिए प्रवेश चाहे गए थे, वह पहले ही समाप्त हो चुका है और जहां तक पिटीशनरों का संबंध है, जिन्हें पहले ही अस्थायी प्रवेश दिया जा चुका है, यह निदेश दिया गया कि उन्हें दिए गए अस्थायी प्रवेश में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि उनके प्रवेश को अन्तिम प्रवेश के रूप में माना जाएगा। (पैरा 24)

न्यायाधिपति अमरेन्द्र नाथ सेन

हर एक प्रकार के विभेद से सांविधानिक समता की संकल्पना का अतिक्रमण नहीं होता है और निश्चित रूप से भारत की एकता को नष्ट नहीं करता। किसी भी प्रकार के विभेद की विधिमान्यता को संविधान के अनुच्छेद 14 की कसौटी पर परखा जाना चाहिए। बहुत से मामलों में समुचित वर्गीकरण समता का मूल आधार होता है और सही अर्थ में विविधता में एकता को अग्रसर करता है। (पैरा 27)

निवास के आधार पर स्थानीय सीमाओं के भीतर स्थानों के आरक्षण की सांविधानिक विधिमान्यता का प्रश्न और स्थानों का संस्थावार आरक्षण का प्रश्न स्पष्ट रूप से इस न्यायालय के विभिन्न विनिश्चयों द्वारा हल कर दिया गया प्रतीत होता है। ये विनिश्चय इस न्यायालय पर आबद्धकर हैं और उनका अनुसरण किया जाना चाहिए। इसलिए युक्तियुक्त सीमा के भीतर ऐसे आरक्षणों की संवैधानिक विधिमान्यता को अवश्य ही कायम रखा जाना चाहिए। (पैरा 29)

ऐसे आरक्षणों की युक्तियुक्तता का प्रश्न विशेष मामलों के तथ्यों और परिस्थितियों के प्रति निर्देश से और किसी दिए गए समय पर विद्यमान स्थिति के प्रति निर्देश से ही हल किया जाना चाहिए। इस न्यायालय द्वारा पारित आदेश और अभिलेख की सामग्री के आधार पर तथा उच्चतम न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चयों पर विचार करने के पश्चात् उसके द्वारा दिए गए निदेश से न्याय का उद्देश्य पूरा होगा और विधि की अपेक्षाओं की भी पूर्ति होगी और उससे राष्ट्रीय एकता प्रभावित या कम नहीं होगी। (पैरा 30)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1981]	[1981] 1 उम० नि० प० 129=[1980] 2 एस० सी० आर० 831 : **जगदीश सरन बनाम भारत संघ;**	10, 12, 18, 20, 22
[1980]	[1980] 2 उम० नि० प० 961=[1979] 3 एस० सी० आर० 1014 : **रमण दयाराम शेट्टी बनाम भारत का अन्तर्राष्ट्रीय विमानपत्तन प्राधिकरण और अन्य;**	8, 14
[1975]	[1975] 2 उम० नि० प० 187=[1975] 2 एस० सी० आर० 761 : **उत्तर प्रदेश राज्य बनाम प्रदीप टण्डन;**	18
[1974]	[1974] 2 उम० नि० प० 1303=(1974) 1 एस० सी० सी० 717 : **अहमदाबाद सैण्ट जेवियर्स कालेज सोसाइटी और एक अन्य बनाम गुजरात राज्य;**	13
[1972]	ए० आई० आर० 1972 आन्ध्र प्रदेश 93 : **देवी बनाम काकती मेडिकल कालेज;**	18
[1971]	[1971] 3 उम० नि० प० 277=[1971] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 608 : **डी० एन० चंचला बनाम मैसूर राज्य;**	16, 17, 19

[1971] [1971] 3 उम० नि० प० 7=[1971] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 381 :
एन० वसुन्धरा बनाम मैसूर राय 8, 16, 19

[1971] [1971] 2 एस० सी० आर० 430 :
पेरियाकरुप्पन बनाम तमिलनाडु राज्य; 11, 19

[1968] [1968] 1 उम० नि० प० 368=[1968] 2 एस० सी० आर० 786 :
अप्राप्तवय पी० राजेन्द्रन बनाम मद्रास राज्य; 11, 15, 19

[1955] [1955] 1 एस० सी० आर० 1215 :
डी० पी० जोशी बनाम मध्य भारत राज्य 6, 8, 14, 16, 19

[1858] [1858] 7 एच० एल० केसेज 124 :
विकर बनाम होम्स. 7

सिविल अपीली/प्रारंभिक अधिकारिता : 1983 के रिट पिटीशन सं० 6091, 8882-83, 9820, 10658, 10761 और 1983 का सिविल प्रकीर्ण पिटीशन सं० 29116 (1983 के रिट पिटीशन सं० 9818 में)

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल किए गए पिटीशन।

तथा

1983 की सिविल अपील सं० 6392.

1983 के सिविल रिट पिटीशन सं० 1791 में दिल्ली उच्च न्यायालय के तारीख 17 अगस्त, 1983 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर की गयी अपील।

पिटीशनरों की ओर से सर्वश्री वी० एम० तारकुण्डे, ए० के० श्रीवास्तव, एस० के० जैन और विजय हंसारिया

अपीलार्थी की ओर से (1983 की सि० अ० सं० 6392 में)	श्री आर० वेंकटरमानी
प्रत्यर्थियों की ओर से (1983 की सि० अ० सं० 6392 में)	सर्वश्री ए० के० गांगुली, एस० के बग्गा और एन० एस० दास बहल
दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से	सर्वश्री पी० पी० राव और ए० के० गांगुली
प्रत्यर्थियों (असम राज्य) की ओर से	श्री एस० एन० चोधरी
प्रत्यर्थी, भारत संघ की ओर से	श्री के० जी० भगत, अपर महासालिसिटर कुमारी ए० सुभाषिणी और श्री आर० एन० पोद्दार
प्रत्यर्थी—उत्तर प्रदेश राज्य की ओर से	श्री कपिल सिबल और श्रीमती शोभा दीक्षित
प्रत्यर्थी—पश्चिमी बंगाल राज्य की ओर से	सर्वश्री डो० पी० मुखर्जी और जी० एस० चटर्जी
प्रत्यर्थी—कर्नाटक राज्य की ओर से	सर्वश्री जी० एस० नारायण, अश्विनि कुमार, सी० वी० सुब्बा राव, स्वराज कौशल और एम० वीरप्पा
प्रत्यर्थी—आन्ध्र प्रदेश राज्य की ओर से	सर्वश्री के० पराशर और वी० पार्थसारथी
प्रत्यर्थी की ओर से	श्री योगेश्वर प्रसाद और श्रीमती रानी छाबड़ा
प्रत्यर्थी—केरल राज्य की ओर से	श्री पी० के० पिल्लै
हिमाचल प्रदेश राज्य की ओर से	श्री पी० एन० नाग, महाधिवक्ता
उड़ीसा राज्य की ओर से	सर्वश्री पी० आर० मृदुल और आर० के० मेहता

जम्मू-कश्मीर राज्य की ओर से श्री अल्ताफ अहमद

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति पी० एन० भगवती ने दिया।

न्यायाधिपति भगवती—

रिट पिटीशनों के इस समूह में चिकित्सा महाविद्यालयों में स्नातक पूर्व और स्नातकोत्तर दोनों ही स्तरों पर प्रवेशों को प्रभावित करने वाला बहुत ही राष्ट्रीय महत्व का एक प्रश्न उद्भूत हुआ है। प्रश्न यह है कि क्या संवैधानिक मूल्यों के अनुसार किसी राज्य में स्थित चिकित्सा महाविद्यालय या उच्च शिक्षा प्रदान करने वाले किसी अन्य संस्थान में प्रवेशों को केवल उन व्यक्तियों तक सीमित किया जा सकता है जिनका राज्य में 'अधिवास' है अथवा जो किन्हीं निश्चित वर्षों से राज्य में निवासी हैं या क्या उनके लिए प्रवेश में कोई आरक्षण किया जा सकता है जिससे उन्हें उन लोगों पर अधिमानता दी जा सके जिनके पास योग्यता के बावजूद राज्य के अधिवासी या निवासी होने की अर्हता नहीं है। यह प्रश्न आजकल के संदर्भ में बहुत ही महत्वपूर्ण बन गया है, क्योंकि हम यह पाते हैं कि राष्ट्र की अखण्डता को क्षेत्रीयतावाद, भाषावाद और सम्प्रदायवाद से खतरा है और क्षेत्रीय भाषा और सम्प्रदाय विषयक निष्ठाएं राष्ट्रीय जीवन में वर्चस्व प्राप्त कर रही है और उससे राष्ट्रीय अखण्डता छिन्न-भिन्न और नष्ट हो रही है। हम यह भूल जाते हैं कि भारत एक राष्ट्र है और हम सब प्रथमत: भारतीय हैं और उसके सिवाय कुछ नहीं। यह समय है जब हम स्वयं इस बात का स्मरण कर सकते हैं कि आधुनिक भारत के महान स्वप्नद्रष्टा एवं राष्ट्र-निर्माता जवाहरलाल नेहरू ने कहा है: "कौन मरता है, यदि भारत जीवित रहता है; कौन जीवित रहता है, यदि भारत समाप्त होता है?" हमें अवश्य ही यह बात महसूस करनी चाहिए और यह दुर्भाग्य की बात है कि सार्वजनिक जीवन में बहुत से व्यक्ति कभी-कभी ऐतिहासिक बातों की अनभिज्ञता से और कभी-कभी जान-बूझकर अपने स्वयं के हित अग्रसर करने की दृष्टि से इस बात की उपेक्षा करते हैं, किन्तु वह राष्ट्रीय हित क्षेत्रीयतावाद, भाषा या सम्प्रदायवाद से उद्भूत होने वाली किन्हीं अन्य बातों पर अनिवार्यतः और सदैव के लिए अभिभावी होना चाहिए। यदि हम केवल इन्हीं मूल बातों को अपने ध्यान में रखते हैं और संविधान निर्माताओं द्वारा निर्दिष्ट निश्चित पथ का अनुसरण करते हैं, तो हमारे विचार से रिट पिटीशनों के इस समूह में उद्भूत प्रश्न को हल करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

2. पिछली कुछ शताब्दी का भारतीय इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि भारत किसी भी समय एक राजनीतिक यूनिट नहीं था। मौर्य वंश के शासनकाल के दौरान भी, यद्यपि देश का अधिकांश भाग मौर्य राजाओं के साम्राज्य के अधीन था, राज्यक्षेत्र के कई ऐसे भाग थे जो स्वतंत्र राज्यों के शासन के अधीन थे। इसी प्रकार मुगल साम्राज्य के, जो भारत राज्यक्षेत्र के अधिकांश भागों पर था, दौरान भी, कई स्वतंत्र शासक थे जिनकी अपने-अपने राज्यक्षेत्रों पर स्वतंत्र राजनीतिक प्रभुसत्ता दी। इतिहास का यह एक रुचिकर तथ्य है कि भारत न तो सामान्य भाषा के आधार पर और न ही उसके राज्यक्षेत्रों पर एकल राजनीतिक प्रभुसत्ता के सतत अस्तित्व के कारण एक राष्ट्र था किन्तु वह ऐसी सामान्य संस्कृति के कारण राष्ट्र के रूप में अस्तित्व में आया था जो कई शताब्दियों में विकसित हुई थी। यह सांस्कृतिक एकता ही है जो अधिकतर मूलभूत है और यह सुनिश्चित करती है कि कोई अन्य तत्व भी है जो भारत की जनता को एक साथ मिला सकता है और जिसने इस देश को राष्ट्र के रूप में खड़ा किया है। किन्तु ब्रिटिश साम्राज्य के रहने तक वह एक राजनीतिक यूनिट नहीं बन सका था। सम्पूर्ण इतिहास के दौरान, जिसका हमने उचित रूप से प्राधिकृत लेखा तैयार किया है, कई साम्राज्य और राजा एक दूसरे से प्रायः लड़ते रहते थे। ब्रिटिश शासन के दौरान भारत एक संघटित राजनीतिक एकक बना था, जिसका उसके सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र पर एक ही राजनीतिक साम्राज्य था और इसके परिणामस्वरूप राष्ट्र की संकल्पना उद्भूत हुई थी। एक राष्ट्र की यह संकल्पना महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता की लड़ाई के दौरान जनता के दिलो-दिमाग में अच्छी तरह से बैठ गई थी। उन्हें सही रूप से राष्ट्रपिता कहा गया है, क्योंकि उन्होंने ही इस देश की जनता में राष्ट्रीयता की भावना जगाई थी और उनमें राष्ट्र की एक उच्च भावना भी स्थापित की थी जिसके बिना देश को राष्ट्र के रूप में स्थापित करना संभव नहीं था। भारतीय संविधान के अधिनियमित किए जाने के समय तक टूटा हुआ भारत अहिंसक क्रांति का नया मार्ग अपना रहा था और वह विदेशी साम्राज्य से किसी डर के बिना स्वयं को मुक्त करने के लिए लड़ रहा था और उसमें राष्ट्रीयता की भावना उद्भूत हो गई थी तथा भारत के लोग एक नए उत्साह और त्याग की उच्च और आदर्श भावना से प्रेरित थे और इसके अतिरिक्त उनमें राष्ट्रीयता की एक प्रबल भावना भी थी और संविधान में, जो उन्होंने विरचित किया था, वे कतिपय महत्वपूर्ण मूल्यों पर आधारित जिनके लिए उन्होंने लड़ाई की थी, एक मजबूत राष्ट्र के निर्माण के काम में लग गए।

3. इसलिए भारत के संविधान की उद्देशिका बहुत ही सावधानी और सतर्कता से बनाई गई, ताकि वह संविधान के निर्माताओं के उच्च प्रयोजन और आदर्श उद्देश्य को प्रतिबिंबित कर सके। उद्देशिका संविधान के उच्च उद्देश्य को प्रदर्शित करती है जो इस प्रकार है—

"हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को—

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता

प्रतिष्ठा और अवसर की समता

प्राप्त करने के लिए

तथा उन सब में

व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई० (मिती मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मर्पित करते हैं।"

ये शब्द जनता की आशाओं और भावनाओं को व्यक्त करते हैं और संविधान में अन्तर्निहित सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक दार्शनिकता को भी प्रकट करते हैं और अपने सम्पूर्ण महत्व को प्रकट करते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि उद्देशिका इस बात पर बल देती है कि वे लोग, जिन्होंने स्वयं इस महत्वपूर्ण दस्तावेज को समर्पित किया है, भारत के लोग हैं, भारत नाम के इस महान् राष्ट्र के नागरिक हैं उद्देशिका भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने तथा उसके समस्त नागरिकों में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करती है और बन्धुता बढ़ाने की बात सुनिश्चित करती है। संविधान-निर्माता देश के पिछले इतिहास के बारे में जागरूक थे और वे इन बातों के बारे में भी जागरूक थे कि क्षेत्रीयतावाद भाषावाद और संप्रदायवाद की विभेदकारी ताकतें एक दिन अपना कुरूप सिर उठा सकती हैं और राष्ट्र की

एकता और अखण्डता के बारे में खतरा पैदा कर सकती हैं, विशेषतः भारत के विभाजन के संदर्भ में तथा नए आयाम ग्रहण करने वाले साम्राज्यवादी ताकतों का जो स्पष्ट रूप से क्षति पहुंचाने वाली नहीं थी, किंतु भारत को कमजोर करने वाली थीं, सदैव वर्तमान खतरा था और उन ताकतों ने अपने पैर पुनः जमा लिए थे, इसलिए संविधान-निर्माताओं ने संविधान की उद्देशिका में राष्ट्र की एकता और अखण्डता पर बहुत ही बल दिया है। इसके पश्चात् संविधान के अनुच्छेद 1 में यह घोषणा की गई है कि भारत राज्यों का संघ होगा, किन्तु उसमें इन बातों पर बल दिया गया है कि, यद्यपि वह राज्यों का संघ होगा, फिर भी वह एक राष्ट्र है और उसकी एक ही नागरिकता है। नागरिकता से संबंधित संविधान का भाग-2 केवल भारतीय नागरिकता को ही मान्यता प्रदान करता है। वह संघ का भाग बनने वाले किसी राज्य की नागरिकता को मान्यता प्रदान नहीं करता है। उसके पश्चात् अनुच्छेद 14 और 15 आते हैं जो राज्य की कार्यवाही में, चाहे विधायी हो या प्रशासनिक, विभेद और मनमानेपन को अभिखण्डित करने के लिए आशयित हैं वे इस प्रकार हैं—

"अनुच्छेद 14 : राज्य, भारत के राज्यक्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से या विधियों के समान संरक्षण के वंचित नहीं करेगा।

अनुच्छेद 15 : (1) राज्य, किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।

(2) कोई नागरिक केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर—

(क) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश; या

(ख) पूर्णतः या भागतः राज्य-निधि से पोषित या साधारण जनता के प्रयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नान-घाटों, सड़कों और सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग, के बारे में किसी भी नियोग्यता, दायित्व, निर्बन्धन या शर्त के अधीन नहीं होगा।

(3) इस अनुच्छेद की या अनुच्छेद 29 के खण्ड (2) की कोई बात राज्य को सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कोई विशेष उपबन्ध करने से निवारित नहीं करेगी।"

अनुच्छेद 19(1) पुनः राष्ट्र की एकता और अखण्डता को मान्यता प्रदान करता है और खण्ड (घ) और (ङ) में यह उपबन्ध करके कि प्रत्येक नागरिक को भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण और भारत के राज्यक्षेत्र के किसी भी भाग में निवास करने और बस जाने का अधिकार होगा, राष्ट्र की संकल्पना को पुन: बल प्रदान करता है। अनुच्छेद 301 में यह घोषणा की गई है कि भाग 3 के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र व्यापार, वाणिज्य और समागम अबाध होगा। इसके पश्चात् संविधान के कतिपय अनुच्छेदों में कुछ स्थितियां अनुध्यात हैं जैसे कि अनुच्छेद 353 और 356 हैं जिनमें संघ का भाग बनने वाले राज्य की कार्यपालक शक्ति का केन्द्रीय सरकार द्वारा अथवा केन्द्रीय सरकार के निदेशों के अधीन प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार सम्पूर्ण देश को ही एक नागरिकता के साथ एक राष्ट्र के रूप में माना गया है तथा संविधान निर्माताओं का हर प्रयत्न राष्ट्र की एकता और अखण्डता को बनाए रखने और परिरक्षित करने पर बल देने के बारे में है। अब यदि भारत एक राष्ट्र है और केवल एक ही नागरिकता है अर्थात्, भारत की नागरिकता और प्रत्येक नागरिक को भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण और भारत के राज्यक्षेत्र के किसी भाग में इस बात के बावजूद भी बस जाने का अधिकार है कि स्थान जहां उसका जन्म हुआ है अथवा भाषा जो वह बोलता है अथवा धर्म जिसका वह पालन करता है, क्या है, और उसे भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र व्यापार, वाणिज्य और समागम करने की स्वतंत्रता प्रत्याभूत की गई है और वह भारत के राज्यक्षेत्र के प्रत्येक भाग में अन्य नागरिकों के साथ विधि के समक्ष समता और विधि के समान संरक्षण के लिए हकदार है, तब यह बात स्वीकार करना कठिन है कि किस प्रकार से तमिलनाडु में स्थायी रूप से निवास करने वाले नागरिक या तमिल भाषा बोलने वाले नागरिक को उत्तर प्रदेश में बाहरी व्यक्ति के रूप में माना जा सकता है अथवा महाराष्ट्र में स्थायी रूप से निवास करने वाले या मराठी भाषा बोलने वाले व्यक्ति को कर्नाटक में बाहरी व्यक्ति के रूप में माना जा सकता है। उसे उन्हीं अधिकारों का हकदार व्यक्ति अभिनिर्धारित

किया जाना चाहिए जो यथास्थिति उत्तर प्रदेश या कर्नाटक में स्थायी निवास-गृह वाले नागरिक के होते हैं। उसे बाहरी व्यक्ति के रूप में मानना, उसके सांविधानिक अधिकारों से उसे वंचित करना होगा तथा देश के साथ इस प्रकार व्यवहार करके मानो कि वह स्वतंत्र राज्यों का केवल संगुट है, देश की एकता और अखण्डता को अमान्य करना होगा।

4. किन्तु दुर्भाग्य से हमें यह प्रतीत होता है कि पिछले कुछ वर्षों में हितबद्ध दलों ने स्वयं लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से संकीर्णता अपनायी है जो राष्ट्र की एकता और अखण्डता के लिए गंभीर खतरे के रूप में विकसित हुई है तथा भारत की राष्ट्र के रूप में, मूल संकल्पना ही खतरे में है। यह आशंका कुछ स्थानों पर गंभीर है, जबकि अन्य स्थानों पर उसका आभास अभी नहीं हो रहा है और लोग अनुपघातक, बल्कि ऊपर से आकर्षण भाषा के आवरण में गुमराह हो रहे हैं। इसका कारण यह है कि जब संविधान प्रवृत्त हुआ तब उन्होंने राष्ट्रीयता की भावना आगे कुछ किये बिना वैसे ही मान लिया और उसके पोषण के लिये बहुत ही कम ध्यान दिया और हम इस तथ्य के बारे में जागरूक नहीं थे कि यह बहुत ही कठिन संकल्पना है। हमने संबंधित राज्य में निवास के आधार पर होने वाले विशेष व्यवहार के दावे को बढ़ाने के लिये भूमि-पुत्रों की मागों को स्वीकार किया, क्योंकि ऐसी मांगों को मान्यता प्रदान करना और स्वीकार करना जनता को पसन्द था। इसका परिणाम यह है कि यदि भूमि-पुत्रों की मांग, यद्यपि वह बिल्कुल ही अवैध नहीं हैं, युक्तियुक्त सीमाओं के भीतर रहती है, तो वह भाषा और राज्य में निवास-स्थान के आधार पर आधारित संकीर्णता की बातों पर बल देकर राष्ट्र की एकता और अखण्डता को भंग कर रही है। आज दुर्भाग्य से कोई नागरिक, जिसका किसी राज्य में अपना स्थायी निवास-स्थान है, यह महसूस करता है कि उसे राज्य में किसी पद पर नियुक्त किये जाने के लिये अथवा राज्य के भीतर किसी शैक्षणिक संस्थान में प्रवेश के लिये ऐसे किसी नागरिक के मुकाबले अधिमान प्राप्त होना चाहिये जिसका किसी अन्य राज्य में स्थायी निवास-स्थान है, क्योंकि पश्चात्वर्ती व्यक्ति बाहरी व्यक्ति है और उसे ऐसे नागरिक की तुलना में अवश्य ही स्थान मिलना चाहिये जो योग्यता के बावजूद राज्य का स्थायी निवासी नहीं है। इस प्रकार, हमारी राय में, यह एक बहुत ही खतरनाक भावना है जो, युक्तियुक्त सीमाओं के भीतर निवास के आधार पर आधारित अधिमानता की नीति को उस दशा में न्यायोचित ठहरा सकती है, यदि उसे किसी भेदभाव के बिना बढ़ने दिया जाए। वह एक दिन देश को कई टुकड़ों में विभाजित कर सकती है, यद्यपि हम अभी-अभी इस बात को बतलाएंगे कि

शिक्षा के और स्वयं को आगे बढ़ाने के अवसर की समता का सिद्धांत, युक्ति-युक्त समय के भीतर निवास-स्थान के आधार पर आधारित अधिमानता की नीति को न्यायोचित ठहरा सकता है।

5. हम इस प्रक्रम पर यह बतला सकते हैं कि यद्यपि अनुच्छेद 15(2) न केवल धर्म, मूलवंश, जाति या लिंग के आधार पर ही विभेद का प्रतिषेध करता है, बल्कि जन्मस्थान के आधार पर भी विभेद का प्रतिषेध करता है। अनुच्छेद 16(2) इससे भी आगे यह उपबंध करता है कि कोई नागरिक केवल धर्म, मूलवंश जाति, लिंग, उद्भव, जन्मस्थान, निवास या इनमें से किसी के आधार पर राज्य के अधीन किसी नियोजन या पद के संबंध में अपात्र नहीं होगा या उससे विभेद नहीं किया जाएगा। जहां तक राज्य या किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन नियोजन का संबंध है, किसी भी नागरिक को अधिमानता नहीं दी जाएगी और न ही केवल निवास के आधार पर उसके साथ कोई भेदभाव किया जाएगा। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि निवास की आवश्यकता राज्य के अधीन किसी पद के नियोजन या नियुक्ति की पात्रता की शर्त में असांविधानिक होगी और **रमण दयाराम शेट्टी बनाम भारत का अन्तर्राष्ट्रीय विमानपत्तन प्राधिकरण और अन्य**[1] वाले मामले में 'राज्य' शब्द के दिए गए व्यापक अर्थ को देखते हुए यह बात स्पष्ट है कि इस सांविधानिक प्रतिषेध में राज्य या किसी निगम में किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकार के अधीन कोई पद भी सम्मिलित होगा जैसे कि पब्लिक सैक्टर का निगम जो राज्य का प्रशासनतंत्र या अभिकरण है। किन्तु अनुच्छेद 16(3) इस नियम का एक अपवाद उपबंधित करता है जिसमें यह अधिकथित किया गया है कि संसद् कोई ऐसी विधि बना सकेगी जो राज्य या संघ राज्य-क्षेत्र की सरकार के या उसमें के किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन किसी पद पर किसी वर्ग या वर्गों के नियोजन या नियुक्ति के संबंध में ऐसे नियोजन या नियुक्ति के पूर्व उस राज्य या संघ राज्यक्षेत्र के भीतर निवास विषयक कोई अपेक्षा विहित करती है। केवल संसद् को ही निवास पर आधारित विभेद पर पाबन्दी लगाने के लिए अपवाद अधिनियमित करने का अधिकार दिया गया है और वह भी केवल राज्य सरकार के नियोजन के पदों के संबंध में ही है। इस पर भी ऐसा करने के लिए राज्य सरकारों को अनुज्ञात करने वाली किसी संसदीय अधिनियमिति के बिना भी बहुत सी राज्य सरकारें बहुत लम्बे समय से स्थानीयता की नीति का अनुसरण कर रही हैं और अब ये नीतियां

---

[1] [1980] 2 उम० नि० प० 961=[1979]3 एस० सी० आर० 101 4.

बहुत व्यापक रूप से फैल गई हैं। वास्तव में, संसद् ने राज्य द्वारा विरचित इन नीतियों पर कुछ नियंत्रण लगाया है। संसद् ने निवास संबंधी अपेक्षा निश्चित करने की दृष्टि से उसे अधिकार देने के लिए अनुच्छेद 16(3) के अधीन जो एकमात्र कार्रवाई की है, वह पब्लिक एम्पलायमेंट (रिक्वायरमेंट एज टू रेजीडेंस) ऐक्ट, 1957 की अधिनियमिति है जिसका उद्देश्य राज्यों में निवास संबंधी सभी विद्यमान अपेक्षाओं को समाप्त करना है और केवल आंध्र प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा और हिमाचल प्रदेश के विशेष मामलों में ही अपवाद अधिनियमित करना है। इसलिए इस समय आन्ध्र प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा और हिमाचल प्रदेश के मामलों में अनुज्ञात करने के सिवाय, निवास संबंधी अपेक्षा पर आधारित अधिमानी नीतियां अनुज्ञात करने वाली कोई भी संसदीय अधिनियमिति नहीं है। आन्ध्र प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा और हिमाचाल प्रदेश में केन्द्रीय सरकार की अधीनस्थ सेवाओं में सेवा संबंधी अपेक्षाएं विहित करने के लिए निदेश देने के अधिकार दिए गए हैं। फिर भी अनुच्छेद 16(2) को देखते हुए कुछ राज्य और राज्य सरकार या किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकरण या पब्लिक सैक्टर के निगम या अन्य निगम, जो राज्य का प्रशासनिक तंत्र या अभिकरण है, के अधीन किसी पद के नियोजन या उस पर नियुक्ति के लिये अधिवास या निवास सम्बन्धी अपेक्षा पर आधारित आरक्षण या अधिमानता विहित करने वाली भूमि-पुत्र की नीतियां अपना रहे हैं। प्रथमदृष्टया, सांविधानिक रूप से यह बात अननुज्ञेय होगी, यद्यपि हम इस पर कोई निश्चित राय व्यक्त नहीं करना चाहते हैं, क्योंकि उससे इन रिट पिटीशनों और सिविल अपील में विचारार्थ कोई प्रश्न प्रत्यक्ष रूप से उद्भूत नहीं होता।

6. किन्तु यह बात स्पष्ट है कि जहां तक कि चिकित्सा महाविद्यालय जैसी, किसी शैक्षणिक संस्था में प्रवेश का संबंध है, अनुच्छेद 16(2) लागू नहीं होता है। इसलिये यदि किसी राज्य के चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए निवास संबंधी कोई अपेक्षा है, तो उसकी इस आधार पर निन्दा नहीं की जा सकती कि उससे संविधान के अनुच्छेद 16(2) का अतिक्रमण होता है और इसीलिए वह, असंवैधानिक है। और न ही निवास संबंधी ऐसी किसी अपेक्षा को अविधिमान्य करने के लिए अनुच्छेद 16(2) को लागू किया जा सकता है, क्योंकि अनुच्छेद 16(2) जन्म-स्थान के आधार पर, न कि निवास के आधार पर, विभेद को प्रतिषिद्ध करता है और जैसा कि **डी० पी० जोशी बनाम मध्य**

भारत राज्य[1] के मामले में इस न्यायालय ने बतलाया है, निवास स्थान और जन्मस्थान दो भिन्न संकल्पनाएं हैं और वास्तव में विधि की दृष्टि से दोनों की भिन्न अर्थव्याप्तियां हैं। एकमात्र संवैधानिक उपबंध, जिसकी कसौटी पर निवास संबंधी ऐसी अपेक्षा कसी जा सकती है, अनुच्छेद 14 है और निश्चित रूप से उसे ही चुनौती दी गई है और जिस पर इन रिट पिटीशनों में हमें विचार करना है।

7. हमारे देश के लगभग सभी राज्यों में चिकित्सा महाविद्यालय में प्रवेश के लिए निवास संबंधी अपेक्षाएं हैं। कभी-कभी इस अपेक्षा को इन शब्दों में व्यक्त किया जाता है कि आवेदक का राज्य में अपना अधिवास अवश्य ही होना चाहिए। हमें भारत संघ में राज्यों के संबंध में 'अधिवास' शब्द के प्रयोग का विरोध अवश्य ही करना चाहिए। 'अधिवास' शब्द उस स्वीय विधि का अभिज्ञान, करने के लिए है जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति विभिन्न बातों के संबंध में शासित होता है, जैसे कि विवाह, पति और पत्नी के सम्पत्ति संबंधी अधिकारों पर विवाह का प्रभाव, विवाह-विच्छेद और विवाह की अकृतता, अवैधता और वैधता तथा दत्तक-ग्रहण और जंगम सम्पत्तियों के संबंध में वसीयती और निर्वसीयती उत्तराधिकार। हैल्स बरीज लॉज ऑफ इंग्लैंड, चतुर्थ संस्करण, जिल्द 8, पैरा 421 में 'अधिवास' के बारे में यह बतलाया गया है कि अधिवास किसी व्यक्ति और ऐसे राज्यक्षेत्र के बीच जिसकी सुभिन्न विधिक पद्धति है और जो उस पद्धति को उसकी स्वीय विधि के रूप में लागू करता है, विधिक संबंध है। यह बात अच्छी तरह से सुस्थिर है कि किसी व्यक्ति का अधिवास उस देश में होता है जिसमें या तो उसका स्थायी मकान होता है अथवा जिसकी बाबत विधि द्वारा यह समझा जाता है कि उसमें उसका स्थायी मकान है। जैसा कि लार्ड क्रानवर्थ ने विकल बनाम होम्स[2] के मामले में बतलाया है, अधिवास से हमारा अभिप्राय स्थायी मकान है। अधिवास की संकल्पना के मूल में एकमात्र धारणा स्थायी मकान की है। किन्तु मूल रूप से वह इस बात का अवधारण करने के प्रयोजन के लिए एक विधिक संकल्पना है कि किसी व्यक्ति को लागू होने वाली स्वीय विधि क्या है और यदि किसी व्यक्ति का स्थायी मकान नहीं है, तो भी उसमें विधि द्वारा अधिवास विनिहित किया गया है। अधिवास के मुख्यतः दो प्रवर्ग हैं। मूलतः, अधिवास जो जन्म के कारण प्रत्येक व्यक्ति को विधि के प्रवर्तन से अर्थात्

---

[1] [1955] 1 एस० सी० आर० 1215.

[2] [1858] 7 एच० एल० केसेज 124.

उसके पिता या उसकी माता के अधिवास से और इस बात से कि वह वैध या अवैध है तथा उससे कि अधिवास की उसकी पसन्द क्या है दिया जाता है, उसकी ऐसी पसन्द जिसे रखने के लिए प्रत्येक पूर्ण वयस्क व्यक्ति अपने उस स्थान के बदले में स्थान अर्जित करने के लिए स्वतंत्र है जो उसके पास वर्तमान में है। किसी व्यक्ति को मूल अधिवास उसके जन्म से प्रदान किया जाता है, जबकि पसन्द का अधिवास किसी ऐसे राज्यक्षेत्र में निवास द्वारा अर्जित किया जाता है जो कि सुभिन्न विधिक पद्धतियों के अध्यधीन होता है और जिसमें स्थायी रूप से या अनिश्चितकाल तक रहने का आशय होता है। अधिवास का क्षेत्र, चाहे वह मूल अधिवास हो या पसन्द का अधिवास हो, वह देश है जिसकी सुभिन्न विधिक पद्धतियां हैं, न कि देश में ऐसा कोई विशेष स्थान जहां व्यक्ति निवास करता हो। यह स्थिति हैल्सबरीज लॉज ऑफ इंग्लेंड (चतुर्थ संस्करण) जिल्द 8 के पैरा 142 में स्पष्ट रूप से और जोर देकर बतलाया गया है जिसमें यह कहा गया है कि "प्रत्येक व्यक्ति, जिसका एकल विधि की पद्धति को राज्य-क्षेत्रीय सीमाओं के भीतर स्थायी निवास-गृह हो अथवा जिसके बारे में विधि के अधीन यह समझा जाता है कि उसका वहां पर स्थायी निवास है उस देश में अधिवसित है जिस पर उस पद्धति का विस्तार है; और वह उस संपूर्ण देश में अधिवसित है, यद्यपि उसका मकान उसके भीतर किसी निश्चित स्थान पर बना हो सकता है। यह भी कि, परिसंघी शासन-प्रणाली में क्या स्थिति होगी, हैल्सबरीज लाज आफ इंग्लैंड, चतुर्थ संस्करण की जिल्द 8 के उसी पैरा में उल्लिखित है। परिसंघीय राज्यों में विधि की कुछ शाखाएं परिसंघीय प्राधिकारियों की सक्षमता के भीतर होती हैं और इन प्रयोजनों के लिए संपूर्ण परिसंघ एकल विधि की पद्धति के अध्यधीन होगा और ऐसे व्यक्ति की बाबत सम्पूर्ण परिसंघ में यह कहा जा सकेगा कि उसका अधिवास है; विधि की अन्य शाखाएं परिसंघ के राज्यों या प्रान्तों की सक्षमता के भीतर होती हैं तथा व्यक्ति केवल राज्य या प्रान्त में ही अधिवसित होगा। चूंकि अधिवास के संबंध में यह सही विधिक स्थिति है, इसलिए, अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि क्या भारत संघ का भाग बनने वाले राज्य में अधिवास जैसी कोई बात हो सकती है।

8. संविधान को पढ़ने पर अब यह बात स्पष्ट है कि वह केवल एक अधिवास को अर्थात् भारत में अधिवास को ही मान्यता प्रदान करता है। संविधान का अनुच्छेद 5 स्पष्ट है और वह इस मुद्दे की बाबत स्पष्ट है और उसमें केवल एक अधिवास के प्रति अर्थात् 'भारत के राज्यक्षेत्र में अधिवास' के प्रति ही निर्देश किया गया है। तथापि, इस बात को ध्यान में रखा जाना

चाहिए कि भारत परिसंघीय राज्य के पारम्परिक अर्थ में परिसंघीय राज्य नहीं है। वह ऐसे प्रभुत्व सम्पन्न राज्य का संगठन नहीं है जो परिसंघीय राज्य को अपने प्रभुत्व के भाग का त्याग करके परिसंघ बनने के लिए एकत्र हुए हैं। निःसन्देह उसके कतिपय परिसंघीय लक्षण हैं, किन्तु वह अभी भी परिसंघीय राज्य नहीं है और उसकी केवल एक ही नागरिकता है अर्थात् भारत की नागरिकता है। उसकी केवल एक एकीकृत विधिक पद्धति भी है जिसका विस्तार सम्पूर्ण देश पर है। यह कहना संभव नहीं है कि भारत संघ का भाग बनने वाले प्रत्येक राज्य में एक सुभिन्न और पृथक् विधिक पद्धति प्रचलित है। ऐसी विधिक पद्धति जो भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र में प्रचलित है, एक एकल अविभाज्य पद्धति है और उसकी एकल एकीकृत न्याय-पद्धति है और साधन तंत्र के शीर्ष पर भारत का उच्चतम न्यायालय है जो सम्पूर्ण देश के लिए विधि अधिकथित करता है। यह बात सही है कि संविधान की सप्तम् अनुसूची की द्वितीय सूची में उल्लिखित विषयों के संबंध में राज्यों को विधियां बनाने की शक्ति है तथा संसद् की अध्यारोही शक्ति के अध्यधीन राज्य संविधान की सप्तम् अनुसूची की तृतीय सूची में उल्लिखित विषयों के संबंध में विधियां बना सकते हैं, किन्तु विधिक पद्धति जिसकी व्यवस्था के अधीन राज्यों द्वारा ऐसी विधियां बनाई गयी हैं, एकल विधिक पद्धति है जिसे सही रूप में भारतीय विधिक पद्धति कहा जा सकता है। यह सुझाव देना गलत होगा कि विधिक पद्धति हर राज्य में भिन्न-भिन्न है अथवा राज्य की विधिक पद्धति भारत संघ की विधिक पद्धति से भिन्न है वह भी केवल इसलिए क्योंकि उनकी विधायी सक्षमता के भीतर विषयों के संबंध में राज्यों को विधियां बनाने की शक्ति है। 'अधिवास' की संकल्पना का नगरपालिक विधियों को लागू होने के बारे में कोई संगति नहीं है, चाहे वे भारत संघ द्वारा या राज्यों द्वारा बनाई गयी हों। इसलिए हमारी राय में यह कहना सही नहीं होगा कि भारत का नागरिक किसी एक राज्य में अथवा भारत संघ का भाग बनने वाले किसी अन्य राज्य में अधिवसित हैं। अधिवास जो कि उसका है, केवल एक ही है, अर्थात् भारत के राज्यक्षेत्र में अधिवास। जब कोई व्यक्ति किसी एक राज्य का स्थायी निवासी है, किसी अन्य राज्य में स्थायी या अनिश्चितकाल तक रहने के लिए जाता है, तो उसके अधिवास में कोई परिवर्तन नहीं होता है, वह अपनी पसन्द का नया अधिवास अर्जित नहीं करता। उसका अधिवास वही अर्थात् भारतीय अधिवास बना रहता है। हम समझते हैं कि राज्य में अधिवास पद के अनुसार विचार करना भारत की एकता और अखण्डता की संकल्पना के बहुत ही अपायकर है। यह बात सही है और हम राज्य सरकारों की ओर से दिए गए इस तर्क से सहमत हैं कि कुछ राज्य सरकारों ने अपने

राज्यक्षेत्रों के भीतर स्थित चिकित्सा महाविद्यालय में प्रवेश के लिए अधिवास संबंधी अपेक्षा विहित करने वाले नियमों में 'अधिवास' शब्द का उपयोग उसके तकनीकी विधिक अर्थ में नहीं किया है, बल्कि उसका उपयोग एक बहुत ही आम अर्थ में किया है और उससे निवास करना अभिप्रेत है और उससे स्थायी या अनिश्चितकाल तक निवास करने के विचार को प्रकट करना आशयित है। वास्तव में वह वही अर्थ है जिसमें डी० पी० जोशी[1] के मामले में इस न्यायालय के पांच न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने मध्य भारत चिकित्सा महाविद्यालय में प्रवेश के लिए 'कैपिटेशन फीस' विहित करने वाले नियम का अर्थान्वयन करते हुए समझा था। वह उसी अर्थ में नहीं था जिसमें कि 'अधिवास' शब्द को वसुन्धरा बनाम मैसूर राज्य[2] के मामले में मैसूर राज्य द्वारा बनाए गए चयन नियमों के नियम 3 में समझा गया था। इसलिए हम कुछ राज्यों द्वारा चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश को विनियमित करने वाले नियमों में प्रयुक्त 'अधिवास' शब्द का निर्वचन स्थायी निवास के उसी अस्पष्ट अर्थ में करेंगे, न कि ऐसे तकनीकी अर्थ में जिसमें उसका प्राइवेट अन्तर्राष्ट्रीय विधि में उपयोग किया गया है। इस पर भी हम भारत संघ का भाग बनने वाले राज्यों के प्रति निर्देश से 'अधिवास' शब्द के उपयोग के विरुद्ध चेतावनी देना चाहेंगे, क्योंकि वह ऐसा शब्द है जिससे स्वतंत्र राज्य की धारणा की कल्पना करना संभाव्य है और यह अमूर्त और विश्वासघाती रीति से विभिन्न क्षेत्रों की प्रभुत्ता विषयक सुषुप्त प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा। हम समझते हैं कि उस अर्थ से, जो वर्षों से विधिक प्रथा के परिणामस्वरूप उससे साधारणत: संबंधित है, भिन्न अर्थ सम्प्रेषित करने के लिए विधिक संकल्पना का उपयोग खतरनाक है। जब हम ऐसे शब्द का उपयोग करते हैं, जो किसी संकल्पना का प्रतिनिधित्व करने के लिए उपयोग में आया है अथवा ऐसा विचार जो भिन्न संकल्पना या विचार को सम्प्रेषित करने के लिए आया है, तो इस उपधारणा की संकल्पना करना सरल है कि मौखिक पहचान के साथ-साथ अर्थ की पहचान अपने सभी अनुक्रम में होती है। यदि अधिवास की संकल्पना का उपयोग उसके वैध प्रयोजन से भिन्न प्रयोजन के लिए किया जाता है, तो उसका ऐसा घातक लचीला परिणाम हो सकता है जिसमें दीर्घकालावधि में देश की एकता और अखण्डता को तोड़ने की प्रवृत्ति हो सकती है। इसलिए हम राज्य सरकारों पर इस बात पर जोर देंगे कि वे अपनी शैक्षणिक संस्थानों में और विशेषत: चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश को विनियमित करने वाली

---

[1] [1955] 1 एस० सी० आर० 1215.

[2] [1971] 3 उम० नि० प० 7=[1971] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 381.

नियमावली से 'अधिवास' शब्द का गलत उपयोग करने से बचें तथा ऐसे प्रवेशों की पात्रता की शर्त के रूप में अधिवास संबंधी अपेक्षा का सूत्रपात करने और उसे बनाए रखने से प्रविरत रहें।

9. अब हम इस बात पर विचार कर सकते हैं कि क्या तकनीकी और चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए निवास सबंधी अपेक्षा या संस्थानिक अधिमानता सांविधानिक रूप से अनुज्ञेय मानी जा सकती है। क्या वह अनुच्छेद 14 की कसौटी पर खरा उतर सकती है अथवा क्या उससे उसका अतिक्रमण होता है और उसे इसलिए अभिखण्डित किया जाना चाहिए कि वह सांविधानिक रूप से अविधिमान्य है। इस प्रश्न का उत्तर साधारणतः 'हां' या 'ना' में देना संभव नहीं है। वह विभिन्न सामाजिक और आर्थिक तथ्यों को देखते हुए विभिन्न तथ्यों को विचारार्थ अन्तर्वलित करने वाली नाजुक किन्तु जटिल समस्या को उद्भूत करती है और प्रतिस्पर्धात्मक हितों के संतुलित और सामंजस्य-पूर्ण समायोजन की मांग करती है। किन्तु इस प्रश्न पर हमारे विचार करने पूर्व यह बतलाया जा सकता है कि हमारे समक्ष रीता निरंकारी ने एक सिविल अपील अर्थात् 1983 की सिविल अपील सं० 6392 फाइल की है और पांच रिट पिटीशन अर्थात् 1983 के रिट पिटीशन सं० 8882, 8883, 1981 का रिट पिटीशन सं० 9618 और 1983 के रिट पिटीशन सं० 10658 तथा 10761 जो क्रमशः नितिन अग्रवाल, सीमा गर्ग, मीनाक्षी, अल्का अग्रवाल और शालिनी शलेन्द्र कुमार ने फाइल किए हैं। ये सिविल अपील और रिट पिटीशन दिल्ली विश्वविद्यालय से सहबद्ध और दिल्ली संघ राज्यक्षेत्र स्थित चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश से संबंधित हैं। इसके पश्चात् हमारे पास डा० श्रीमती रीना रंजीत कुमार द्वारा फाइल किया गया 1983 का रिट पिटीशन सं० 982 और नन्दिनी दफ्तरी द्वारा फाइल किया गया 1983 का रिट पिटीशन सं० 9216 है जो कर्नाटक विश्वविद्यालय में क्रमशः एम० डी० एस० कोर्स और एम० बी० बी० एस० कोर्स में प्रवेश से संबंधित है। हमारे समक्ष डा० प्रदीप जैन द्वारा फाइल किया गया 1983 का रिट पिटीशन सं० 6091 भी है जिसमें लखनऊ विश्वविद्यालय से सहबद्ध किंग जार्ज मैडिकल कालेज, लखनऊ में एम० डी० एस० कोर्स में प्रवेश चाहा गया है। जब ये रिट पिटीशन और सिविल अपील स्वीकार किए गए थे, तब हमने उनमें से कुछ में पिटीशनरों को अस्थायी प्रवेश मंजूर करते हुए अन्तरिम आदेश किए थे और हम यह बात स्पष्ट कर सकते हैं कि जब कभी हमने अन्तरिम आदेश पारित करके अनन्तिम प्रवेश मंजूर किए हैं, ऐसे अनन्तिम प्रवेशों में इन सिविल अपील और रिट पिटीशनों के परिणाम को विचार में लिए बिना कोई गड़बड़

नहीं की जायगी। हम यह भी बतला सकते हैं कि चूंकि इन सिविल अपील और रिट पिटीशनों में कर्नाटक और उत्तर प्रदेश राज्य और दिल्ली संघ राज्यक्षेत्र में चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के संबंध में निवास संबंधी अपेक्षा और संस्थानिक अधिमानता की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती दी गई है और हमें यह जानकारी दी गई है कि चूंकि निवास संबंधी ऐसी अपेक्षा या संस्थानिक अधिमानता के लिए उपबंध करने की यह समान और एक रूप परिपाटी अधिकांशतः सभी राज्यों में रही है, इसलिए हम यह निदेश देते हैं कि इन सिविल अपील और रिट पिटीशनों की सूचना भारत संघ और कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मणिपुर, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु और पश्चिमी बंगाल राज्यों को जारी की जाएं तथा वे राज्य सरकारें जिन्हें ऐसी सूचनाएं जारी की गई हैं, ऐसी सूचनाओं की उन पर तामिल हो जाने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर अधिवास या निवास संबंधी अपेक्षा के आधार पर प्रवेशों में आरक्षण के प्रश्न से विशेष रूप से संबंधित अपने प्रतिशपथ-पत्र फाइल करेंगी। कुछ राज्य सरकारें हमारे द्वारा दिए गए समय के भीतर अपने प्रतिशपथ-पत्र फाइल नहीं कर सकी हैं और तदनुसार, उन्होंने समय बढ़ाने के लिए आवेदन किए हैं तथा तारीख 30 अगस्त, 1983 के आदेश द्वारा हमने प्रतिशपथ-पत्र फाइल करने के लिए समय बढ़ा दिया है और राज्य सरकारों को अपने प्रतिशपथ-पत्रों में वे तथ्य और आंकड़े दर्शाने के निदेश दिए हैं कि जहां तक उनके राज्यों में के चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश का संबंध है, वह प्रक्रिया क्या है जिसका वे अनुसरण कर रही हैं। यह प्रतीत होता है कि अधिकांश राज्य सरकारों ने जिन्हें सूचना जारी की गई थी, अपने प्रतिशपथपत्र फाइल किए हैं यद्यपि हिमाचल प्रदेश राज्य को सूचना जारी करने का कोई आदेश नहीं दिया गया था, फिर भी उस राज्य ने प्रतिशपथ-पत्र फाइल किया है। दिल्ली विश्वविद्यालय ने अपने प्रतिशपथ-पत्र में प्रत्येक राज्य सरकार के राज्यक्षेत्र के भीतर स्थित चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए उनके द्वारा अनुसरण की जाने वाली अधिवास या निवास संबंधी अपेक्षा या संस्थानिक अधिमानता का संक्षेप में वर्णन किया है। इस निर्णय के प्रयोजन के लिए चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के संबंध में विभिन्न राज्यों में अंगीकृत और प्रचलित अधिवास या निवास संबंधी निश्चित अपेक्षा या संस्थानिक अधिमानता को अविकल रूप से सविस्तार प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है। यह कहना पर्याप्त है कि एम० बी० बी० एस० कोर्स में प्रवेश के लिए कुछ राज्यों में अधिवास या स्थायी निवास अपेक्षित है जबकि कुछ अन्य राज्यों में तीन से बीस वर्ष तक के विनिर्दिष्ट वर्षों तक के लिए निवास अपेक्षित है, जबकि कुछ राज्यों में अपेक्षा यह है कि

नियमावली से 'अधिवास' शब्द का गलत उपयोग करने से बचें तथा ऐसे प्रवेशों की पात्रता की शर्त के रूप में अधिवास संबंधी अपेक्षा का सूत्रपात करने और उसे बनाए रखने से प्रविरत रहें।

9. अब हम इस बात पर विचार कर सकते हैं कि क्या तकनीकी और चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए निवास संबंधी अपेक्षा या संस्थानिक अधिमानता सांविधानिक रूप से अनुज्ञेय मानी जा सकती है। क्या वह अनुच्छेद 14 की कसौटी पर खरा उतर सकती है अथवा क्या उससे उसका अतिक्रमण होता है और उसे इसलिए अभिखण्डित किया जाना चाहिए कि वह सांविधानिक रूप से अविधिमान्य है। इस प्रश्न का उत्तर साधारणतः 'हां' या 'ना' में देना संभव नहीं है। वह विभिन्न सामाजिक और आर्थिक तथ्यों को देखते हुए विभिन्न तथ्यों को विचारार्थ अन्तर्वलित करने वाली नाजुक किन्तु जटिल समस्या को उद्भूत करती है और प्रतिस्पर्धात्मक हितों के संतुलित और सामंजस्य-पूर्ण समायोजन की मांग करती है। किन्तु इस प्रश्न पर हमारे विचार करने पूर्व यह बतलाया जा सकता है कि हमारे समक्ष रीता निरंकारी ने एक सिविल अपील अर्थात् 1983 की सिविल अपील सं० 6392 फाइल की है और पांच रिट पिटीशन अर्थात् 1983 के रिट पिटीशन सं० 8882, 8883, 1981 का रिट पिटीशन सं० 9618 और 1983 के रिट पिटीशन सं० 10658 तथा 10761 जो क्रमश: नितिन अग्रवाल, सीमा गर्ग, मीनाक्षी, अल्का अग्रवाल और शालिनी शलेन्द्र कुमार ने फाइल किए हैं। ये सिविल अपील और रिट पिटीशन दिल्ली विश्वविद्यालय से सहबद्ध और दिल्ली संघ राज्यक्षेत्र स्थित चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश से संबंधित हैं। इसके पश्चात् हमारे पास डा० श्रीमती रीना रंजीत कुमार द्वारा फाइल किया गया 1983 का रिट पिटीशन सं० 982 और नन्दिनी दफ्तरी द्वारा फाइल किया गया 1983 का रिट पिटीशन सं० 9216 है जो कर्नाटक विश्वविद्यालय में क्रमश: एम० डी० एस० कोर्स और एम० बी० बी० एस० कोर्स में प्रवेश से संबंधित है। हमारे समक्ष डा० प्रदीप जैन द्वारा फाइल किया गया 1983 का रिट पिटीशन सं० 6091 भी है जिसमें लखनऊ विश्वविद्यालय से सहबद्ध किंग जार्ज मैडिकल कालेज, लखनऊ में एम० डी० एस० कोर्स में प्रवेश चाहा गया है। जब ये रिट पिटीशन और सिविल अपील स्वीकार किए गए थे, तब हमने उनमें से कुछ में पिटीशनरों को अस्थायी प्रवेश मंजूर करते हुए अन्तरिम आदेश किए थे और हम यह बात स्पष्ट कर सकते हैं कि जब कभी हमने अन्तरिम आदेश पारित करके अनन्तिम प्रवेश मंजूर किए हैं, ऐसे अनन्तिम प्रवेशों में इन सिविल अपील और रिट पिटीशनों के परिणाम को विचार में लिए बिना कोई गड़बड़

नहीं की जायगी। हम यह भी बतला सकते हैं कि चूंकि इन सिविल अपील और रिट पिटीशनों में कर्नाटक और उत्तर प्रदेश राज्य और दिल्ली संघ राज्यक्षेत्र में चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के संबंध में निवास संबंधी अपेक्षा और संस्थानिक अधिमानता की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती दी गई है और हमें यह जानकारी दी गई है कि चूंकि निवास संबंधी ऐसी अपेक्षा या संस्थानिक अधिमानता के लिए उपबंध करने की यह समान और एक रूप परिपाटी अधिकांशत: सभी राज्यों में रही है, इसलिए हम यह निदेश देते हैं कि इन सिविल अपील और रिट पिटीशनों की सूचना भारत संघ और कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मणिपुर, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु और पश्चिमी बंगाल राज्यों को जारी की जाएं तथा वे राज्य सरकारें जिन्हें ऐसी सूचनाएं जारी की गई हैं, ऐसी सूचनाओं की उन पर तामिल हो जाने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर अधिवास या निवास संबंधी अपेक्षा के आधार पर प्रवेशों में आरक्षण के प्रश्न से विशेष रूप से संबंधित अपने प्रतिशपथ-पत्र फाइल करेंगी। कुछ राज्य सरकारें हमारे द्वारा दिए गए समय के भीतर अपने प्रतिशपथ-पत्र फाइल नहीं कर सकी हैं और तदनुसार, उन्होंने समय बढ़ाने के लिए आवेदन किए हैं तथा तारीख 30 अगस्त, 1983 के आदेश द्वारा हमने प्रतिशपथ-पत्र फाइल करने के लिए समय बढ़ा दिया है और राज्य सरकारों को अपने प्रतिशपथ-पत्रों में वे तथ्य और आंकड़े दर्शाने के निदेश दिए हैं कि जहां तक उनके राज्यों में के चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश का संबंध है, वह प्रक्रिया क्या है जिसका वे अनुसरण कर रही हैं। यह प्रतीत होता है कि अधिकांश राज्य सरकारों ने जिन्हें सूचना जारी की गई थी, अपने प्रतिशपथपत्र फाइल किए हैं यद्यपि हिमाचल प्रदेश राज्य को सूचना जारी करने का कोई आदेश नहीं दिया गया था, फिर भी उस राज्य ने प्रतिशपथ-पत्र फाइल किया है। दिल्ली विश्वविद्यालय ने अपने प्रतिशपथ-पत्र में प्रत्येक राज्य सरकार के राज्यक्षेत्र के भीतर स्थित चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए उनके द्वारा अनुसरण की जाने वाली अधिवास या निवास संबंधी अपेक्षा या संस्थानिक अधिमानता का संक्षेप में वर्णन किया है। इस निर्णय के प्रयोजन के लिए चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के संबंध में विभिन्न राज्यों में अंगीकृत और प्रचलित अधिवास या निवास संबंधी निश्चित अपेक्षा या संस्थानिक अधिमानता को अविकल रूप से सविस्तार प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है। यह कहना पर्याप्त है कि एम० बी० बी० एस० कोर्स में प्रवेश के लिए कुछ राज्यों में अधिवास या स्थायी निवास अपेक्षित है जबकि कुछ अन्य राज्यों में तीन से बीस वर्ष तक के विनिर्दिष्ट वर्षों तक के लिए निवास अपेक्षित है, जबकि कुछ राज्यों में अपेक्षा यह है कि

अभ्यर्थी को राज्य में चार से दस वर्ष तक की निरन्तर कालावधि के लिए किसी शैक्षणिक संस्था में अध्ययन किया हुआ होना चाहिए अथवा अभ्यर्थी राज्य का वास्तविक निवासी होना चाहिए तथा उत्तर प्रदेश में एम० डी० एस० कोर्स में प्रवेश के मामले में अभ्यर्थी को या तो भारत का नागरिक होना चाहिए जिसके पिता का अधिवास उत्तर प्रदेश में हो और जो स्वयं उत्तर प्रदेश में अधिवसित हो या भारत का नागरिक हो और जिसके पिता का अधिवास उत्तर प्रदेश में न भी हो, किन्तु जो स्वयं उत्तर प्रदेश में अधिवसित हो या भारत का नागरिक हो और जिसके पिता का अधिवास उत्तर प्रदेश में न हो, किन्तु जो स्वयं आवेदन करते समय कम से कम पांच वर्ष से उत्तर प्रदेश में रहा हो ओर जहां तक कर्नाटक में एम० डी० एस० कोर्स में प्रवेश का संबंध है, अभ्यर्थी को बी० डी० एस० कोर्स में प्रवेश से पूर्व कर्नाटक राज्य में शैक्षणिक संस्था में कम से कम पांच वर्ष तक अध्ययन किए हुए होना चाहिए। दिल्ली संघ राज्यक्षेत्र में चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के संबंध में स्थिति कुछ भिन्न है, क्योंकि दिल्ली विश्वविद्यालय से सहबद्ध तीन चिकित्सा महाविद्यालयों में एम० बी० बी० एस० कोर्स में प्रवेश के लिए उपलभ्य कुल 410 स्थानों में से 148 स्थान आरक्षित हैं और 262 अनारक्षित स्थान हैं तथा 262 अनारक्षित स्थानों को भरने के लिए प्रवेश परीक्षा ली जाती है तथा प्रथम 50 स्थान पात्र अभ्यर्थियों में से उन अभ्यर्थियों से भरे जाते हैं जिन्होंने गुण क्रम में प्रवेश-परीक्षा पास की है तथा शेष 212 स्थान, पुन: गुण के आधार पर, ऐसे अभ्यर्थियों द्वारा भरे जाते हैं जिन्होंने केवल दिल्ली संघ राज्यक्षेत्र स्थित विद्यालयों से अपनी अर्हता परीक्षा पास की है। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि लगभग सभी राज्यों और संघ राज्यक्षेत्रों में चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश या तो निवास संबंधी अपेक्षाओं या सस्थानिक अधिमानता पर आधारित है। प्रश्न यह है कि क्या ऐसे आरक्षण या ऐसी अधिमानताएं सांविधानिक रूप से विधिमान्य हैं, जब उन्हें अनुच्छेद 14 की कसौटी पर कसा जाता है।

10. इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश की मांग पिछली दो दशाब्दियों से बहुत अधिक बढ़ गई है तथा देश के चिकित्सा महाविद्यालयों में स्थानों की उपलभ्यता के मुकाबले बहुत कहीं ज्यादा हो गई है। आज बहुत से युवा पुरुष और स्त्रियां चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए न केवल इस कारण शोर मचा रहे हैं क्योंकि वे स्वयं के लिए कोई लाभप्रद नियोजन पा सकते हैं, बल्कि वे जनता की सेवा भी कर सकते हैं और चिकित्सा महाविद्यालयों में उपलभ्य स्थान

बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। जनसंख्या से चिकित्सा व्यवसायियों का अनुपात, कुछ अन्य देशों की तुलना में, बहुत ही कम है तथा चिकित्सा सेवाओं के लिए कभी न पूरी होने वाली आवश्यकता है। यह संभव है कि कुछ उच्च शहरी क्षेत्रों में पर्याप्त संख्या में डाक्टर हों, किन्तु देश-भर में ग्रामीण क्षेत्र में ऐसे बहुत से इलाके हैं, जहां सक्षम और पर्याप्त चिकित्सा सेवाएं उपलभ्य नहीं हैं। भागत: इसका कारण यह है कि उन डाक्टरों पर जिनका शहरी क्षेत्र में पालन-पोषण हुआ है, अथवा जो वहां शिक्षित हुए हैं अथवा जिन्होंने शहरों और बड़े नगरों में स्थित चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रशिक्षण लिया है, अमिट शहरी छाप पड़ी है तथा वे ग्रामीण क्षेत्रों में जाना पसंद नहीं करते हैं किन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि पर्याप्त और उचित सुविधाएं नहीं दी जाती हैं और प्राय: ग्रामीण क्षेत्रों में आवश्यक दवाइयों और औषधियों का प्रदाय भी नहीं किया जाता है जिसका परिणाम यह है कि यदि डाक्टर जनता को सेवा करने की दृष्टि से ग्रामीण क्षेत्रों में जाने को तैयार भी होते हैं, तो वे यह पाते हैं कि वे जनता की कोई सेवा नहीं कर सकते और ये बातें ग्रामीण क्षेत्रों में बसने वाले डाक्टरों को हतोत्साहित करती हैं। इसलिए जो कुछ आवश्यक है, वह यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों में उचित और पर्याप्त संस्थान स्थापित किए जाएं, जहां डाक्टर सक्षम चिकित्सा सेवाएं कर सकें और उन क्षेत्रों में काम करने वाले डाक्टरों को कुछ प्रोत्साहन अवश्य ही दिया जाना चाहिए। किन्तु आज जो स्थिति है, वह यह है कि प्रवेश के लिए विद्यार्थियों की बढ़ती हुई मांग पूरी करने के लिए चिकित्सा महाविद्यालयों में स्थानों की पर्याप्त कमी है और इसलिए चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए विद्यार्थियों का चयन करने के वास्ते कोई सिद्धान्त बनाना है तथा ऐसा सिद्धान्त अनुच्छेद 14 की अपेक्षा के अनुसार होना चाहिए। अनुच्छेद 14 की मुख्य अपेक्षा देशभर में शिक्षा और प्रगति के लिए सभी को समान अवसर प्रदान करती है और जैसा कि **जगदीश शरण** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने बताया है "इसका हमारे वर्तमान काल से अत्यधिक संबंध (सुसंगति) है जबकि देश संकीर्ण विचारणाओं के सामने झुककर संकीर्ण बातों द्वारा खण्ड-खण्ड किया जा रहा है"। हमारी राज्य शासन-विधि के स्थायी मूल्य के रूप में जो बात मूलभूत है, वह प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व की पूर्ण क्षमता प्रकट करने का समान अवसर देने की गारन्टी है। कोई भी व्यक्ति कहीं भी, चाहे वह निम्न श्रेणी का हो या उच्च श्रेणी का हो, ग्रामीण हो या शहरी हो, पुरुष हो या स्त्री हो, उसकी भाषा या धर्म जन्म-स्थान या निवास-

---

[1] [1981] 1 उम ० नि० प० 129=[1980] 2 एस० सी० आर० 831.

स्थान चाहे जो भी हो, सांस्कृतिक विकास, प्रशिक्षण की सुविधा, विशेष विषय या नियोजन के लिए किसी धर्मनिरपेक्ष शैक्षणिक पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए समान अवसर दिए जाने का हकदार है। यदि किसी नागरिक को राज्य में उसके निवास के कारण, जो साधारणतः सामान्य मामलों में उस राज्य के भीतर स्थित किसी स्थान पर उसके जन्म का परिणाम होगा, शिक्षा या प्रगति के लिए अवसर होना चाहिए जिससे अन्य नागरिक इसलिए वंचित किया गया है, क्योंकि वह राज्य-ख का निवासी है, तो यह बात विधि के समक्ष समता और विधि के समान संरक्षण के मूलभूत सिद्धान्त के प्रतिकूल होगी, यह बात स्वयंसिद्ध है कि प्रतिभा किसी राज्य के निवासी का एकाधिकार नहीं है; वह कमोबेश समान रूप से वितरित की जाती है और यदि उचित अवसर और परिस्थितियां हों तो प्रत्येक व्यक्ति को सर्वोत्तम स्थान तक पहुंचने की संभावना रहती है। जो कुछ आवश्यक है, वह अवसर की समानता है और उसे इस बात पर निर्भर नहीं बनाया जा सकता कि कोई नागरिक कहां निवास करता है। यदि प्रत्येक नागरिक को अपनी योग्यता बढ़ाने का आनुवंशिक तथा वातावरण विषयक बातों की दृष्टि से, समान अवसर दिया जाता है तो वह, अपने स्वयं के तरीके से अपनी पूर्ण योग्यता प्रकट करने में समर्थ हो सकेगा जिसके परिणामस्वरूप उसकी गुणवत्ता का पूर्णरूपेण विकास होगा। सम्पूर्ण राष्ट्र में शिक्षा और प्रगति के लिए समान अवसर के माध्यम से सर्वव्यापी गुणवत्ता का दार्शनिक सिद्धांत और व्यवहारवाद हमारे आधारभूत धर्म और सांविधानिक विश्वास का भाग है। इसलिए देश में के सभी नागरिकों को समान अवसर प्रदान करके तकनीकी संस्थाओं और चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए सर्वोत्तम और सर्वाधिक योग्य विद्यार्थियों का चयन करने का सदैव ही प्रयत्न किया जाना चाहिए और किसी भी नागरिक को राष्ट्र की एकता तथा अखंडता के लिए गंभीर अपाय के बिना, वैध रूप से हमारी सांविधानिक व्यवस्था में बाहरी व्यक्ति के रूप में नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, विशेष विषयों में शिक्षा देने वाले चिकित्सा महाविद्यालयों या अन्य संस्थाओं में कम योग्य विद्यार्थियों को मात्र इसलिए प्रवेश देना जबकि अधिक योग्य विद्यार्थी उपलभ्य हों, राष्ट्रीय हित के विरुद्ध होगा क्योंकि कम योग्य विद्यार्थी राज्य के स्थायी निवासी हैं, या कुछ वर्षों से निवासी हैं, जबकि अधिक योग्य विद्यार्थी उस राज्य के निवासी नहीं हैं, यद्यपि दोनों ही प्रवर्ग के विद्यार्थी भारत के नागरिक हैं। अधिक योग्य विद्यार्थियों को इस आधार पर अपवर्जित करने से कि वे राज्य के निवासी नहीं हैं, स्तर से नीचे के विद्यार्थियों को बढ़ावा देने और इससे चिकित्सा विषयक सक्षमता में गिरावट आने की सम्भाव्यता रहेगी, जो कि आगे चल कर उसी क्षेत्र के लिए हानिकारक

होगी। प्रारम्भ में ही योग्यता का पूर्ण रूप से त्याग करके नीम-हकीम और अनाड़ी चिकित्सकों की थोपना कोई वरदान नहीं है। और न ही प्रवेश से सर्वाधिक बहुत योग्य व्यक्तियों को केवल इस कारण से इनकार किया जा सकता है, क्योंकि उससे राष्ट्र हानि होगी और किसी भी क्षेत्र का हित राष्ट्र के हित से ऊंचा नहीं हो सकता। इसलिए चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए अभ्यर्थियों के चयन में मूलभूत बात योग्यता ही होनी चाहिये। किसी भी नियमावली का, जो चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश को विनियमित करने के लिए बनाई जाती है, उद्देश्य सर्वोत्तम और सर्वाधिक योग्य विद्यार्थियों को प्राप्त करने का ही होना चाहिए।

11. यही मुख्य बात थी जिस पर जिलेवार के आधार पर चिकित्सा महाविद्यालयों में स्थानों का आबंटन करने में मद्रास राज्य द्वारा बनाए गए नियमों को अभिखण्डित करने में (अप्राप्तव्य) **पी० राजेन्द्रन बनाम मद्रास राज्य**[1] के मामले में न्यायालय द्वारा बल दिया गया था। न्यायालय की ओर से मु० न्या० वांचू ने उक्त मामले में निम्नलिखित मत व्यक्त किया था —

> "यह प्रश्न कि क्या जिलेवार आबंटन से अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है इस बात पर निर्भर करता है कि मेडिकल कालेजों में दाखिलों के बारे में कौन-सा ऐसा उद्देश्य है जिसकी पूर्ति करनी है। इस तथ्य पर विचार करने से कि जितनी सीटें हैं उनसे अनुपात में अभ्यर्थियों की संख्या कहीं अधिक है, चुनाव का तरीका अपनाना पड़ा। चुनाव करने का उद्देश्य केवल यही हो सकता है कि कालेजों में दाखिले के लिए यथासंभव सर्वोत्तम व्यक्तियों को चुना जाए किन्तु ऐसा चुनाव करते समय सामाजिक और शिक्षात्मक दृष्टि से पिछड़े हुये वर्गों का भी ध्यान रखना जरूरी है। इसके अलावा यह सवाल भी है कि चुनाव कहां से, अर्थात् सामाजिक और शिक्षात्मक दृष्टि से पिछड़े हुये वर्गों में से अथवा जनरल पूल में से किया जाना है। चुनाव का उद्देश्य दोनों स्रोतों से यथासंभव सर्वोत्तम प्रतिभा वाले व्यक्तियों को चुनना है। यदि यही उद्देश्य है तो यदि सीटें जिलेवार आबंटित की गईं तो जिलेवार आबंटन का यह परिणाम तो होगा ही कि वह उद्देश्य ही विफल हो जाए। न तो इस बात का प्रत्याख्यान किया गया है और न किया जा सकता है कि चुनाव का उद्देश्य तो यह है कि दोनों स्रोतों से यथासंभव सर्वोत्तम प्रतिभावान् व्यक्तियों

---

[1] [1968] 1 उम० नि० प० 368=[1968] 2 एस० सी० आर० 786.

अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है, क्योंकि चयन के इस उद्देश्य से अर्थात् सर्वोत्तम और सर्वाधिक योग्य विद्यार्थियों को प्राप्त करने से, उसका कोई युक्तियुक्त संबंध नहीं है और वास्तव में उसमें ऐसे उद्देश्य को विफल करने की प्रवृत्ति है। किन्तु इस मत को अपनाने में उन्होंने स्पष्ट रूप से और निश्चित रूप से इस सिद्धांत के आधार पर कार्यवाही की है कि प्रवेश की किसी विधिमान्य स्कीम का उद्देश्य चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए सर्वोत्तम अभ्यर्थियों का चयन करना होना चाहिए और यदि योग्यता के आधार पर चयन के सिद्धांत से कोई विचलन किया जाना है, तो उसे अनुच्छेद 14 की कसौटी पर अवश्य ही खरा उतरना चाहिए।

12. किन्तु यह बात अवश्य ही समझ लेनी चाहिए कि जब हम यह कहते हैं कि चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए चयन योग्यता पर आधारित होना चाहिए, तो उससे हमारा अभिप्राय क्या है। वह योग्यता क्या है, जो चयन की प्रक्रिया को अवश्य ही लागू होनी चाहिए ? निस्सन्देह, उसके साथ कुशाग्र बुद्धि, मूल विषयों का अच्छा ज्ञान और कठिन काम करने के लिए अच्छी क्षमता के साथ-साथ उसमें उच्च कोटि की प्रज्ञा होती है, किन्तु यही बात पर्याप्त नहीं है; उसमें सामाजिक प्रतिबद्धता की भावना और गरीबों के लिए समर्पण की भावना भी अपेक्षित है। हम न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर के इस कथन से सहमत हैं जो उन्होंने जगदीश सरन[1] के मामले में कहा है : "यदि ग्रामीण सेवा की संभावना या पिछड़े लोगों के बीच चिकित्सा सेवा करने की अभिवृत्ति योग्यता का आधार है तथा निस्सन्देह यह बीमारियों और मुसीबतों, उपेक्षा और निर्धनता, विलाप तथा आंसुओं की भूमि है, तो निश्चित रूप से किसी वंचित क्षेत्र के विश्वविद्यालय का प्रबंध योग्यता के लिए एक धनात्मक अंक है। श्रेष्ठता संयुक्त है तथा हृदय और उसकी संवेदनशीलता शैक्षणिक मूल्यों के पैमाने में इतने मूल्यवान हैं जितना कि सिर और उसकी सृजनात्मकता तथा सामान्य जनता के लिए सामाजिक दवा असाधारण मामलों में उच्च प्रदर्शन की तुलना में अधिक सुसंगत है।" योग्यता को केवल अंकों से ही मापा नहीं जा सकता, किन्तु मानवीय सहानुभूतियां भी समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। चिकित्सा व्यवसाय के सदस्य का सामाजिक मूल्य निर्धारित करने में हृदय भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि मस्तिष्क। यह भी एक पहलू है जिस का चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए अभ्यर्थियों के चयन के लिए योग्यता का अवधारण करते समय, किसी सम्मानित सीमित

---

[1] [1981] 1 उम० नि० प० 129=[1980] 2 एस० सी० आर० 831.

सीमा तक, अवश्य ही ध्यान रखा जाना चाहिए, यद्यपि स्वीकार्यतः ऐसा करना सरल नहीं होगा, क्योंकि यह एक ऐसी बात है जिसकी बाबत निर्णय करना बहुत ही कठिन है और जिसका मूल्यांकन करना सरल नहीं है।

13. अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि वे कौन-सी परिस्थितियां हैं जिनमें योग्यता पर आधारित चयन के सिद्धान्त से न्यायोचित रूप से विचलन किया जा सकता है। स्पष्टतः ऐसे विचलन को केवल समतोन्मुख आधार पर ही न्यायोचित ठहराया जा सकता है, क्योंकि चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए अनुसरण किया जाने वाला चयन का सिद्धांत चाहे जो भी हो, उसे समता की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। संविधान के अधीन समता की संकल्पना एक गतिशील संकल्पना है। उसकी परिधि के भीतर समानीकरण और संरक्षणात्मक विभेद की प्रत्येक प्रक्रिया है। समता केवल एक आदर्श कसौटी ही नहीं बनी रहनी चाहिए, किन्तु वह अधिकांश लोगों के लिए जीवित वास्तविकता होनी चाहिए। ऊंच-नीच की वर्ण व्यवस्था वाले ऐसे समाज में जिस पर अमिट सामंती छाप लगी हुई हो और जिसमें वस्तुतः ऐसी विषमता हो जिसका उपचार संभव नहीं है, यह सुझाव देना निरर्थक है कि वर्गजन्य निरर्हताओं को समाप्त करने के लिए और सामूहिक समता को अग्रसर करने के लिए प्रगतिशील उपाय इस आधार पर समता के विरोधी हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उसके द्वारा प्राप्त अंकों के आधार पर पूर्णतः निर्णीत योग्यता के आधार पर समान अवसर का हकदार है। हम ऐसे सुझाव का विरोध नहीं कर सकते क्योंकि ऐसा करना समता खण्ड को निरर्थक बनाना होगा तथा विद्यमान असमानताओं को शाश्वत बनाना होगा। अवसर की समता केवल विधिक समता की बात नहीं है। उसका अस्तित्व न केवल निरर्हताओं के अभाव पर आश्रित है, बल्कि योग्यताओं की उपस्थिति पर भी निर्भर होता है। इसलिए जहां कोई असमानता है, वहां वास्तव में विधिक समता सदैव उसको सुस्पष्ट कर देती है। प्रसिद्ध कवि विलियम ब्लेक ने जो कुछ स्पष्ट रूप से कहा वह बहुत ही सही है, अर्थात् "शेर और लोमड़ी के लिए जो एक ही विधि है, वही दमन है।" वास्तव में जो आसमान है, उनके साथ समान मानकों के आधार पर व्यवहार नहीं किया जा सकता; वह विधि के समक्ष समता हो सकती है, किन्तु निश्चित रूप से वह वास्तविक समता नहीं हो सकती। इसलिए वस्तुतः उन असमानताओं की ओर ध्यान देना आवश्यक है जो समाज में विद्यमान हैं और सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े व्यक्तियों को अधिमानता देकर या अधिक लाभप्रद स्थिति वाले व्यक्तियों पर विकलांग लोगों को थोप कर सकारात्मक कार्रवाई करनी आवश्यक है ताकि वास्तविक

समता लाई जा सके। यद्यपि ऐसी सकारात्मक कार्रवाई स्पष्टत: विभेदकारी है, तथापि वह वस्तुत: असमानताओं को दूर करके और समुदाय के कमजोर वर्गों को अधिक बलवान और शक्तिशाली व्यक्तियों के साथ समता के आधार पर लाकर व्यापक आधार पर समता कायम करने के लिए है, ताकि समाज का प्रत्येक सदस्य, चाहे उसका जन्म-स्थान, व्यवसाय या सामाजिक स्थिति जो कुछ भी हो, अपने शरीर-गठन की, चरित्र और बुद्धि की प्राकृतिक देन का पूर्ण उपयोग करके समान अवसर का लाभ उठा सके। इस सम्बन्ध में हम **अहमदाबाद सैण्ट जेवियर्स कालेज सोसाइटी और एक अन्य** बनाम **गुजरात राज्य**[1] के मामले में न्यायाधिपति मैथ्यु के मत को उद्धृत करना उपयोगी है जो इस प्रकार है—

> "यह बात स्पष्ट है कि विधि में समता किसी भी प्रकार के विभेद को अपवर्जित करती है, जबकि वास्तव में समता में विभेदकारी व्यवहार की आवश्यकता भी अन्तर्वलित हो सकती है ताकि ऐसा परिणाम प्राप्त हो सके जो विभिन्न स्थितियों के बीच संतुलन स्थापित कर सके।"

इसलिए हमारे पास ऐसी नीरस समता नहीं हो सकती जो सामाजिक और आर्थिक निर्हताओं और असमानताओं को विचार में न लेती हो जिससे देश की अधिकांश जनता पीड़ित है। विधि की समता से वास्तविक समता अवश्य ही उत्पन्न होनी चाहिए। विधित: समता वस्तुत: समता के लिए अन्ततोगत्वा अपना मुख्य प्रयोजन ढूंढ़ लेती है। इसलिए राज्य को ऐसे लोगों का जो वास्तविक रूप से अपने धन, शिक्षा या सामाजिक वातावरण में असमान हैं और विनिर्दिष्ट क्षेत्रों में समान हैं, सुधार करने के प्रयोजन से राज्य की प्रतिकरात्मक कार्रवाई का अवलम्ब अवश्य ही लेना चाहिए। **जगदीश सरन**[2] के मामले में न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर के शब्दों के अनुसार "राज्य को समानता के लिए ऐसी विशेष सुविधाएं जुटानी चाहिएं जो समान व्यवस्था में कमजोर वर्ग के लिए व्यवस्था कर सकें और उनके जीवन स्तर को ऊंचा उठा सकें, समानता से वहां इनकार नहीं किया जाना चाहिए या उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए, जहां विशेष उपबंध सामान्य भलाई और व्यक्तिगत योग्यता से सतत रूप से उनकी निर्योग्यता को दूर करने के लिए अधिकांश कमजोर लोगों को प्रोत्साहित करने के लिए प्रेरित हो।" इसलिए चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश की

[1] [1974] 2 उम० नि० प० 1303=(1974) 1 एस० सी० सी० 717.

[2] [1981] 1 उम० नि० प० 129=[1980] 2 एस० सी० आर० 831.

स्कीम योग्यता पर आधारित चयन के सिद्धांत से वहां विचलित हो सकती है, जहां ऐसे लोगों के बीच, जो असमान हैं, अवसर की वास्तविक समानता लाने के प्रयोजन के लिए ऐसा करना आवश्यक हो ।

14. इस सिद्धांत को लागू करने में दो मुख्य बातें हैं जिन को, ऐसा प्रतीत होता है, न्यायालयों ने योग्यता पर आधारित चयन के सिद्धांत से विचलन को न्यायोचित ठहराने में अधिमानता दी है । एक बात यह है जिसे राज्य का हित कहा जा सकता है और दूसरी बात यह है जिसे पिछड़ेपन के क्षेत्रीय दावे के रूप में वर्णित किया जा सकता है । राज्य के हित के दावे की वैधता को डी० पी० जोशी[1] के मामले में इस न्यायलय के पूर्ववर्ती विनिश्चय में स्पष्ट रूप से मान्यता प्रदान की गई थी । इस मामले में आक्षेपित नियम महात्मा गांधी मैमोरियल मैडिकल कालेज, इन्दौर में प्रवेश के लिए मध्य भारत राज्य द्वारा बनाया गया एक नियम था जिसमें यह उपबंध था कि ऐसे विद्यार्थियों से कोई भी कैपीटेशन फीस प्रभारित नहीं की जानी चाहिए जो मध्य भारत के वास्तविक निवासी हैं किन्तु अन्य गैर मध्य-भारतीय विद्यार्थियों के लिए, नामनिर्दिष्ट विद्यार्थियों के लिए 1300 रुपए की कैपीटेशन फीस और अन्य लोगों के लिए 1500 रुपए की कैपीटेशन फीस होनी चाहिए । इस नियम के प्रयोजन के लिए 'वास्तविक निवासी' अभिव्यक्ति की परिभाषा की गयी थी और उससे अन्य बातों के साथ-साथ ऐसा नागरिक अभिप्रेत था जिसका मूल अधिवास मध्य भारत में था, किन्तु उसने अन्यत्र अधिवास अर्जित नहीं किया था अथवा ऐसा नागरिक अभिप्रेत था जिसका मूल अधिवास मध्य भारत में नहीं था, किन्तु जिसने मध्य भारत में अधिवास अर्जित कर लिया था और जिसने उस तारीख से जिस को उसने दाखिले के लिए आवेदन किया है पांच वर्ष से अन्यून कालावधि के लिए वहां निवास किया है । इस नियम की संवैधानिक विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि वह उन विद्यार्थियों के, जो मध्य भारत के वास्तविक निवासी थे, और उन विद्यार्थियों के, जो मध्य भारत के निवासी नहीं थे, बीच विभेद गठित करता है और चूंकि यह विभेद मध्य भारत राज्य में निवास पर आधारित है, इसलिए उससे संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है । न्यायालय ने एक के विरुद्ध चार के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया था कि नियम विभेदकारी नहीं है और उससे संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण नहीं होता क्योंकि ऐसे विद्यार्थियों के, जो मध्य भारत के वास्तविक निवासी थे और ऐसे

[1] [1955] 1 एस० सी० आर० 1215.

विद्यार्थियों के जो नहीं थे, बीच वर्गीकरण ऐसे बोधगम्य अन्तर पर आधारित था जिसका नियम के उद्देश्य से युक्तियुक्त संबंध था। **डी० पी० जोशी बनाम मध्य भारत राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में बहुमत की ओर से न्यायाधिपति वेंकटरामा अय्यर ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था—

"आक्षेपित नियम में अन्तर्निहित वर्गीकरण का उद्देश्य स्पष्ट रूप से कुछ सीमा तक ऐसे विद्यार्थियों की सहायता करना था जो मध्य-भारत के निवासी हैं, अपना अध्ययन करने में और इस बात पर विवाद नहीं किया जा सकता कि वह राज्य की सीमा के भीतर शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए एक बहुत ही वैध और स्पष्ट उद्देश्य था। शिक्षा राज्य का विषय है तथा संविधान के भाग 4 में घोषित नीति के निदेशक तत्वों में से एक तत्व यह है कि राज्य को अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर शिक्षा के लिए प्रभावी उपबंध करने चाहिएं (देखिए अनुच्छेद 41)। राज्य को शिक्षा संस्थाओं को बनाये रखने और चलाने के लिए अंशदान देना चाहिए। इस पिटीशन में हमारा संबंध चिकित्सा महाविद्यालय से है और यह बात अच्छी तरह से ज्ञात है कि ऐसी संस्था को बनाए रखने के लिए पर्याप्त धनराशि की अपेक्षा होती है। यदि राज्य को उस पर धन व्यय करना है, तो क्या यह अयुक्तियुक्त बात है कि वह शिक्षा पद्धति की इस प्रकार व्यवस्था करे कि उसका लाभ किसी सीमा तक कम से कम राज्य का फायदा ही सुनिश्चित करेगा। फीस के मामले में राज्य के निवासियों को दी गई रियायत स्पष्ट रूप से उस उद्देश्य को पूरा करने के लिए है क्योंकि संभवत: इनमें से कुछ महाविद्यालय से (परीक्षा) पास होने के पश्चात् डाक्टर के रूप में वहीं बस सकते हैं और उस इलाके की आवश्यकताओं को पूरा कर सकते हैं। इस प्रकार वर्गीकरण ऐसे आधार पर आधारित है जिसका विधान की विषयवस्तु से युक्तियुक्त संबंध है और इसके परिणामस्वरूप उसे चुनौती नहीं दी जा सकती। **पंजाब राज्य बनाम अजब सिंह** के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वर्गीकरण विधिमान्य रूप से भौगोलिक आधार पर ही किया जा सकता है। स्पष्ट रूप से ऐसा वर्गीकरण वहां न्यायोचित और युक्तियुक्त होगा, जहां वह ऐसी शिक्षा से संबंधित है जिसका राज्य से मुख्यत: संबंध है। इसलिए यह दलील

[1] [1955] 1 एस० सी० आर० 1215.

अवश्य ही नामंजूर की जानी चाहिए कि कैपीटेशन फीस अधिरोपित करने वाले नियम से अनुच्छेद 14 का उल्लंघन होता है।

(रेखांकन बल देने के लिए किया गया)

यहां पर इस बात पर ध्यान दिया जा सकता है कि विभेद मध्य-भारत राज्य के भीतर निवास करने पर आधारित था और फिर भी उसे इस आधार पर न्यायोचित ठहराया गया था कि नियम बनाने में राज्य का उद्देश्य ऐसे विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करना था जो मध्य-भारत के निवासी थे और चिकित्सा पाठ्यक्रम पूरा करना चाहते थे ताकि उनमें से कुछ महाविद्यालय से परीक्षा पास करने के पश्चात् डाक्टर के रूप में बस सकें और उस इलाके की आवश्यकताओं को पूरा कर सकें तथा नियम द्वारा किए गए वर्गीकरण का इस उद्देश्य से युक्तियुक्त संबंध था। निवास पर आधारित विभेद का यह औचित्य स्पष्ट रूप से इस उप धारणा पर आधारित था कि ऐसे विद्यार्थी जो मध्य-भारत के वास्तविक निवासी थे, डाक्टर बनने के पश्चात् वहीं बसेंगे और राज्य के लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करेंगे। हम इस बारे में निश्चित नहीं हैं कि क्या इस उपधारणा को न्यायोचित ठहराने के लिए शपथपत्रों में ऐसे किन्हीं तथ्यों का अभिवचन किया गया था किन्तु न्यायाधिपति वेंकटरामा अय्यर का निर्णय यह दर्शाता है कि बहुमत के न्यायाधीशों का विनिश्चय इस उपधारणा पर आधारित था और उसे आक्षेपित नियम द्वारा किए गए विभेद को न्यायोचित ठहराने के लिए विधिमान्य आधार के रूप में माना गया था।

15. हम यह भी बतला सकते हैं कि **अप्राप्तवय पी० राजेन्द्रन**[1] के मामले में भी राज्य सरकार की ओर से यह तर्क दिया गया था कि यदि चयन जिलावार किया गया था, तो जिले से चयन किए गए विद्यार्थियों की उसी जिले में चिकित्सा व्यवसायी के रूप में बस जाने की संभावना थी जिससे कि उन जिलों को उनके प्रशिक्षण से लाभ पहुंचने की संभाव्यता थी। किन्तु इस तर्क को न्यायालय द्वारा नामंजूर कर दिया गया था तथा चिकित्सा महाविद्यालयों में जिलावार प्रवेश को इस आधार पर अभिखण्डित कर दिया गया था कि वह संवैधानिक रूप से अविधिमान्य है। इस बात पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि न्यायालय ने इस तर्क को बहुत ही असंगत रूप में नामंजूर नहीं किया था किन्तु एकमात्र आधार जिस पर उसे नामंजूर किया गया था, वह यह था कि इसके बारे में न तो राज्य के प्रतिशपथपत्र में अभिवचन किया गया है और न ही राज्य ने इस अभिवाक् को न्यायोचित ठहराने के लिए ऐसे कोई तथ्य या आंकड़े पेश किए हैं कि जिलावार चयन किए गए

---

1. [1968] 1 उम० नि० प० 368=[1968] 2 एस० सी० आर० 786.

विद्यार्थी अपने-अपने उस जिले में, जहां वे निवास करते हैं, चिकित्सा व्यवसायियों के रूप में बसेंगे। इस बात का अनुमान लगाना रुचिकर होगा कि न्यायालय इसे बारे में तब क्या विनिश्चय करता, यदि राज्य सरकार ने यह दर्शाने के लिए न्यायालय के समक्ष पर्याप्त सामग्री पेश की होती कि राज्य में विभिन्न जिलों से आने वाले विद्यार्थी साधारणत: अपने-अपने उन जिलों में चिकित्सा व्यवसायियों के रूप में बसेंगे, जहां से वे आये हैं।

16. इस न्यायालय ने एन० वसुन्धरा[1] के मामले के पश्चात्वर्ती विनिश्चय में तत्कालीन मैसूर राज्य में चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए दस वर्ष से अन्यून की निवास की कालावधि की अपेक्षा पर आधारित आरक्षण को कायम रखा था। जिस नियम को उस मामले में चुनौती दी गई थी, वह तत्कालीन मैसूर राज्य में सरकारी चिकित्सा महाविद्यालयों में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम के लिए एवं व्यावसायिक पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए अभ्यर्थियों के चयन के लिए बनाई गई नियमावली का नियम 3 था और इस नियम में यह उपबंध था कि ऐसा कोई भी व्यक्ति, जो भारत का नागरिक नहीं है और जो स्थान के लिए आवेदन की तारीख से पूर्व किसी भी समय दस वर्ष से अन्यून की कालावधि तक मैसूर राज्य का निवासी नहीं रहा है, आवेदन करने का पात्र नहीं होगा। प्रवेश के लिए पिटीशनर के आवेदन को इस आधार पर नामंजूर कर दिया गया था कि उसने नियम 3 की अपेक्षानुसार दस वर्ष की कालावधि तक राज्य में निवास नहीं किया था और उसके परिणामस्वरूप उसने उस नियम की संवैधानिक विधिमान्यता को इस अभिवाक् पर चुनौती दी थी कि उससे अनुच्छेद 14 द्वारा गारन्टीकृत समता के अधिकार का अतिक्रमण होता है। तथापि चुनौती को नामंजूर कर दिया गया तथा इस न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने नियम 3 की संवैधानिक विधिमान्यता को कायम रखा। न्यायालय ने डी० पी० जोशी[2] के मामले के किए गए विनिश्चय का अवलम्ब लिया और निम्नलिखित मत व्यक्त किया—

> "यदि निवास के आधार पर वर्गीकरण अनुच्छेद 14 में समाविष्ट समता के सिद्धांत के विरुद्ध नहीं है, जैसा कि पहले ही उद्धृत विनिश्चय में इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया है जोकि हम पर आबद्धकर है, तो राज्य में कम से कम दस वर्ष निवास करने की अतिरिक्त शर्त के बारे में ऐसा प्रतीत होता है कि वह भी उसी प्रकार

---

[1] [1971] 3 उम० नि० प० 7 = [1971] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 381.

[2] [1955] 1 एस० सी० आर० 1215.

तब तक विधिमान्य है जब तक कि पिटीशनर यह दर्शित नहीं कर देता कि दस वर्ष की कालावधि का चयन करने से वर्गीकरण इतना अयुक्ति-युक्त हो जाता है कि वह मनमाना है और बिना किसी सारवान् आधार के है या बोधगम्य अन्तर के बिना है। ऐसा प्रतीत होता है कि आक्षेपित नियम को विरचित करने का उद्देश्य उन व्यक्ति वर्ग में से उपलभ्य सर्वोत्तम प्रतिभावान व्यक्तियों को चिकित्सीय (मेडिकल) शिक्षा देना है जिनके बारे में, जहां तक कि युक्तियुक्त रूप से अन्दाजा लगाया जा सकता है, यह सम्भावना है कि वे डाक्टरों के रूप में मैसूर राज्य के निवासियों की सेवा करेंगे। सच तो यह है कि पूर्णतया निश्चित रूप से यह कहना संभव नहीं है कि जिन लोगों को चिकित्सा महाविद्यालयों में दाखिला दिया जाएगा वे डाक्टरों के रूप में अर्ह हो जाने के पश्चात् अवश्य ही मैसूर राज्य में रहेंगे। निःसन्देह, उन्हें नागरिकों के रूप में भारत में किसी भी स्थान पर बस जाने का मूल अधिकार प्राप्त है और वे इस बात के लिए भी स्वतन्त्र हैं कि यदि वे न चाहें और यदि वे ऐसा प्रबन्ध कर सकें तो आगे अध्ययन के लिए या अन्यथा भी भारत से बाहर जा सकते हैं। किन्तु ये संभावनाएं हमारे सांविधानिक ढांचे में अनुज्ञेय हैं और अन्तर्निहित हैं और ये बातें अन्यथा विधिमान्य निष्कर्ष की सांविधानिकता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डाल सकती है। यह समस्या **अप्राप्तवय पी० राजेन्द्रन के मामले** में उत्पन्न हुई थी और जैसा कि अनेक मामलों में, जो कि हाल ही में इस न्यायालय के समक्ष आए थे, स्पष्ट किया गया है, वह यह है कि चिकित्सीय (मेडिकल) शिक्षा पाने के इच्छुक अभ्यर्थियों की संख्या चिकित्सा महाविद्यालयों में उपलभ्य स्थानों की संख्या से बहुत अधिक है। हमारे देश में डाक्टरों की आवश्यकता और मांग इतनी अधिक है कि नौजवन लड़के और लड़कियां यह महसूस करते हैं कि चिकित्सा व्यवसाय में उन्हें लाभप्रद नौकरी मिल सकती है और वे जनता की सेवा कर सकते हैं। अतः राज्य को युक्तियुक्तता दूरदर्शित के अनुसार उपलभ्य अभ्यर्थियों को मेडिकल शिक्षा देने के लिए वर्गीकरण की न्यायानुमत स्कीम तैयार करनी पड़ती है जो राज्य की जनता को विस्तृत आधार पर चिकित्सीय सहायता देने के उद्देश्य और प्रयोजन को पूरा कर सकें तथा उन अभ्यर्थियों के लिए मेडिकल शिक्षा का उपबंध कर सकें जो ऐसी शिक्षा के लिए सबसे उपयुक्त व्यक्ति हैं। इस विचार से प्रेरित उचित वर्गीकरण और ऐसे वर्गीकृत समूहों में से गुणागुण के आधार

पर किए गए चयन को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि उससे असमता के कारण अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है। आक्षेपित नियम के बारे में पिटीशनर ने यह दर्शित नहीं किया है कि उसमें अयुक्तियुक्तता का दोष है। दूसरी ओर राज्य की ओर से फाइल किए गए प्रतिशपथ-पत्र में जो प्रयोजन प्रकट किया गया है, वह राज्य के निवासियों के लिए चिकित्सीय सहायता का उपबन्ध करके उनके हितों की सेवा करना है।"

(रेखांकन बल देने के लिए किया गया)

यहां पर भी दस वर्ष से अन्यून निवास की अपेक्षा पर आधारित आरक्षण को अविभेदकारी अभिनिर्धारित किया गया था, यद्यपि उसने उन सब को, जो इस निवास की अपेक्षा को पूरा नहीं करते हैं, राज्य में चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए अवसर की समता से वंचित कर दिया गया था। न्यायालय का यह मत था कि दस वर्ष से अन्यून निवास की अपेक्षा पर आधारित ऐसा आरक्षण करने में राज्य सरकार का उद्देश्य उन व्यक्तियों के वर्ग में से, जिन की डाक्टरों के रूप में सेवा करने की और राज्य में बस जाने की संभाव्यता है, जहां तक कि युक्तियुक्त रूप से अनुमान लगाया जा सकता है, उपलभ्य सर्वोत्तम प्रज्ञावान व्यक्तियों को चिकित्सा शिक्षा प्रदान करना था। बोर्ड ने इस प्रकार राज्य के लोगों की चिकित्सा सहायता पर आधारित व्यापक उपबंध करने विषयक राज्य हित के दावे के कारण योग्यता पर आधारित चयन के सिद्धांत को उपांतरित करना अनुज्ञात किया था तथा दस वर्ष से अन्यून निवास की अपेक्षा पर आधारित आरक्षण को विधिमान्य आरक्षण के रूप में कायम रखा था। हमें **डी० एन० चंचला** बनाम **मैसूर राज्य**[1] के मामले में न्यायाधिपति दुआ के निर्णय के निम्नलिखित शब्दों में इसी तर्क की प्रतिध्वनि मिलती है, जो इस प्रकार है —

"हमारे संविधान में अन्तर्विष्ट राज्य नीति के निदेशक तत्वों की पृष्ठभूमि में विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मेडिकल कालेजों में प्रवेश के लिए प्रवरण का उद्देश्य अभ्यर्थियों में से सर्वोत्तम अभ्यर्थियों को इसलिए चुनना है ताकि न केवल उन्हें जीविकोपार्जन के पर्याप्त साधन प्राप्त हो सकें बल्कि जनता को जिस चिकित्सा सहायता की बहुत आवश्यकता है उसकी व्यवस्था की जा सके और आमतौर पर सार्वजनिक स्वास्थ्य में सुधार किया जा सके।"

---

[1] [1971] 3 उम० नि० प० 277=[1971] सप्ली० एस० सी० आर० 608.

न्यायालय ने ऐसे विद्यार्थियों को, जिनकी राज्य में उनके निवास के कारण बस जाने की और डाक्टरों के रूप में जनता की सेवा करने की संभाव्यता होगी, चिकित्सा शिक्षा देकर राज्य की जनता को पर्याप्त चिकित्सा सेवा प्रदान करने में राज्य हित के दावे को राज्य में चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए निवास की अपेक्षा अधिकथित करने के लिए वैध आधार के रूप में इस प्रकार माना है।

17. हम डी० एन० **चंचला**[1] के मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय को भी इस प्रक्रम में सुविधापूर्वक निर्दिष्ट कर सकते हैं। इस मामले में आक्षेपित आरक्षण विश्वविद्यालय-वार आरक्षण था जिसके अधीन विश्वविद्यालय द्वारा संचालित चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए अधिमानता उन विद्यार्थियों को दी गई थी, जिन्होंने कि विश्वविद्यालय की प्रि-यूनिवर्सिटी कोर्स (पी० यू० सी०) परीक्षा पास की थी और केवल 20 प्रतिशत स्थान उन विद्यार्थियों के लिए उपलभ्य थे जिन्होंने अन्य विश्वविद्यालयों से प्रि-यूनिवर्सिटी कोर्स परीक्षा पास की थी। पिटीशनर ने, जिसने बंगलौर विश्वविद्यालय द्वारा ली गई प्रि-यूनिवर्सिटी कोर्स परीक्षा पास की थी, कर्नाटक विश्वविद्यालय से सहबद्ध चिकित्सा महाविद्यालयों में से किसी एक महाविद्यालय में प्रवेश के लिए आवेदन किया था। किन्तु वह उस योग्यता सूची में नहीं आ पाई थी जिसके आधार पर रिक्त स्थानों के 20 प्रतिशत स्थान भरे गए थे और चूंकि उसने कर्नाटक विश्वविद्यालय द्वारा ली गई परीक्षा पास नहीं की थी, इसलिए कर्नाटक विश्वविद्यालय से सहबद्ध चिकित्सा महाविद्यालय में प्रवेश के लिए उसके आवेदन को नामंजूर कर दिया गया था। इसलिए उसने संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन अन्य बातों के साथ-साथ यह दलील देते हुए रिट पिटीशन फाइल किया था कि विश्वविद्यालय-वार स्थानों का आरक्षण विभेदकारी है और किसी तर्कसंगत आधार पर आधारित न होने के कारण उससे अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है। तथापि, इस दलील को इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा नामंजूर कर दिया गया था। न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए न्यायाधिपति शैलत ने यह अभिनिर्धारित किया था कि ऐसे विद्यार्थियों को, जिन्होंने उसी विश्वविद्यालय की प्रि-यूनिवर्सिटी कोर्स परीक्षा पास की थी, अधिमानता देने में कोई भी संवैधानिक त्रुटि अन्तर्वलित नहीं है और उन्होंने इस निष्कर्ष के समर्थन में निम्नलिखित तर्क दिया—

---

[1] [1971] 3 उम० नि० प० 277=[1971] सप्ली० एस० सी० आर० 608.

"उक्त तीनों विश्वविद्यालय अलग-अलग स्थानों पर कदाचित उन क्षेत्रों की शिक्षा संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयोजन के लिए स्थापित किए गए हैं। स्पष्ट है कि सम्पूर्ण राज्य के लिए केवल एक विश्वविद्यालय न तो पर्याप्त हो सकता था और न यह संभव था कि उससे उन आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती। चूंकि संभव नहीं होगा कि सभी अभ्यर्थियों को सरकार द्वारा चलाए जा रहे मेडिकल कालेजों में प्रवेश दिया जाए इसलिए अभ्यर्थियों की जांच करने के लिए कोई आधार बनाना था। इस बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता है और अब तो यह उचित रूप से सुस्थिर है कि सरकार और अन्य प्राइवेट अभिकरणों को, जो मेडिकल ट्रेनिंग के लिए ऐसे केन्द्र स्थापित करते हैं, प्रवेश के लिए वहां तक नियम बनाने का अधिकार है जहां तक कि नियम विश्वविद्यालय के परिनियमों और विनियमों से विसंगत न हों और उनमें सांविधानिक या अन्यथा त्रुटियां न हों। चूंकि विश्वविद्यालय उन विभिन्न क्षेत्रों की, जहां वे स्थापित किए गए हैं, शैक्षणिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थापित किए गए हैं और उन क्षेत्रों में मेडिकल कालेज स्थापित किए गए हैं, इसलिए यह उपधारणा भी की जा सकती है कि वे विश्वविद्यालय उन विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध व्यक्तियों की मेडिकल ट्रेनिंग की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही स्थापित किए गए हैं। हमारे विचार से यह सुनिश्चित करने में कुछ भी अवांछनीय नहीं है। ऐसे विश्वविद्यालय से सम्बद्ध विद्यार्थियों की मेडिसिन जैसे विशेषज्ञायुक्त विषयों में प्रशिक्षण प्राप्त करने की उनकी आकांक्षाओं की स्वयं उनके विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध कालेजों की मार्फत पूर्ति करे। प्रवरण के ऐसे आधार में जिलावार या यूनिटवार प्रवरण का दोष नहीं है क्योंकि राज्य के किसी भाग से आने वाला कोई भी विद्यार्थी इन तीनों विश्वविद्यालयों में से किसी में अर्हक परीक्षा पास कर सकता है, चाहे उसका जन्म-स्थान या निवास स्थान कहीं भी हो। इसके अतिरिक्त ये नियम प्रवरण समिति को इन कालेजों में से किसी एक में कुल उपलभ्य स्थानों के 20 प्रतिशत स्थानों तक में बाहर वालों को अर्थात् जिन्होंने न केवल राज्य में बल्कि भारत में अन्यत्र भी किसी अन्य विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित समतुल्य परीक्षा पास की है, प्रवेश देने का विवेकाधिकार प्रदत्त करते हैं। अतः यह कहना संभव नहीं है कि इन नियमों में अपनाया गया प्रवरण का आधार नियमों के उद्देश्य को निष्फल कर देगा जैसा कि राजेन्द्रन वाले मामले में कहा गया है अथवा कम

योग्यता वाले विद्यार्थियों के लिए अपेक्षाकृत अच्छे अभ्यर्थियों को क्षति पहुंचाकर प्रवेश पाना संभव बना देगा। इस तथ्य का कि ऐसा अभ्यर्थी जिसने कम अंक प्राप्त किए हैं, एक दूसरे अभ्यर्थी के मुकाबले में, जिसने अन्य विश्वविद्यालय के उच्चतर अंक प्राप्त किए हैं, प्रवेश पा सकता है, आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं निकलता है कि कम योग्यता वाले अभ्यर्थी को अधिक योग्यता वाले अभ्यर्थी के मुकाबले में फायदा मिलता है। जैसा कि भली प्रकार ज्ञात है विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा आयोजित परीक्षा में अलग-अलग मानक (स्तर) होते हैं। किसी विश्वविद्यालय द्वारा अपने से सम्बद्ध संस्थाओं में स्नातकोत्तर या तकनीकी प्रशिक्षण के लिए अपने विद्यार्थियों को अधिमान देना असाधारण बात नहीं है। ऐसा अधिमान देने के लिए नियम, विभिन्न विश्वविद्यालयों में पाए जाते हैं। केवल इसी कारण से ऐसी पद्धति की, उसे विभेदकारी बताकर, निंदा नहीं की जानी चाहिए, विशेष रूप से जब कि ऐसे विश्वविद्यालय में उसके द्वारा आयोजित अर्हक परीक्षा को पास करने पर प्रवेश किसी निर्बन्धकारी अर्हता, जैसे कि जन्म या निवास या वैसे ही अन्य निर्बन्धनों द्वारा प्रवारित नहीं होता है। हमारे विचार से प्रवरण के लिए वर्तमान आधार को उन आधारों के बराबर बताना संभव नहीं है जो उक्त दो विनिश्चयों में अविधिमान्य अभिनिर्धारित किए गए थे। इसके अतिरिक्त जो सरकार सरकारी कालेजों को चलाने का वित्तीय भार उठाती है वह स्वयं अपने कालेजों में प्रवेश के लिए मापदंड निर्धारित करने की और उन लोगों को विनिश्चित करने की हकदार है जिनमें से प्रवेश दिए जाएंगे, किन्तु यह तब जब कि ऐसा वर्गीकरण मनमाना न हो और उसका कोई तर्कसंगत आधार हो तथा उसका नियमों के उद्देश्य से युक्तियुक्त संबंध हो। जब तक कि ऐसे स्रोतों में से प्रत्येक के भीतर कोई विभेद नहीं किया जाता है तब तक ऐसे स्त्रोतों को अधिकथित करने वाले नियमों की विधिमान्यता को सफलतापूर्वक चुनौती नहीं दी जा सकती है। (चित्रा घोष **बनाम** भारत संघ देखिए)। हमारे विचार से ये नियम एक विधिमान्य वर्गीकरण अधिकथित करते हैं। किसी विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित अर्हक परीक्षा को पास करने वाले अभ्यर्थी स्वयं एक वर्ग गठित करते हैं और वे उन अभ्यर्थियों से भिन्न होते हैं जो अन्य दो विश्वविद्यालयों से ऐसी परीक्षा पास करते हैं। ऐसे वर्गीकरण का नियमों के उद्देश्य से युक्तियुक्त संबंध है अर्थात् उन अभ्यर्थियों की आवश्यकताओं की

पूर्ति करना जो तकनीकी अध्ययनों में जैसे कि चिकित्सा संबंधी अध्ययन में अपने प्रशिक्षण को आगे बढ़ाने के लिए स्वयं अपने विश्वविद्यालय की ओर स्वभावतः देखते हैं। हमारी राय में इन नियमों पर न्यायोचित रूप से इस आधार पर आक्षेप नहीं किया जा सकता है कि उनके द्वारा अनुचित विभेद किया जाता है या उनसे अन्यथा अनुच्छेद 14 का भंग होता है।"

18. जिस दूसरी बात पर न्यायालयों ने योग्यता पर आधारित चयन के सिद्धान्त में रियायत देने पर बल दिया है, वह किसी विशेष क्षेत्र की ओर से किया गया पिछड़ेपन का दावा है। ऐसे मामले हुए हैं, जिनमें पिछड़े क्षेत्र में रहने वाले विद्यार्थियों के साथ चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए अधिमानता का व्यवहार किया गया है और अधिमानता के ऐसे व्यवहार को इस आधार पर कायम रखा गया है कि वह अन्य व्यक्तिओं के विरुद्ध स्पष्ट रूप से विभेदकारी है, फिर भी वह उस असंतुलन या कमी को दूर करने के लिए आशयित है जिसे पिछड़े क्षेत्र के विद्यार्थी भुगतते रहते हैं और इस प्रकार इससे व्यापक अर्थ में वास्तविक समता आएगी। पिछड़े क्षेत्र में रहने वाले विद्यार्थियों के लिए अधिमानता का ऐसा व्यवहार अपेक्षित भौगोलिक या मानवीय क्षेत्रों में ऊपर उठने का अवसर प्रदान करके व्यापक आधार पर अवसर की समता प्रदान करने के लिए परिकल्पित है, जो उन्हें उस दशा में प्राप्त नहीं हो सकती, यदि उनके साथ अधिमानता का व्यवहार नहीं किया जाता है और यदि उनके साथ चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए अन्य व्यक्तियों के समान ही व्यवहार किया जाता है, तो वे कभी भी उन व्यक्तियों से जो अच्छी तरह से बसे हुए हैं, प्रतिस्पर्धा करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। यदि इस सिद्धान्त को सर्जनात्मक और काल्पनिक रूप से लागू किया जाता है, तो पिछड़े क्षेत्र में निवास पर आधारित अधिमानता का व्यवहार विकास के असमान स्तरों को कम करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है और ऐसा अधिमानी व्यवहार संभवतः अनुच्छेद 14 की कसौटी पर खरा उतर सकेगा, क्योंकि वह राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में विद्यमान असंतुलन को कम करने के लिए होगा। ऐसा मामला हो सकता है, जिसमें कोई क्षेत्र शैक्षणिक रूप से पिछड़ा हो या जिसमें चिकित्सा सेवाओं की बहुत ही कमी हो और ऐसे मामले में उस पिछड़े क्षेत्र के लिए गंभीर शैक्षणिक और स्वास्थ्य सेवा संबंधी विभेद होगा, जिसे समता और सेवा की विचारधारा वाले कल्याणकारी राज्य को अवश्य ही कम करना चाहिए। ऐसी नीति का प्रयोजन विद्यमान असमानता को दूर करना होगा और पिछड़े क्षेत्र के निवासियों के लिए कल्याण पर

आधारित समता को अग्रसर करना होगा। यदि ऐसे मामले में राज्य चिकित्सा शिक्षा के अवसर के अभाव को दूर करना चाहता है और ऐसे पिछड़े क्षेत्र के मध्य में चिकित्सा महाविद्यालय प्रारम्भ करके ऐसे पिछड़े क्षेत्र में सक्षम और पर्याप्त चिकित्सा सेवाएं प्रदान करना चाहता है और उस क्षेत्र के विद्यार्थियों के लिए स्थानों का उचित प्रतिशत आरक्षित करता है, तो ऐसे आरक्षण या अधिमानी व्यवहार को विभेदकारी कहना संभव नहीं हो सकेगा। जो बात प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान असमानता को समाप्त करने के लिए आशयित है, उसे विभेदकारी कहकर के उस पर दोष नहीं लगाया जा सकता। **जगदीश सरन**[1] के मामले में न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने रिपोर्ट के पृष्ठ 856 पर इसी आशय का निम्नलिखित मत व्यक्त किया है—

> "हमें इस बारे में कोई सन्देह नहीं है कि जहां मानव क्षेत्र जिससे संस्था के अधिकांश छात्रों को लिया जाता है, या तो तकनीकी शिक्षा के अवसरों या लोगों के लिए उपलभ्य चिकित्सा सेवा के दृष्टि-कोण से पिछड़ा है, आरक्षण के उच्च अनुपात संबंधी उपबंध सामाजिक न्याय के परिप्रेक्ष्य में देखे जाने पर समता के आदेश को मुश्किल से ही पूरा करता है।"

संक्षेप में यही आधार था जिस पर **उत्तर प्रदेश राज्य बनाम प्रदीप टण्डन**[2] के मामले में इस न्यायालय ने उत्तर प्रदेश राज्य के पहाड़ी और उत्तराखंड क्षेत्रों के लोगों के लिए चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए आरक्षण इस आधार पर मंजूर किया था कि वे क्षेत्र सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुए हैं। इसी प्रकार आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने **देवी बनाम काकती मेडिकल कालेज**[3] के मामले में यह अभिनिर्धारित किया था कि चिकित्सा महा-विद्यालयों में प्रवेश के लिए तेलंगाना क्षेत्र के विद्यार्थियों के लिए अधिमानी व्यवहार न्यायोचित था चूंकि —

> "काकती मेडिकल कालेज मुख्यत: तेलंगाना क्षेत्र में, जो राज्य में शैक्षणिक रूप से पिछड़ा है, चिकित्सा शिक्षा के प्रसार के लिए प्रारंभ किया गया था। यदि इस उद्देश्य की दृष्टि से मुख्यतः उस विशेष क्षेत्र की शैक्षणिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कोई उपबंध किया जाता है, क्योंकि ऐसे क्षेत्र को इस प्रकार की सहायता

---

[1] [1981] 1 उम० नि० प० 129=[1980] 2 एस० सी० आर० 831.
[2] [1975] 2 उम० नि० प० 187=[1975] 2 एस० सी० आर० 761.
[3] ए० आई० आर० 1972 आन्ध्र प्रदेश 93.

की बहुत ही आवश्यकता है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि आन्ध्र क्षेत्र को अधिक प्रतिनिधित्व देकर किए गए वर्गीकरण से अभीष्ट उद्देश्य का कोई संबंध नहीं है। तेलंगाना के कोटा में हुई वृद्धि और संस्था की स्थापना में अन्तर्निहित उद्देश्य से संगत है उसको बढ़ावा देती है और उसे अग्रसर करती है।"

तथापि यहां पर हमारा संबंध राज्य में पिछड़े क्षेत्र के व्यक्तियों के लिए आरक्षण या अधिमानता के मामले से नहीं है और इसलिए हमें उस पर अधिक चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है।

19. उपर्युक्त चर्चा से यह प्रतीत होगा कि यद्यपि राज्य के विभिन्न जिलों या क्षेत्रों के निवासियों के बीच अन्तर्राज्यीय विभेद न्यायालय द्वारा अधिकांशत: समाप्त कर दिया गया है और उसे अविधिमान्य रूप से अभिखण्डित कर दिया गया है, क्योंकि **अप्राप्तवय पी० राजेन्द्रन**[1] के मामले में और **पेरिया करुप्पन**[2] के मामले में तथा **डी० एन० चंचला**[3] के मामले में और उसी के समान अन्य मामलों में भी न्यायालय ने चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए स्थानों के विश्वविद्यालय-वार वितरण के माध्यम से कायम रखा है। न्यायालय ने **डी० पी० जोशी**[4] के मामले में और **एन० वसुन्धरा**[5] के मामले में भी अपने विनिश्चयों द्वारा चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के प्रयोजन के लिए राज्य में निवास की अपेक्षा पर आधारित आरक्षण की सांविधानिक विधिमान्यता को कायम रखा है। ये सब विनिश्चय, जो एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश से संबंधित हैं, हम पर आबद्धकर हैं और इसलिए इन विनिश्चयों को देखते हुए हमारे लिए यह अभिनिर्धारित करना संभव नहीं है कि एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए राज्य में निवास की अपेक्षा असंगत है और वह अनुच्छेद 14 में अन्तर्विष्ट अवसर की समता की आज्ञा का उल्लंघन किए बिना प्रवेश की शर्त के रूप में पुर: स्थापित नहीं की जा सकती। हमें इस आधार पर कार्यवाही करनी चाहिए कि कम से कम जहां तक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश का सबंध है, राज्य में निवास की अपेक्षा को एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश की शर्त के रूप में लागू किया जा सकता है। यद्यपि यह बात सही है कि भारत सरकार द्वारा

---

[1] [1968] 1 उम० नि० प० 368=[1968] 2 एस० सी० आर० 786.
[2] [1971] 1 उम० नि० प० 932=[1971] 2 एस० सी० आर० 430.
[3] [1971] 3 उम० नि० प० 277=[1971] सप्ली० एस० सी० आर० 608.
[4] [1955] 1 एस० सी० आर० 1215.
[5] [1971] 3 उम० नि० प० 7=[1971] सप्लीमेंट एस० सी० आर० 381.

स्थापित मैडिकल एजूकेशन रिव्यू कमेटी ने सभी सुसंगत बातों पर विचार करने के पश्चात् अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की है कि अन्तिम उद्देश्य यह सुनिश्चित होना चाहिए कि एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में सभी प्रवेश विद्यमान अधिवास सम्बन्धी शर्त को अधिरोपित किए बिना अखिल भारतीय स्तर पर अभ्यर्थियों के लिए खुले होने चाहिएं, किन्तु उस प्रक्रम में अन्तरण की व्यावहारिक कठिनाइयों को देखते हुए, जहां सभी चिकित्सा महाविद्यालयों में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश अखिल भारतीय आधार पर होगा, वहीं मेडिकल एजूकेशन रिव्यू कमेटी ने यह सुझाव दिया है कि प्रारम्भ में कम से कम प्रत्येक संस्था में 25 प्रतिशत स्थान अखिल भारतीय आधार पर अभ्यर्थियों द्वारा भरे जाने के लिए अनुज्ञात किए जा सकते हैं। वर्तमान प्रक्रम में हम इस बारे में बिल्कुल ही निश्चित नहीं हैं कि क्या इस बात का उपबंध करना कि देश में सभी चिकित्सा विश्वविद्यालयों में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश अखिल भारतीय आधार पर होना चाहिए, व्यापक गतिशील अर्थ में समता की आज्ञा के अनुरूप होगा। हां, सैद्धांतिक रूप से, यदि प्रवेश अखिल भारतीय राष्ट्रीय परीक्षा के आधार पर दिया जाता है, तो प्रत्येक व्यक्ति को प्रवेश प्राप्त करने का समान अवसर होगा, किन्तु उसमें ऐसी विभिन्न बातों को जैसी कि विभिन्न क्षेत्रों के सामाजिक आर्थिक और शैक्षणिक विकास के विभिन्न स्तरों और विभिन्न राज्यों में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए उपलभ्य स्थानों की संख्या में भिन्नता को और उन कठिनाइयों को, जो एक क्षेत्र के ऐसे विद्यार्थी अनुभव कर सकते हैं जो अपने क्षेत्र से कहीं दूर स्थित किसी अन्य क्षेत्र में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में अखिल भारतीय प्रतियोगिता में प्रवेश पा सकते हैं, और अन्य सम्बद्ध कारकों को विचार में लिया जाएगा। इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि अखिल भारतीय आधार पर एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश सुनिश्चित करने की नीति अत्यधिक वांछनीय नीति है जो इस मूल कल्पना पर आधारित है कि भारत एक राष्ट्र है और प्रत्येक नागरिक शिक्षा को अग्रसर करने के लिए समान अवसर प्राप्त करने का हकदार है किन्तु यह एक अभीष्ट आदर्श है और उसे वर्तमान परिस्थितियों में अपनाना वास्तविक रूप से सम्भव नहीं भी हो सकता, क्योंकि वह अवसर की वास्तविक समता तब तक प्रदान नहीं कर सकता, जब तक कि असमानताओं का पूर्ण अभाव न हो और यह एक ऐसी स्थिति है जो साधारणतः आज देश में विद्यमान नहीं है। आजकल न केवल एक राज्य से दूसरे राज्य के बीच बहुत सी सामाजिक और आर्थिक असमानताएं हैं, किन्तु राज्य में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र के बीच भी असमानताएं हैं और एक ही क्षेत्र में नागरिकों के बीच भी असमानताएं

है। अमीर और गरीब के बीच बहुत बड़ा अन्तर है और ऐसी बहुत सी निर्योग्यताएं और अन्याय हैं जिन्हें वर्ग के रूप में गरीबों को सहन करना पड़ता है और वे स्वयं किसी ऐसे अवसर का लाभ नहीं उठा सकते जो विधि के अनुसार उनको उपलभ्य हों। उनके पास इन अवसरों का लाभ उठाने लिए सामाजिक और भौतिक स्रोत नहीं हैं जिन्हें केवल कागजों पर ही विधि द्वारा मान्यता प्राप्त होती है, किन्तु वास्तव में वे अस्तित्व में नहीं होतीं। पिछड़े राज्यों या क्षेत्रों के विद्यार्थी मुश्किल से ही उन विद्यार्थियों से प्रतियोगिता करने में समर्थ हो सकेंगे जो विकसित राज्यों या क्षेत्रों के हैं, क्योंकि यद्यपि कुशाग्र बुद्धि होने के बाद भी उन्हें विकास के पर्याप्त अवसर नहीं होंगे जिससे कि वे अन्य विद्यार्थियों से प्रतियोगिता करने की स्थिति में हो सकें। इसी प्रकार कमजोर वर्ग के विद्यार्थी, जो अपनी सामाजिक या आर्थिक अलाभप्रद स्थिति के कारण अच्छे स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने में समर्थ नहीं रहे हैं, उन अच्छे परिवारों के विद्यार्थियों की तुलना में अलाभप्रद स्थिति में होंगे जिन्होंने सर्वोत्तम स्कूली शिक्षा प्राप्त की है तथा अखिल भारतीय खुली प्रतियोगिता में उनका विजय प्राप्त करना सम्भाव्य होगा। ऐसे बहुत से विद्यार्थी होंगे जिन्हें, यदि अपने निवास-स्थान के नजदीक के चिकित्सा महाविद्यालय में प्रवेश नहीं मिलता है और अखिल भारतीय खुली प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप किसी अन्य राज्य के दूरस्थ महाविद्यालय में प्रवेश दिया जाता हैं, तो वे स्रोतों और सुविधाओं की कमी के कारण ऐसे अन्य महाविद्यालय में जाने में समर्थ नहीं भी हो सकते हैं और इसके परिणामस्वरूप वे चिकित्सा पाठ्यक्रम पूरा करने के वास्तविक अवसर से प्रभावी रूप से वंचित होंगे, यद्यपि कागज पर उन्हें चिकित्सा महाविद्यालय में प्रवेश प्राप्त हो जाएगा। यह बात इन विद्यार्थियों की बाबत यह कहने की कोटि में आएगी कि उन्हें चिकित्सा पाठ्यक्रम पूरा करने का अवसर दे दिया गया है किन्तु यदि वे ऐसे चिकित्सा महाविद्यालय के कारण वहां नहीं जा सकते जिसमें उन्हें किसी अन्य राज्य के दूरस्थ महाविद्यालय में प्रवेश दिया गया है, तो उनका यह दुर्भाग्य है, कि राज्य उसकी सहायता नहीं कर सकता क्योंकि राज्य ने केवल वही किया है जो वह कर सकता है अर्थात् सब को चिकित्सा शिक्षा लेने का समान अवसर प्रदान किया है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या दिया गया अवसर वास्तविक है या भ्रामक? इसलिए हमारा यह मत है कि निवास की अपेक्षा के आधार पर कुछ प्रतिशत आरक्षण वैध रूप से किया जा सकता है, ताकि व्यापक आधार पर चिकित्सा महाविद्यालय में प्रवेश के लिए समान अवसर प्राप्त हो सकें जिससे कि औपचारिक नहीं, बल्कि वास्तविक और केवल विधिक ही नहीं, बल्कि वास्तविक समता लाई जा सके। इस कारण से किए

गये आरक्षण के प्रतिशत में उसी विश्वविद्यालय की प्री-यूनिवर्सिटी कोर्स परीक्षा या प्री-मेडिकल परीक्षा पास करने वाले विद्यार्थियों के लिए संस्थावार आरक्षण सम्मिलित किया जा सकता है अथवा राज्य में चिकित्सा महाविद्यालयों के शैक्षणिक अन्तर्देश की स्कूल पद्यति से अर्हता परीक्षा पास करने पर प्रवेश दिया जा सकता है और इस प्रयोजन के लिए राज्य बोर्ड से संबंधित स्कूलों और सैण्ट्रल बोर्ड आफ सेकेंडरी एजूकेशन से संबंधित स्कूलों के बीच कोई प्रभेद नहीं किया जाना चाहिए। अन्तरिम उपाय के रूप में उपबंध करना संवैधानिक रूप से तब तक अनुज्ञेय होगा, जब तक कि हम ऐसी अवस्था में नहीं पहुंच जाते हैं, जब हम व्यापक अर्थ में समता के नियम की व्यापक आज्ञा का अनुसरण नहीं करते हैं और राष्ट्रीय प्रवेश परीक्षा के आधार पर एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश सुनिश्चित नहीं करते हैं। यह एक ऐसा आदर्श है जिस तक पहुंचने के लिए हमें सतत प्रयत्न करना चाहिए। विहित निवास संबंधी अपेक्षा को पूरा करने वाले विद्यार्थियों के लिए और उन विद्यार्थियों के लिए भी, जिन्होंने प्रि-यूनिवर्सिटी कोर्स या प्रि-मेडिकल परीक्षा पास की है अथवा विश्वविद्यालय या राज्य द्वारा ली गई कोई अन्य अर्हता परीक्षा पास की है, चिकित्सा महाविद्यालयों में स्थानों के कुछ प्रतिशत का आरक्षण अवश्य ही किया जाना चाहिए तथा इस प्रयोजन के लिए उससे कोई विभेद नहीं करना चाहिए, चाहे अर्हता परीक्षा राज्य बोर्ड या सेंट्रल बोर्ड आफ सेकेंडरी एजूकेशन संचालित करता हो, क्योंकि राज्य बोर्ड से सहबद्ध स्कूलों और सैण्ट्रल बोर्ड आफ सेकेंडरी एजूकेशन से सम्बद्ध स्कूलों के बीच कोई प्रभेद नहीं कर सकता है। हम यह भी बतला सकते हैं कि बहस की समाप्ति के समय हमने विद्वान् अटर्नी जनरल से न्यायालय को यह सूचना देने के लिए कहा था कि ऐसे आरक्षण के मामले में भारत सरकार की नीति क्या है तथा न्यायालय द्वारा की गई पूछ-ताछ के उत्तर में विद्वान् अटर्नी जनरल ने नीति संबंधी एक कथन फाइल किया था जिसमें भारत सरकार की नोति का निम्नलिखित निरूपण किया गया है—

> "साधारणतः केन्द्रीय सरकार उच्च शिक्षा संस्था में, चाहे व्यावसायिक हो या अन्यथा, प्रवेश के लिए अधिवास या निवास पर आधारित आरक्षण के सिद्धांत की विरोधी है। व्यावसायिक शिक्षा की संस्थाओं सहित उच्च अध्ययन वाली संस्थाओं की पद्धति क्षेत्रीय प्रकृति को देखते हुए आरक्षण करने अथवा संस्थाओं की स्कूल संबंधी शिक्षा पद्धति से आने वाले विद्यार्थियों के लिए पूर्व-स्नातक पाठ्यक्रम में युक्तियुक्त संख्या के लिए आरक्षण या अधिमानता अनुबंधित करने

पर कोई आक्षेप नहीं है। इस प्रयोजन के लिए राज्य बोर्ड से संबंधित स्कूलों और सेंट्रल बोर्ड आफ सेकेंडरी एजूकेशन से संबंधित स्कूलों के बीच कोई प्रभेद नहीं होना चाहिए।"

हमें यह जानकर खुशी हुई है कि निवास संबंधी अपेक्षा और संस्थावार अधिमानता पर आधारित आरक्षण के मामले में भारत सरकार की नीति इस निमित्त हमारे द्वारा अपनाए गए मत के अनुसार है। हम यह बतला सकते हैं कि यदि किसी प्रक्रम में अखिल भारतीय प्रवेश परीक्षा के आधार पर एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश को विनियमित करने का विनिश्चय किया गया है, तो भी निवास या संस्थावार सहबद्धता के आधार पर चयन किये गए अभ्यर्थियों के बीच स्थानों के आबंटन के लिये कोई उपबंध करना होगा, ताकि ऊपर उल्लिखित तथ्यों पर विचार किया जा सके।

20. जिस एकमात्र प्रश्न पर विचार किया जाना शेष है वह यह है कि निवास संबंधी अपेक्षा और संस्थावार अधिमानता पर आधारित आरक्षण की सीमा क्या होनी चाहिए। इस बारे में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि ऐसा आरक्षण खुली प्रतियोगिता में अधिनिर्णीत योग्यता के आधार पर अन्य विश्वविद्यालयों और राज्यों के विद्यार्थियों के प्रवेश को पूर्ण रूप से अपवर्जित नहीं कर सकता। **जगदीश सरन**[1] के मामले में न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने रिपोर्ट के पृष्ठ 845 और 846 पर सही रूप से निम्नलिखित मत व्यक्त किया है जो इस प्रकार है —

"आरक्षण प्रतियोगता की मांगों द्वारा नियंत्रण में रखा जाना चाहिए। आप आरक्षण का फायदा उस सीमा तक नहीं ले सकते जहां न्यूनतम अर्हताएं न हों। इसी प्रकार सब योग्य व्यक्तियों को सम्पूर्ण आरक्षण द्वारा अपवर्जित नहीं किया जा सकता। इसलिए कुछ प्रतिशत, जो संभव हो सके, विश्वविद्यालय, राज्य और इसी प्रकार की बातों को ध्यान में रखते हुए योग्यता प्रदर्शन के लिए खुला रखा जाना चाहिए। प्रान्त के हित के लिए देश के शेष भाग का पूर्ण रूप से अपवर्जन परीक्षित योग्यता का खुली प्रतियोगिता के लिए पूर्ण रूप से निर्वासन—जब कि आशा है कि कुछ दलित प्रतिभा (अभ्यर्थी) का ही चयन हो सकता है, समानता की बेदी पर प्रतिभा का पूर्ण त्याग जब कि संविधान प्रत्येक के लिए विधि के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण का आदेश करता है। घातक मूर्खता, शैक्षणिक तकनीकी की स्वयं विफलता राष्ट्र विरोधी होगी, यदि इन सब बातों को राज्य की नीति का सामान्य नियम बना दिया जाता

1 [1981] 1 उम० नि० प० 129=[1980] 2 एस० सी० आर० 831.

है। उचित अधिमानता, युक्तियुक्त आरक्षण, पूर्विक आवश्यकताओं का न्यायोचित समायोजन और कमजोरों की वास्तविक संभावना के साथ प्रतियोगी योग्यता की उपस्थिति को आंशिक मान्यता, सामाजिक न्याय की गतिशीलता है जो संविधान के तीनों अनुच्छेदों को बराबर सजीव बनाती है।''

हम विद्वान् न्यायाधीश द्वारा व्यक्त इन मतों से पूर्णतः सहमत हैं और हम किसी हिचकिचाहट के बिना राज्य में अधिवास या निवास की अपेक्षा के आधार पर अथवा संस्थावार अधिमानता के आधार पर ऐसे विद्यार्थियों के लिए कुछ राज्य सरकारों द्वारा किए गए पूर्ण आरक्षण की निन्दा करते हैं जिन्होंने विश्वविद्यालय या राज्य द्वारा ली गई अर्हता परीक्षा पास की है और योग्यता के बावजूद भी इस अपेक्षा को पूरा न करने वाले सभी विद्यार्थियों को अपवर्जित किया है। हम ऐसे पूर्ण आरक्षण को संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करने के आधार पर असांविधानिक और शून्य घोषित करते हैं।

21. किन्तु राज्य में निवास संबंधी अपेक्षा पर अथवा विश्वविद्यालय या राज्य द्वारा ली गई अर्हता परीक्षा पास करने वाले विद्यार्थियों के लिए संस्थावार अधिमानता पर आधारित आरक्षण को किस सीमा तक सांविधानिक रूप से अनुज्ञेय माना जा सकता है ? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देना संभव नहीं है क्योंकि भारत सरकार की नीति संबंधी कथन में, जैसाकि बतलाया गया है, ऐसे आरक्षण की सीमा कई तथ्यों पर निर्भर होगी जिसमें उस क्षेत्र विशेष में व्यावसायिक शिक्षा के अवसर, प्रतियोगिता की सीमा, क्षेत्र के शैक्षणिक विकास का स्तर और कई सुसंगत तथ्य भी सम्मिलित हैं। यह हो सकता है कि किसी राज्य में, जहां शैक्षणिक विकास का स्तर बहुत ही कम है और चिकित्सा संबंधी विशेष विषयों में प्रशिक्षण के लिए तुलनात्मक रूप से, अपर्याप्त अवसर है और जहां बहुत बड़े पैमाने पर सामाजिक और आर्थिक पिछड़ापन है, वहां राज्य में चिकित्सा महाविद्यालयों में स्थानों के उच्च प्रतिशत के आरक्षण के लिए न्यायौचित्य हो सकता है और ऐसा उच्च प्रतिशत सामाजिक न्याय के परिप्रेक्ष्य में देखे जाने पर समता की आज्ञा के अनुरूप नहीं भी हो सकता है। शैक्षणिक अवसर के संदर्भ में सामाजिक और आर्थिक तथ्यों पर निर्भर होने वाली बहुत सी भिन्नताएं इस प्रश्न का अवधारण करने के लिए सहायक होंगी कि किसी विशेष राज्य के मामले में राज्य में निवास की अपेक्षा या संस्थावार अधिमानता पर आधारित आरक्षण की सीमा क्या होनी चाहिए। किन्तु हमारी राय में ऐसा आरक्षण विधिमान्य

रूप से किए गए अन्य प्रकार के आरक्षणों पर विचार करने के पश्चात् खुले स्थानों की कुल संख्या के 70% की बाहरी सीमा से किसी भी दशा में अधिक नहीं होना चाहिए। मेडिकल एजूकेशन रिव्यू कमेटी ने यह सुझाव दिया है कि बाहरी सीमा 75% से अधिक नहीं होनी चाहिए किन्तु हमारा यह मत है कि बाहरी सीमा 70 प्रतिशत तक नियत करना न्यायोचित और उचित होगा। हम समता और अधिमानता के स्पष्ट विरोधी दावों को समायोजित करने के प्रयत्न में आरक्षण की यह बाहरी सीमा अधिकथित कर रहे हैं। हम यह बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारे द्वारा नियत यह बाहरी सीमा किसी भी ऐसी कमी के अध्यधीन होगी जो भारतीय चिकित्सा परिषद् जो कि चिकित्सा व्यावसायियों का कानूनी निकाय है, कर सकती है जिसकी कार्यकारी बाध्यताओं में चिकित्सा शिक्षा के लिए मानक स्थापित करना और उसका विनियमन और समन्वय करना सम्मिलित है। हमारी यह राय है कि हमारे द्वारा नियत की गई यह बाहरी सीमा आहिस्ता-आहिस्ता कई वर्षों के बाद उत्तरोत्तर कम होती जाएगी और वह ऐसा काम है जो भारतीय चिकित्सा परिषद् को करना होगा। हम आज से नौ मास की कालावधि के भीतर भारतीय चिकित्सा परिषद् को इस बात पर विचार करने का निदेश देते हैं कि क्या हमारे द्वारा नियत की गई 70 प्रतिशत की बाहरी सीमा में कुछ कमी किए जाने की आवश्यकता है और यदि भारतीय चिकित्सा परिषद् इस बाहरी सीमा को कुछ कम नियत करती है, तो वह राज्य और संघ राज्यक्षेत्रों पर आबद्धकर होगी। हम भारतीय चिकित्सा परिषद् को प्रत्येक तीन वर्ष की समाप्ति पर इस प्रकार नियत बाहरी सीमा पर पुनर्विचार करने का भी निदेश देते हैं किन्तु किसी भी दशा में, यह बाहरी सीमा हमारे द्वारा नियत 70 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। परिणाम यह है कि किसी भी दशा में ऐसे राज्य या विश्वविद्यालय को विचार में लाए बिना जिससे कि वे आए हैं, अखिल भारतीय विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए खुले स्थान कम से कम 30 प्रतिशत होंगे और ऐसे प्रवेश राज्य द्वारा ली गई अखिल भारतीय प्रवेश परीक्षा या प्रवेश परीक्षा के आधार पर पूर्णतः योग्यता के आधार पर किए जाएगें। यद्यपि हम यह कहने की आवश्यकता महसूस नहीं करते हैं कि जहां इस निर्णय में दिए गए निदेशों के अनुसार निवास संबंधी अपेक्षा या संस्था-वार अधिमानता के आधार पर आधारित आरक्षण इस निर्णय में दिए गए निदेशों के अनुसार किया जाता है, वहां भी ऐसे आरक्षण द्वारा उपदर्शित स्रोत या स्रोतों से प्रवेश केवल योग्यता पर आधारित होगा, क्योंकि उद्देश्य ऐसे स्रोत या स्रोतों से सर्वोत्तम और सर्वाधिक योग्य विद्यार्थियों का चयन करना होना चाहिए।

22. इसी प्रकार एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए भी आधार होना चाहिए, किन्तु विभिन्न बातें अवश्य ही तब अभिभावी होनी चाहिएं, जब हम एम० डी०, एम० एस० और इसी के समान उनके स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए राज्य में निवास सम्बन्धी अपेक्षा पर या संस्थावार अधिमानता पर आधारित आरक्षण के प्रश्न पर विचार करते हैं। हम किन्हीं भी अन्य बातों के कारण योग्यता के सिद्धांत के बारे में कोई समझौता नहीं कर सकते, क्योंकि वह राष्ट्र के हित के प्रतिकूल होगा। जगदीश सरन[1] के मामले में न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने सही रूप से मत व्यक्त किया था और हम उस मत का पूर्ण रूप से समर्थन करते हैं जो उन्होंने व्यक्त किया है—

> "किसी क्षेत्र की मूल चिकित्सा आवश्यकताएं या अधिमानता देना अक्षम समूह के लिए न्यायोचित ठहराता है और विशेषज्ञ की उच्चतम तराजू पर उसी माप से प्रचलित नहीं रह सकता वहां अच्छे योग्य या निपुण व्यक्तियों का चयन उनकी योग्यता के अनुसार होना चाहिए। पी० एच० डी०, एम० डी० के स्तर पर या उच्च दक्षता के स्तरों पर, जहां अन्तर्राष्ट्रीय निपुणता का माप दण्ड बनाया जाता है, जहां एक महान वैज्ञानिक या तकनीकी बनाने का अवसर खो देना राष्ट्रीय हानि है, वे बातें जिनको हमने महत्वपूर्ण रूप में विचार किया है, अपना महत्व खो देती हैं, यहां पर समता का, जहां प्रतिभा का मिलान किया जाता है, व्यापक अर्थ है और उसे बड़ी जोखिम के बिना अधिक आतमसात नहीं किया जा सकता।"

> "यदि देश में प्रत्येक व्यक्ति के लिए अवसर की समानता सांविधानिक प्रत्याभूति है तो अभ्यर्थी, जो अन्य से अधिक अंक प्राप्त करता है, प्रवेश के लिए अधिमानता प्राप्त करने हेतु हकदार गुणता के समय कसौटी अवश्य ही होनी चाहिए जब समान अंकों के लिए समान अवसर के इस नियम के अनुसार अच्छे व्यक्ति का चयन करना होता है। इस सिद्धांत का बहुत अधिक महत्व है जब हम स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों जैसे शिक्षा के उच्च स्तर पर पहुंचते हैं। यद्यपि चिकित्सा जैसे किसी महत्वपूर्ण क्षेत्र में उच्च तकनीकी विशेषज्ञता राष्ट्र के मानव की एक आस्ति है जिसके बिना उसकी उन्नति और विकास रुक जायगा। उच्च वर्ग के विशेषज्ञ या विशेष

---

[1] (1981) 1 उम० नि० प० 129=[1980] 2 एस० सी० आर० 831.

योग्य व्यक्तियों की भूमिका सामाजिक असमानता के मामले में शिक्षा, काम और अनुशासन के निम्न स्तरों पर कम हो सकती है किन्तु नाजुक विशेषज्ञता और उच्च नियोजक के उच्च स्तरों पर अधिक होती है। प्रारंभ में ही गुण का कम मूल्यांकन करना वृत्ति विशेषज्ञों के महत्वपूर्ण क्षेत्र में देश के विकास को अवरुद्ध करना है। विज्ञान और तकनीकी तथा विकास के महत्वपूर्ण अन्य विनिर्दिष्ट क्षेत्रों में कार्य सम्पादन के वास्तविक मानकों के संबंध में ढीलाई या सरलता-पूर्वक रियायत देने से बहुत बड़ी राष्ट्रीय जोखिम हो सकती है क्योंकि उन्नतिशील चिकित्सा के क्षेत्र में और अन्य उच्च ज्ञान के अन्य महत्वपूर्ण विभागों में जो कि उन्नति के लिए तात्विक हैं, भारत के लोगों को राष्ट्र के योग्यतम व्यक्तियों की सेवा से इन्कार नहीं किया जाना चाहिए जो कि निष्क्रिय बैठे हुए हैं और महत्वपूर्ण उत्पादन कर सकते हैं। यदि इन क्षेत्रों में योग्यतम व्यक्तियों को आरक्षण की आड़ में साधारण-सी बातों के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता है तो इससे लम्बे समय में प्रभावित व्यक्ति स्वयं जनता ही हो सकती है यद्यपि योग्यतम व्यक्तियों के चयन करने में यह अवास्तविक नियंत्रण अन्य स्तरों पर इतना महत्वपूर्ण नहीं भी हो सकता है जहां दक्षता का व्यापक उपाय पर्याप्त हो तथा जहां केवल इस बात की आवश्यकता होती है कि अयोग्य व्यक्तियों को रोक दिया जाय।"

"द्वितीयतः और अधिक महत्वपूर्ण रूप से गुणता के आधार की भर्त्सना करना या उसे अस्वीकार करना कठिन है जब चयन विशिष्ट विषयों में स्नातकोत्तर या डाक्टरोत्तर पाठ्यक्रमों के लिए हो। कुछ अनुशासनों की कठिन चरम सीमा पर केवल आन्तरिक प्रेरणा के लिए सृजनात्मक प्रतिभा के लिए दक्षतापूर्ण निर्वहन के लिए कोई प्रति-स्थापित नहीं है, जहां केवल सबसे अच्छे व्यक्ति के ही सर्वोत्तम रूप में विकसित होने की संभावना है, निचले स्तर के अभ्यर्थियों का चयन करके कमजोर वर्गों के साथ नीरस सहानुभूति दर्शाना, अस्पताल सेवा में श्रेष्ठता के अवसर से इनकार करके सम्पूर्ण समाज को दण्डित करता है सबसे निर्धन व्यक्ति को भी, जब घातक बीमारी से पीड़ित हो, निपुणतम विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है न कि तुच्छ बुद्धि व्यक्तियों की। इस प्रकार बिल्कुल ही समता और क्वालिटी की उपेक्षा करके गुणता में रियायत सामाजिक जोखिम है जहां प्रक्रम स्नातकोत्तर या डाक्टरोत्तर हो।"

न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर के ये उद्धरण स्पष्ट रूप से और जोरदार ढंग से उसी निष्कर्ष को व्यक्त करते हैं जो हमने स्वतन्त्र रूप से निकाला है और वास्तव में वह मत इन उद्धरणों में इतने जोरदार ढंग से किया गया है कि हमारे विचार से हम उस मत में कोई उपयोगी बात नहीं जोड़ सकते हैं, जो उसमें पहले से ही कही गई है। हम यह बतला सकते हैं कि भारतीय चिकित्सा परिषद् ने भी इस बात पर बल दिया है कि जहां तक स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में प्रवेश का संबंध है, स्थानीय भावनाओं को अनुचित आश्रय देने के लिए योग्यता के साथ खिलवाड़ करना उलटी युक्ति होगी। हम इस मुद्दे पर भारतीय चिकित्सा परिषद् की सिफारिश को पुनः उद्धृत कर सकते हैं जो सामाजिक चातुर्य में अन्तिम बात नहीं होगी किन्तु जो निश्चित रूप से विचारणीय है—

> "स्नातकोत्तर प्रशिक्षण के लिए विद्यार्थी का चयन यथार्थ रूप से योग्यता के आधार पर किया जाना चाहिए और योग्यता का आधार पूर्व-स्नातक पाठ्यक्रम में शैक्षणिक अभिलेख के आधार पर होना चाहिए। स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के लिए सभी चयन विश्व-विद्यालयों को करने चाहिएं।"

मेडिकल एजूकेशन रिव्यू कमेटी ने भी यह राय व्यक्त की है कि "किसी भी संस्था में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में सभी प्रवेश अखिल भारतीय आधार पर अभ्यर्थियों के लिए खुले होने चाहिएं और किसी ऐसे राज्य/संघ राज्यक्षेत्र में जिसमें संस्था स्थित है, अधिवास संबंधी कोई निर्बन्धन नहीं होना चाहिए।" इसी प्रकार विद्वान् अटर्नी जनरल द्वारा फाइल किए गए नीति सबंधी कथन में भी भारत सरकार ने स्पष्ट रूप से यह मत व्यक्त किया है—

> "जहां तक स्नातकोत्तर महाविद्यालयों की संस्थाओं और विशेष व्यवसाय संबंधी महाविद्यालयों में प्रवेश का संबंध है, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के पक्ष में सांविधानिक आरक्षणों के अध्यधीन रहते हुए अखिल भारतीय योग्यता के आधार पर पूर्ण रूप से होना चाहिए।"

इसलिए हमारा मत है कि जहां तक स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों जैसे एम० एस०, एम० डी० और इसी प्रकार के अन्य पाठ्यक्रमों में प्रवेश का संबंध है, किसी राज्य के भीतर निवास संबंधी अपेक्षा अथवा संस्थावार अधिमानता पर आधारित किसी भी प्रकार के आरक्षण के लिए उपबंध करना वांछनीय नहीं होगा। किन्तु अवसर की समानता के व्यापक सिद्धांतों और शिक्षा में संस्था की

सततता को ध्यान में रखते हुए, जिसका स्वयं का अपना महत्व और मूल्य है, हम यह निदेश देंगे कि यद्धपि राज्य के भीतर निवास की अपेक्षा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए आरक्षण का आधार नहीं होनी चाहिए, तथापि वर्तमान परिस्थितियों में स्थानों का कतिपय प्रतिशत इस अर्थ में संस्थावार अधिमानता के आधार पर आरक्षित किया जा सकता है कि ऐसे विद्यार्थी को, जिसने किसी चिकित्सा महाविद्यालय या विश्वविद्यालय से एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम पास किया है, उसी चिकित्सा महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए अधिमानता दी जा सकती है किन्तु संस्थावार अधिमानता के आधार पर ऐसा आरक्षण स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए उपलब्ध खुले स्थानों की कुल संख्या के 50 प्रतिशत से किसी भी दशा में, अधिक नहीं होना चाहिए। यह बाहरी सीमा, जो हम नियत कर रहे हैं, उसी रीति से, जो हमने एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए निर्दिष्ट की है, भारतीय चिकित्सा परिषद् द्वारा उस सीमा में कमी करते हुए पुनरीक्षण के अध्यधीन होगी। किन्तु स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में प्रवेश के सम्बन्ध में भी हम यह निदेश देंगे कि है जहां तक न्यूरो सर्जरी और कार्डियोलाजी जैसे विशिष्ट विषयों का सम्बन्ध है, संस्थावार अधिमानता के आधार पर भी बिल्कुल ही कोई आरक्षण नहीं होना चाहिए और प्रवेश पूर्णतः अखिल भारतीय योग्यता के आधार पर ही दिए जाने चाहिएं।

23. एम० बी० बी० एस० और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में प्रवेश के सम्बन्ध में हमने जो कुछ भी ऊपर कहा है, वह बी० डी० एस० और एम० डी० एस० पाठ्यक्रमों में प्रवेश के सम्बन्ध में भी समान रूप से लागू होना चाहिए। जहां तक बी० डी० एस० और एम० डी० एस० पाठ्यक्रमों में प्रवेश का सम्बन्ध है, एम० बी० बी० एस० और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में प्रवेश के सम्बन्ध में हमने जो निदेश भारतीय चिकित्सा परिषद् को दिए हैं, उनको ही इण्डियन डेंटल कौंसिल जो दन्त चिकित्सा व्यावसायियों का एक कानूनी निकाय है, कार्यान्वित करेगी। इसलिए जहां तक बी० डी० एस० और एम० डी० एस० पाठ्यक्रमों में प्रवेश का सम्बन्ध है, भारतीय चिकित्सा परिषद् को हमने जो निदेश दिए हैं उन्हें इस प्रकार पढ़ा जाना चाहिए कि वे इण्डियन डेंटल कौंसिल को यथा-आवश्यक परिवर्तन सहित लागू होते हैं।

24. इन रिट पिटीशनों में हमारे द्वारा किए गए विनिश्चय भारत संघ, राज्य सरकारों और संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासनों पर आबद्धकर होंगे क्योंकि वे सम्पूर्ण देश के लिए विधि अधिकथित करते हैं और हमने यह विनिश्चय भारत संघ और सभी राज्य सरकारों तथा संघ राज्यक्षेत्रों को सूचना देने के पश्चात्

किया है। इसलिए हम यह बतला सकते हैं कि रिट पिटीशनों में पिटीशनरों को प्रवेश देने के सम्बन्ध में कोई और निदेश देना हमारे लिए आवश्यक नहीं है, क्योंकि जिसे शिक्षा-सत्र के लिए प्रवेश चाहे गए थे, वह पहले ही समाप्त हो चुका है और जहां तक उन पिटीशनरों का सम्बन्ध है, जिन्हें पहले ही अस्थायी प्रवेश दिया जा चुका है, हमने यह निदेश दिया है कि उन्हें दिए गए अस्थायी प्रवेश में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि उनके प्रवेश को अंतिम प्रवेश के रूप में माना जाएगा। तदनुसार रिट पिटीशनों और सिविल अपील का निपटारा वैसे ही किया जाता है जैसे कि ऊपर बताया गया है। इन रिट पिटीशनों और सिविल अपील में खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है।

न्यायाधिपति अमरेन्द्र नाथ सेन—

25. मुझे अपने विद्वान् बन्धु न्यायाधिपति भगवती के निर्णय को पढ़ने का अवसर मिला है। मैं अपने विद्वान् बन्धु द्वारा पारित आदेशों और दिए गए निदेशों से सहमत हूं, तथापि में संक्षेप में अपने स्वयं के कारणों का भी उल्लेख करना चाहता हूं।

26. मेरे विद्वान् बन्धु ने अपने निर्णय में राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न पहलुओं के प्रति निर्देश किया है और बहुत ही स्पष्ट रूप से भारत की एकता की आवश्यकता पर बल दिया है। मेरे विद्वान् बन्धु ने अपने निर्णय में सुसंगत तथ्यों और परिस्थितियों का उल्लेख किया है और वर्तमान कार्यवाहियों में अन्तर्ग्रस्त प्रश्न संबंधी सुसंगत विनिश्चयों पर भी विचार किया है।

27. विविधता में एकता भारतीय संस्कृति का एक विशेष लक्षण है और भारतीय राष्ट्रीयता का मूल सिद्धान्त है। वह हमारे संविधान का भी मूल आधार है जो एकता को अग्रसर करता है और इसके साथ ही भारतीय राष्ट्र गठित करने वाले विभिन्न राज्यों के विभिन्न वर्ग और प्रकार के लोगों की भिन्नता को भी कायम रखता है। विधि के समक्ष समता मूल परिकल्पना है और हमारे संविधान के अधीन उसकी गारन्टी दी गयी है। हर एक प्रकार के विभेद से सांविधानिक समता की संकल्पना का अतिक्रमण नहीं होता है और निश्चित रूप से भारत की एकता को नष्ट नहीं करता। किसी भी प्रकार के विभेद की विधिमान्यता को संविधान के अनुच्छेद 14 की कसौटी पर परखा जाना चाहिए। बहुत से मामलों में समुचित वर्गीकरण समता का मूल आधार होता है और सही अर्थ में विविधता में एकता को अग्रसर करता है।

28. मेरे विचार से इन कार्यवाहियों में अन्तर्ग्रस्त प्रश्न की परिधि बहुत ही संक्षिप्त है। प्रथम प्रश्न किसी राज्य में चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए राज्य में आवेदक के निवास के आधार पर स्थानों के आरक्षण से संबंधित है। इससे संबंधित प्रश्न चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए स्थानों के संस्थावार आरक्षण का प्रश्न है। उठाया गया अन्य प्रश्न स्नातकोत्तर चिकित्सा पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए ऐसी बातों के आधार पर स्थानों के आरक्षण का प्रश्न है।

29. निवास के आधार पर स्थानीय सीमाओं के भीतर स्थानों के आरक्षण की सांविधानिक विधिमान्यता का प्रश्न और स्थानों का संस्थावार आरक्षण का प्रश्न स्पष्ट रूप से इस न्यायालय के विभिन्न विनिश्चयों द्वारा हल कर दिया गया प्रतीत होता है, और जैसा कि मेरे विद्वान् बन्धु ने अपने निर्णय में सही रूप से बतलाया है, जिसमें कि उन्होंने इन विनिश्चयों के प्रति विस्तारपूर्वक निर्देश किया है। ये विनिश्चय इस न्यायालय पर आबद्धकर हैं और उनका अनुसरण किया जाना चाहिए। इसलिए युक्तियुक्त सीमा के भीतर ऐसे आरक्षणों की संवैधानिक विधिमान्यता को अवश्य ही कायम रखा जाना चाहिए।

30. वास्तविक प्रश्न उस सीमा के विस्तार का प्रश्न है, जिस तक ऐसे आरक्षणों को युक्तियुक्त माना जा सकता है। ऐसे आरक्षणों की युक्तियुक्तता का प्रश्न विशेष मामलों के तथ्यों और परिस्थितियों के प्रति निर्देश से और किसी दिए गए समय पर विद्यमान स्थिति के प्रति निर्देश से ही हल किया जाना चाहिये। मेरे विद्वान् बन्धु ने अपने निर्णय में इन पहलुओं पर विस्तारपूर्वक और सावधानीपूर्वक विचार किया है। सभी तथ्यों और परिस्थितियों और पेश की गई सामग्री पर सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् मेरे विद्वान् बन्धु ने समुचित आदेश का प्रस्ताव किया है और इस संबंध में आवश्यक निदेश दिए हैं। मेरे विद्वान् बन्धु द्वारा पारित आदेश और अभिलेख की सामग्री के आधार पर तथा इस न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चयों पर विचार करने के पश्चात् उनके द्वारा दिए गए निदेश से न्याय का उद्देश्य पूरा होगा और विधि की अपेक्षाओं की भी पूर्ति होगी और उससे राष्ट्रीय एकता प्रभावित या कम नहीं होगी। इसलिए मैं इस संबंध में उनके द्वारा पारित आदेशों और निदेशों से पूर्णतः सहमत हूं।

31. स्नातकोत्तर चिकित्सा पाठ्यक्रमों में प्रवेश के प्रश्न के सम्बन्ध में मैं यह स्वीकार करता हूं कि विशिष्ट विषयों के आधार पर किए गए

अतिरिक्त वर्गीकरण के बारे में मेरे मस्तिष्क में कुछ शंकाएं हैं। तथापि, मेरे दोनों विद्वान् बन्धु इससे सहमत हैं। व्यापक परिप्रेक्ष्य में इस वर्गीकरण से अच्छी तरह से राष्ट्रीय हित-साधन हो सकता है, यद्यपि राज्यों के व्यक्तिगत हित कुछ सीमा तक प्रभावित हो सकते हैं। विशिष्ट विषयों के मामले में यह प्रभेद इस आधार पर भी हो सकता है कि इन बहुत ही महत्वपूर्ण क्षेत्रों में चयन का आधार किसी संस्थावार आरक्षण के बिना अथवा निवास के आधार पर किसी आरक्षण के बिना केवल योग्यता ही होना चाहिए। मैं इस बात से भी सहमत हूं कि एम० बी० बी० एस० और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में प्रवेश के संबंध में प्रस्तावित आदेशों और निदेशों की बाबत यह पढ़ा जाना चाहिए कि वे बी० डी० एस० और एम० डी० एस० पाठ्यक्रमों में प्रवेश के संबंध में, यथा-आवश्यक परिवर्तन सहित, लागू होते हैं।

32. चिकित्सा महाविद्यालयों और स्नातकोत्तर चिकित्सा पाठ्यक्रमों में प्रवेश की समस्या अधिक चिकित्सा महाविद्यालय स्थापित करके और ऐसे महाविद्यालयों में स्थानों की संख्या बढ़ाकर ही उचित और प्रभावी रूप से हल की जा सकती है, ताकि इच्छुक विद्यार्थी विभिन्न विषयों में चिकित्सा व्यवसायियों और विशेषज्ञों के रूप में अर्हित होकर अपने उद्देश्य को पूरा कर सकें। यही स्थिति बी० डी० एम० और एम० डी० एस० पाठ्यक्रमों के संबंध में भी है। मेरे विद्वान् बन्धु ने अपने निर्णय में इस पहलू पर भी बहुत ही उचित रूप से ध्यान दिया है।

33. इन मतों के साथ, मैं अपने विद्वान् बन्धु न्यायाधिपति भगवती द्वारा पारित आदेशों और दिये गये निदेशों से सहमत हूं।

आदेश

34. इस शैक्षणिक सत्र में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश चाहने वाले विद्यार्थियों में से कुछ ने इस न्यायालय को आवेदन किया है कि चिकित्सा संबंधी प्रवेश के मामलों में तारीख 22 जून, 1984 को दिया गया निर्णय अगले शैक्षणिक सत्र से प्रभावी किया जाये, क्योंकि तारीख 22 जून, 1984 को दिये गये निर्णय से पहले देश में कुछ विश्वविद्यालयों से संलग्न चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश पहले ही किया जा चुका है, और इसके अतिरिक्त विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्रवेश से संबंधित प्रक्रिया में एकरूपता लाने के प्रयोजन के लिये कुछ समय लगेगा। तदनुसार, हमने आवेदन पर विद्वान् अधिवक्ताओं को, जो मुख्य रिट पिटीशनों की सुनवाई पर विभिन्न पक्षकारों

की ओर हाजिर हुये थे तथा अटर्नी जनरल को सूचना जारी की है और उनकी सुनवाई के पश्चात् हमने यह निष्कर्ष निकाला है और सभी पक्षकारों ने यह स्वीकार किया है कि इस तथ्य को देखते हुये कि प्रवेश की सब औपचारिकताएं जिनमें प्रवेश-परीक्षा का लिया जाना भी सम्मिलित है, तारीख 22 जून, 1984 के निर्णय से पहले कुछ राज्यों में पूरी हो चुकी हैं और चूंकि निर्णय कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक तैयारियां करने के वास्ते कुछ समय लगेगा, इसलिये वर्तमान शैक्षणिक सत्र से निर्णय को प्रभावित करना व्यावहारिक नहीं है और वास्तव में वर्तमान शैक्षणिक वर्ष से निर्णय को कार्यान्वित करने के लिये कुछ राज्यों को बाध्य करने का प्रभाव असमानता पैदा करना होगा, जबकि अन्य राज्यों को बाध्य नहीं किया गया है और यदि निर्णय को तुरन्त ही कार्यान्वित करने के लिये सभी राज्यों से अपेक्षा की जाती है, तो पहले से ही किये गये प्रवेशों को रद्द करना होगा और नवीन प्रवेश परीक्षाएं लेनी होंगी और इसके लिये कम से कम दो या ढाई मास अपेक्षित होंगे। इसके परिणामस्वरूप विद्यार्थियों को तुरन्त कठिनाई होने के अतिरिक्त शैक्षणिक सत्र प्रारम्भ होने में विलम्ब होगा। इसलिए हम यह निदेश देते हैं कि निर्णय अगले शैक्षणिक सत्र 1985-86 से कार्यान्वित किया जाये। शैक्षणिक वर्ष 1984-85 के लिये जो कुछ भी प्रवेश, अस्थायी या अन्यथा, किए जा चुके हैं, उनमें निर्णय के आधार पर हस्तक्षेप न किया जाये। हम यह स्पष्ट कर देते हैं कि निर्णय आन्ध्र प्रदेश और जम्मू-कश्मीर राज्य को लागू नहीं होगा, क्योंकि मुख्य रिट पिटीशनों की सुनवाई के समय इन राज्यों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् अधिवक्ताओं ने हमें यह बतलाया था कि उनके संबंध में विशेष सांविधानिक उपबंध हैं जिन पर इस न्यायालय को स्वतंत्र रूप से विचार करने की आवश्यकता होगी।

35. यह आदेश तारीख 22 जून, 1984 को दिये गये मुख्य निर्णय का भाग होगा।

सिविल अपील और रिट पिटीशन मंजूर किये गये।

जैन/श्री०

धर्मेश प्रसाद वर्मा

बनाम

फैयाजुल आज़म

(17 जुलाई, 1984)

(न्यायाधिपति एस० मुर्तजा फज़ल अली, ए० वरदराजन् और रंगनाथ मिश्र)

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 (1951 का 43)— धारा 123(5) —निर्वाचन—निर्वाचन अर्जी—भ्रष्टाचरण — निर्वाचन-अर्जीदार द्वारा इस बात का अकाट्य सबूत पेश किया जाना कि निर्वाचित अभ्यर्थी ने अपने निर्वाचकों के मुफ्त प्रवहण के लिए जीप उपाप्त की और उसका उस कार्य के लिए उपयोग किया—उक्त धारा के अधीन भ्रष्टाचरण संबंधी विधि की अपेक्षा यह है कि किसी मतदान केन्द्र को या से मतदाताओं के ले जाने के लिए यान या जलयान को भाड़े पर लेने या उपाप्त करने की बात साबित करने के अतिरिक्त यह साबित किया जाना चाहिए कि निर्वाचकों ने ऐसे यान या जलयान का उपयोग मुफ्त किया था—चूंकि उक्त अपेक्षा साबित हो गई है, अतः निर्वाचित अभ्यर्थी निर्वाचन में भ्रष्टाचरण का दोषी है ।

अपीलार्थी ने, जो जनता पार्टी के अभ्यर्थी के रूप में निर्वाचन लड़ा था, प्रत्यर्थी के विरुद्ध, जो कांग्रेस-आई० के अभ्यर्थी के रूप में निर्वाचन लड़ा था, फाइल की गई अपनी निर्वाचन-अर्जी में भ्रष्ट आचरण की चार मदों के सम्बन्ध में अभिवचन किया है । इस मामले में पश्चिमी चम्पारन जिले में सिकता निर्वाचन क्षेत्र सं० 5 से बिहार विधान-सभा के सदस्य के निर्वाचन के लिए 12.6.1977 को मतदान हुआ था । अपीलार्थी को 1795 मत मिले, जबकि प्रत्यर्थी को 28324 मत मिले और उसे 15 6.1977 को निर्वाचित घोषित किया गया । निर्वाचन अर्जी 18.7.1977 को फाइल की गई । 1980 में विधान-सभा विघटित कर दी गई और उसी वर्ष नया निर्वाचन कराया गया और प्रत्यर्थी गैर-कांग्रेस-आई० प्रत्यर्थी के रूप में निर्वाचन लड़ा था और वह उसी निर्वाचन क्षेत्र से निर्वाचित

हुआ था। तथापि, अपीलार्थी 1977 वाले वर्ष के निर्वाचन से संबंधित इस निर्वाचन अर्जी की पैरवी करने में हितबद्ध है, जिससे कि प्रत्यर्थी की ओर से किए गए भ्रष्टाचरण को साबित किया जा सके। आरोप यह है कि प्रत्यर्थी ने मतदान की तारीख को मतदान केन्द्र तक मतदाताओं के मुफ्त प्रवहण के लिए एक मित्र की जीप सं० यू० एस० जे० 5226 उपाप्त करके और उसका उपयोग करके लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 123(5) के अधीन आने वाला भ्रष्ट आचरण किया। प्रत्यर्थी ने अपने लिखित कथन में इस आरोप से इन्कार किया और यह दलील दी कि अपीलार्थी ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश VI, नियम 15 के साथ पठित अधिनियम की धारा 81,82,83 और 117 के आज्ञापक उपबंधों का अनुपालन नहीं किया है और यह कि इसी कारण से निर्वाचन अर्जी खारिज किए जाने के लायक है। विद्वान् एकल न्यायाधीश ने, जिसने निर्वाचन अर्जी का विचारण किया था, यह मत व्यक्त करने के बाद कि यह सामान्य ज्ञान की बात है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ साधारण निर्वाचनों के दौरान यानों के महत्व को महसूस करता है, उच्चतम न्यायालय के इस मत का अवलोकन किया कि निर्वाचन अर्जी से उत्पन्न होने वाली कार्यवाहियां दाण्डिकवत् प्रकृति की होती हैं और यह कि भ्रष्टाचरण से संबंधित साक्ष्य की संवीक्षा अत्यन्त सावधानी के साथ और निर्दयतापूर्ण कड़ाई के साथ की जानी चाहिए, और तब उसने पक्षकारों द्वारा पेश किए गये साक्ष्य पर विचार किया। साक्ष्य के आधार पर विद्वान् न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिला मजिस्ट्रेट और पुलिस अधीक्षक ने जीप सं० यू० एस० जे० 5226 मतदान की तारीख को सरकियाटोला मतदान स्थल से लगभग 1-1/2 या 2 मील दूर स्थित नहर के समीप सड़क से उस समय अभिगृहीत की थी, जबकि उसमें पांच महिलाएं ले जाई जा रही थीं और यह कि वे पांच महिलाएं, जिनमें निर्वाचन अर्जी साक्षी-10, निर्वाचन अर्जी साक्षी-11 और निर्वाचन अर्जी साक्षी-42 मतदाता थीं, प्रत्यर्थी की ओर से मत डालने के लिऐ मुफ्त ले जाई जा रही थीं। विद्वान् न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि जीप के अभिग्रहण के समय जीप के स्वामी का भतीजा उसे चला रहा था और यह कि जीप का स्वामी प्रत्यर्थी का बहुत बड़ा मित्र था और उसने और उसके पिता ने निर्वाचन में प्रत्यर्थी के लिए काम किया था और वे मतदान की तारीख को मतदान स्थल पर उपस्थित थे और यह कि प्रत्यर्थी के मतदान अभिकर्ता ने उस जीप को छुड़ाने के लिए प्रतिभूति दी थी। तथापि, विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि ये तथ्य यह अभिनिर्धारित करने के लिए अपने-आप में पर्याप्त नहीं हैं, कि स्वयं प्रत्यर्थी ने जीप के स्वामी से वह जीप उपाप्त की थी। इसके अतिरिक्त

विद्वान् न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि चूंकि मतदाताओं सहित वह जीप मतदान केन्द्र पर नहीं पकड़ी गई थी, बल्कि उससे कुछ दूरी पर पकड़ी गई थी, इसलिए वह किसी भी स्थिति में अधिनियम की धारा 123(5) के अनुसार भ्रष्ट आचरण का मामला न होकर, केवल भ्रष्ट आचरण करने की कोशिश करने का मामला था। इस प्रकार विद्वान् न्यायाधीश ने भ्रष्ट आचरण के इस उदाहरण और अन्य उदाहरणों के सम्बन्ध में अपीलार्थी के पक्षकथन को अस्वीकृत कर दिया और निर्वाचन अर्जी खारिज कर दी। उसी निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की गई है। अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 123(5) के अधीन भ्रष्ट आचरण के सम्बन्ध में विधि की अपेक्षा यह है कि किसी मतदान केन्द्र को या से मतदाताओं के ले जाए जाने के लिए किसी यान या जलयान को भाड़े पर लेने या उपाप्त करने की बात साबित करने के अतिरिक्त यह भी साबित किया जाना चाहिए कि निर्वाचकों ने यान या जलयान का उपयोग अपने लिए मुफ्त किया था। (पैरा 8)

सम्बद्ध जीप के स्वामी से उसे (जीप) उपाप्त करने के प्रश्न के सम्बन्ध में प्रत्यर्थी, प्रत्यर्थी साक्षी 45 के हितबद्ध साक्ष्य पर कोई विश्वास करना संभव नहीं है। अर्जीदार साक्षी सं० 16 का सक्ष्य सर्वाधिक स्वाभाविक और विश्वसनीय है। उसके साक्ष्य को अस्वीकार करने के लिए किसी भी प्रकार का बिलकुल ही कोई कारण नहीं है, जो कि सिखाया-पढ़ाया गया साक्ष्य नहीं हो सकता था। अपीलार्थी के पक्षकथन के इस पहलू के सम्बन्ध में अर्जीदार साक्षी सं० 6, 16 और 43 के साक्ष्य को स्वीकार करते हुए न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रत्यर्थी ने अपने निर्वाचकों के मुफ्त प्रवहण के लिए अपने निकट के एक मित्र से जीप सं० यू० एस० जे० 5226 उपाप्त की थी, और यह कि किसी कारण से उस जीप का उपयोग मतदान के दिन उस प्रयोजन के लिए किया गया था और सरकारी कर्मचारी अभियोजन साक्षी 69,73 और 81 ने उसे उस समय अभिगृहीत किया था जब कि उसका उपयोग अर्जीदार साक्षी सं० 67 सहित अर्जीदार साक्षी 10,11,42 और अन्य व्यक्तियों के मुफ्त प्रवहण के लिए किया जा रहा था। (पैरा 13)

इस प्रकार अपीलार्थी ने अधिनियम की धारा 123 के खण्ड (5) की सभी तीनों अपेक्षाओं को समाधानकारी रूप से साबित कर दिया है और इसी कारण प्रत्यर्थी के बारे में यह कहा जायेगा कि वह उस खण्ड के अधीन

आने वाले भ्रष्टाचरण का दोषी है, जिसे साबित करना मामूली तौर से कठिन है। ऐसे भ्रष्टाचरण से, जिसका सहारा निर्वाचनों में बड़े पैमाने पर लिया जाता है, या तो मतदान स्थल उतने फासलों पर अवस्थित करके जहां कि निर्वाचक पैदल जा सकें या चल-मतदान केन्द्र द्वारा बचा जा सकता था। तदनुसार, मात्र भ्रष्टाचरण की इस मद के सम्बन्ध में यह अपील खर्चे सहित मंजूर की गई, जिसकी रकम 5,000 रुपए निश्चित की गई है और यह अभिनिर्धारित किया गया कि प्रत्यर्थी पश्चिमी चम्पारन जिले में के सं० 5 सिकता निर्वाचन क्षेत्र से बिहार विधान सभा के सदस्य के रूप में 1977 में हुए अपने निर्वाचन के सम्बन्ध में अधिनियम की धारा 123(5) के अधीन भ्रष्टाचरण का दोषी है। (पैरा 14)

अनुसरित निर्णय

		पैरा
[1979]	[1979] 1 उम० नि० प० 60=[1978] 2 एस० सी० आर० 534 : **दादासाहेब दत्तात्रेय पवार और अन्य बनाम पाण्डुरंग रावजी जगताप और अन्य**	7
[1975]	(1975) 4 एस० सी० सी० 769 : **चौधरी रजिक राम बनाम जसवन्त सिंह चौहान**	6
[1969]	[1969] 1 उम० नि० प० 868=[1969] 2 एस० सी० आर० 97 : **जशभाई चुनीभाई पटेल बनाम अनवर बेग ए० मिर्जा**	5

निर्दिष्ट निर्णय

[1975]	[1975] 1 उम० नि० प० 44=[1975] 1 एस० सी० आर० 643 : **रहीम खान बनाम खुर्शीद अहमद**	3

सिविल अपीली अधिकारिता : 1979 की सिविल अपील सं० 3011.

1977 की निर्वाचन अर्जी सं० 4 में पटना उच्च न्यायालय के तारीख 7 सितम्बर, 1979 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपील।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री शान्ति भूषण और एम० पी० झा

प्रत्यर्थी की ओर से श्री एस० के० सिन्हा

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति ए० वरदराजन ने दिया।

न्यायाधिपति वरदराजन—

निर्वाचन संबंधी यह अपील पटना उच्च न्यायालय के उस निर्णय के विरुद्ध निर्दिष्ट की गई है, जिसके द्वारा उसने 1977 की निर्वाचन अर्जी सं० 4, 1000 रु० के खर्च सहित खारिज कर दी थी। अपीलार्थी, धर्मेश प्रसाद वर्मा ने, जिसकी बाबत यह कहा गया है कि वह जनता अभ्यर्थी के रूप में निर्वाचन लड़ा था, प्रत्यर्थी फैयाजुल आज़म के विरुद्ध, जिसकी बाबत यह कहा गया है कि वह कांग्रेस-आई० अभ्यर्थी के रूप में निर्वाचन लड़ा था, फाइल की गई अपनी निर्वाचन-अर्जी में भ्रष्ट आचरण की चार मदों के संबंध में अभिवचन किया है। इस मामले में पश्चिमी चम्पारन जिले में सिकता निर्वाचन क्षेत्र सं० 5 से बिहार विधान-सभा के सदस्य के निर्वाचन के लिए 12-6-1977 को मतदान हुआ। अपीलार्थी को 1795 मत मिले, जबकि प्रत्यर्थी को 28324 मत मिले और उसे 15-6-1977 को निर्वाचित घोषित किया गया। निर्वाचन अर्जी 18-7-1977 को फाइल की गई। 1980 में विधान सभा विघटित कर दी गई और उसी वर्ष नया निर्वाचन कराया गया और प्रत्यर्थी के बारे में यह कहा गया है कि वह गैर-कांग्रेस-आई० प्रत्यर्थी के रूप में निर्वाचन लड़ा था और उसी निर्वाचन क्षेत्र से निर्वाचित हुआ था। तथापि, अपीलार्थी 1977 वाले वर्ष के निर्वाचन से संबंधित इस निर्वाचन अर्जी की पैरवी करने में हितबद्ध है, जिससे कि वह प्रत्यर्थी की ओर से किए गए भ्रष्ट आचरण को साबित कर सके।

2. अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होते हुए ज्येष्ठ काउन्सेल, श्री शान्ति भूषण ने अपनी दलीलें केवल प्रथम आरोप तक और वह भी जीप सं० यू० एस० जे० 5226 के उपयोग के संबंध में ही सीमित रखीं, जिसकी बाबत यह अभिकथन किया गया है कि वह कबीर अहमद नामक एक व्यक्ति की थी। आरोप यह है कि प्रत्यर्थी ने मतदान की तारीख को मतदान केन्द्र तक मतदाताओं के मुफ्त प्रवहण के लिए जीप उपाप्त करके और उसका उपयोग करके लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "अधिनियम" के रूप में निर्दिष्ट किया गया है) की धारा 123 (5) के अधीन आने वाला भ्रष्ट आचरण किया। प्रत्यर्थी ने अपने लिखित कथन में इस आरोप से इन्कार किया और यह दलील दी कि प्रत्यर्थी ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश VI के नियम 15 के साथ पठित अधिनियम की धारा 81, 82, 83, और 117 के आज्ञापक उपबंधों का अनुपालन नहीं किया है और

यह कि इसी कारण से निर्वाचन अर्जी खारिज किये जाने लायक है।

3. विद्वान् एकल न्यायाधीश ने, जिसने निर्वाचन अर्ज़ी का विचारण किया था, यह मत व्यक्त करने के बाद कि यह सामान्य ज्ञान की बात है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ साधारण निर्वाचनों के दौरान यानों के महत्व को महसूस करता है, **रहीम खान** बनाम **खुर्शीद अहमद**[1] वाले मामले में व्यक्त इस न्यायालय के मत की ओर ध्यान दिया कि निर्वाचन अर्जी से उत्पन्न होने वाली कार्यवाहियां प्रकृति में दाण्डिकवत् होती हैं और यह कि भ्रष्ट आचरण से संबंधित साक्ष्य की संवीक्षा अत्यन्त सावधानी के साथ और निर्दयतापूर्ण कड़ाई के साथ की जानी चाहिये, और उसने तब पक्षकारों द्वारा पेश किये गये साक्ष्य पर विचार किया। साक्ष्य के आधार पर विद्वान् न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिला मजिस्ट्रेट और पुलिस अधीक्षक ने ज़ीप सं० यू० एस० जे० 5226 मतदान की तारीख को सरकियाटोला मतदान-स्थल से लगभग डेढ़ या दो मील दूर स्थित नहर के समीप सड़क से उस समय अभिगृहीत की, जबकि उसमें पांच महिलाएं ले जाई जा रही थीं और यह कि वे पांच महिलाएं, जिनमें मुरातिबा, उर्फ देवकलिया (निर्वाचन अर्जी साक्षी 10) मेहरून्निसा (निर्वाचन अर्जी साक्षी 11) और रसूलिया (निर्वाचन अर्जी साक्षी 42) ऐसी मतदाता थीं, जोकि प्रत्यर्थी की ओर से मत डालने के लिए मुफ्त ले जाई जा रही थीं। विद्वान् न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि जीप के अभिग्रहण के समय कबीर अहमद का भतीजा तब्रेज अहमद वह जीप चला रहा था और यह कि कबीर अहमद प्रत्यर्थी का बहुत बड़ा मित्र था और उसने और उसके पिता ने निर्वाचन में प्रत्यर्थी के लिए काम किया था और वे मतदान की तारीख को मतदान स्थल पर उपस्थित थे और यह कि प्रत्यर्थी के मतदान अभिकर्ता मनागर प्रसाद ने उस जीप को छोड़ने के लिए प्रतिभूति दी थी। तथापि, विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि ये तथ्य यह अभिनिर्धारित करने के लिए अपने आप पर्याप्त नहीं हैं कि स्वयं प्रत्यर्थी ने कबीर अहमद से वह जीप उपाप्त की थी। इसके अतिरिक्त विद्वान् न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि चूंकि वह जीप मतदाताओं सहित मतदान केन्द्र पर नहीं पकड़ी गई थी, बल्कि उससे कुछ दूरी पर पकड़ी गई थी, इसलिए वह किसी भी स्थिति में अधिनियम की धारा 123(5) के अनुसार भ्रष्ट आचरण का मामला न होकर, केवल भ्रष्ट आचरण की कोशिश करने का मामला था। इस प्रकार विद्वान् न्यायाधीश ने भ्रष्ट आचरण के इस उदाहरण और अन्य उदा-

---

[1] [1975] 1 उम० नि० प० 44=[1975] 1 एस० सी० आर० 643.

हरणों के संबंध में अपीलार्थी के पक्षकथन को अस्वीकृत कर दिया और निर्वाचन अर्जी खारिज कर दी ।

4. अधिनियम की धारा 123(5) निम्नलिखित रूप में है —

धारा 123 निम्नलिखित इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए भ्रष्ट आचरण समझे जाएंगे :

(1) ....

(2) ....

(3) ....

(4) ....

(5) धारा 25 के अधीन उपबंधित किसी मतदान केन्द्र या मतदान के लिए धारा 29 की उपधारा (1) के अधीन नियत स्थान को या से (स्वय अभ्यर्थी, उसके कुटुम्ब के सदस्य या उसके अभिकर्ता से भिन्न) किसी निर्वाचक के मुफ्त प्रवहण के लिए किसी यान या जलयान को अभ्यर्थी या उसके अभिकर्ता द्वारा या अभ्यर्थी या उसके निर्वाचन अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा संदाय करके या अन्यथा, भाड़े पर लेना या उपाप्त करना अथवा ऐसे यान या जलयान का उपयोग करना :

परन्तु यदि निर्वाचक या कई निर्वाचकों द्वारा अपने संयुक्त खर्च पर अपने को किसी ऐसे मतदान केन्द्र या मतदान के लिए नियत स्थान को और से प्रवहित किये जाने के प्रयोजन के लिए यान या जलयान भाड़े पर लिया गया है, तो यदि यान या जलयान यान्त्रिक शक्ति से प्रचालित न होने वाला है तो ऐसे यान या जलयान के भाड़े पर लिए जाने की बाबत यह न समझा जाएगा कि वह भ्रष्ट आचरण है :

परन्तु यह और भी कि किसी ऐसे मतदान केन्द्र या मतदान के लिए नियत स्थान को जाने या वहां से आने के प्रयोजन के लिए अपने ही खर्च पर किसी निर्वाचक द्वारा किसी लोक परिवहन यान या जलयान या किसी ट्राम या रेलगाड़ी के उपयोग की बाबत यह न समझा जाएगा कि वह इस खण्ड के अधीन भ्रष्ट आचरण है ।

स्पष्टीकरण—इस खण्ड में "यान" से ऐसा कोई यान अभिप्रेत है जो सड़क परिवहन के लिए उपयोग में लाया जाता है या उपयोग में लाए जाने के योग्य है चाहे वह यान्त्रिक शक्ति से या अन्यथा प्रचालित हो और चाहे अन्य यानों को खींचने के लिए या अन्यथा उपयोग में लाया जाता हो ।"

5. धारा 123 के खण्ड (5) में "या" शब्द का उपयोग अनेक स्थानों पर किया गया है, तथा "और" शब्द का उपयोग प्रथम परन्तुक और स्पष्टीकरण में दो स्थानों पर किया गया है। प्रथमदृष्टया संसद के बारे में यह अवश्य ही समझा जाना चाहिये कि उसने भिन्न-भिन्न प्रयोजनों और उद्देश्यों के लिए "या" तथा "और" शब्द का उपयोग किया है। यदि यह अनिर्णीत निर्णय का मामला है, तो उसके बारे में यह कहा जा सकता है कि मुख्य खण्ड (5) में दो अलग-अलग भाग हैं, अर्थात् (1) किसी मतदान केन्द्र को या से किसी निर्वाचक के मुफ्त प्रवहण के लिए किसी यान या जलयान को अभ्यर्थी या उसके अभिकर्ता द्वारा या अभ्यर्थी या उसके निर्वाचन-अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा संदाय करके या अन्यथा भाड़े पर लेना या उपाप्त करना अथवा (2) किसी मतदान केन्द्र को या से किसी निर्वाचक के मुफ्त प्रवहण के लिए किसी यान या जलयान को अभ्यर्थी या उसके अभिकर्ता द्वारा या अभ्यर्थी या उसके निर्वाचन-अभिकर्ता की सम्मति से "किसी अन्य व्यक्ति द्वारा ऐसे यान या जलयान का उपयोग करना। यह सच है कि खण्ड (5) के पश्चात्कथित भाग में "ऐसे" शब्द का उपयोग किसी मतदान केन्द्र...............को या से...............किसी निर्वाचक के मुफ्त प्रवहण के लिए किसी यान या जलयान" शब्दों के बाद आया है। किन्तु यह अनिर्णीत विषय का मामला नहीं है। **जशभाई चुनीभाई पटेल बनाम अनवर बेग मिर्जा**[1] वाले मामले में मुख्य न्यायाधिपति हिदायतुल्ला ने अपनी ओर से और न्या० जी० के० मित्र की ओर से निर्णय देते हुए निम्नलिखित रूप में मत व्यक्त किया था —

> "हम धारा 123 (5) की परीक्षा इस दृष्टि से कर रहे हैं जिससे कि यह पता लगाया जा सके कि उसकी अपेक्षाएं क्या हैं। हमने यह पहले ही उपदर्शित कर दिया है कि हमारी राय में निर्वाचन अर्जीदार को उस धारा के अन्य संघटकों के साथ ही साथ यह साबित करना चाहिए कि उस यान को मतदाताओं के मुफ्त प्रवहण

[1] [1969] 1 उम० नि० प० 868=[1969] 2 एस० सी० आर० 97.

के लिए उपयोग में लाया गया था। हमने बता ही दिया है कि इस संघटक को इस मामले में स्थापित किए जाने का प्रयत्न नहीं किया गया।.. इस धारा में भ्रष्ट आचरणों में से एक भ्रष्ट आचरण की परिभाषा की गई है, तथा यह किसी यान को संदाय करके अथवा अन्यथा भाड़े पर लेने और उपाप्त करने के बारे में है। यह भाड़े पर लेने और उपाप्त करने का काम अभ्यर्थी अथवा उसके अभिकर्ता द्वारा अथवा अभ्यर्थी या उसके निर्वाचन अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया जाना आवश्यक है तथा धारा के अनुसार यह भाड़े पर लिया जाना स्वयं अभ्यर्थी अथवा उसके कुटुम्ब के सदस्यों या उसके अभिकर्ता से भिन्न किसी निर्वाचक के किसी मतदान केन्द्र को या से मुफ्त प्रवहण के लिए होना चाहिए। इस प्रकार यह प्रतीत होगा कि इस धारा में तीन बातों की अपेक्षा की गई है— (1) किसी यान को भाड़े पर लिया जाना या उपाप्त किया जाना; (2) किसी अभ्यर्थी अथवा उसके अभिकर्ता आदि के द्वारा; तथा (3) किसी निर्वाचक के मुफ्त प्रवहण के लिए। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस धारा में उपयोग की भी बात कही गई है किन्तु इसमें ऐसे यान के उपयोग की बात कही गई है जिसमें 2 बातों अर्थात् यान को भाड़े पर लेने या उपाप्त करने तथा उसके उपयोग का मिलाप होता है। अत: विधि की अपेक्षा यह है कि यान को भाड़े पर लेने या उपाप्त करने तथा निर्वाचकों के किसी मतदान केन्द्र को ले जाए जाने अथवा वहां से लाए जाने की बात साबित करने के अतिरिक्त यह भी साबित किया जाना चाहिए कि निर्वाचकों ने यान का अपने खर्चे से मुफ्त उपयोग किया।"

6. **चौधरी रजिक राम बनाम जसवन्त सिंह चौहान**[1] वाले मामले में न्यायाधिपति सरकारिया ने अपनी ओर से तथा न्यायाधिपति अलगिरिस्वामी की ओर से निर्णय देते हुए यह मत व्यक्त किया है कि—

"विश्लेषण करने पर धारा 123 के खण्ड (5) के दो भाग हैं। प्रथम भाग की अपेक्षाएं ये हैं, (i) मतदाताओं के मुफ्त प्रवहण के लिए किसी यान या जलयान का चाहे संदाय करके या अन्यथा, भाड़े पर लेना या उपाप्त करना; (ii) भाड़े पर लेने और ऐसे भाड़े पर

[1] (1975) 4 एस० सी० सी० 769 पृष्ठ 775.

लेने या उपाप्त करने का कार्य अभ्यर्थी द्वारा या उसके निर्वाचन अभिकर्ता द्वारा या अभ्यर्थी की या उसके निर्वाचन अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा अवश्य ही किया जाना चाहिए। दूसरे भाग में किसी मतदान केन्द्र को या से (स्वयं अभ्यर्थी, उसके कुटुम्ब के सदस्य या उसके अभिकर्ता से भिन्न) किसी निर्वाचक के मुफ्त प्रवहण के लिए ऐसे यान या जलयान के उपयोग करने की बात प्रकल्पित है। ये दोनों भाग 'अथवा' संयोजक से जुड़े हुए हैं, जिसके दो अर्थान्वियन किये जा सकते हैं। एक अर्थ में यह ऐसा अंश है जोकि खण्ड के दोनों भाग का समन्वय करता है और उनके बीच अनुकल्प सृष्ट करता है। अन्य अर्थ में जोकि "और" के अर्थ के समीप है—इसका अर्थान्वयन इस प्रकार किया जा सकता है कि वह खण्ड के पहले भाग को दूसरे भाग के साथ संयुक्त करता है और मिलाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चात्कथित अर्थान्वयन 1966 के संशोधन के लक्ष्य और उद्देश्य के अधिक अनुरूप है। इस संबंध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि संशोधन के पूर्व भी इस न्यायालय ने बलवंत सिंह बनाम लक्ष्मी नारारण [(1960) 3 एस० सी० आर० 91] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया था कि इस बात पर विचार करते हुए कि क्या धारा 123 (5) में वर्णित भ्रष्ट आचरण किया गया है, निर्वाचकों के प्रवहण को यान, के भाड़े पर लेने से अलग नहीं किया जा सकना।

यदि 'अथवा' शब्द के बारे में यह समझा जाता है कि वह ऐसा समन्वय करने वाला संयोजक है जो अनुकल्प पुरःस्थापित करता है, तब भी पिटीशनर को खण्ड के दूसरे भाग के अधीन भ्रष्ट आचरण के आधार पर सफल होने की दृष्टि से, किसी मतदान केन्द्र को या से किसी निर्वाचक के मुफ्त प्रवहण के लिए किसी यान या जलयान के उपयोग के अतिरिक्त उस यान या जलयान को भाड़े पर लेने या उपाप्त करने की बात अवश्य ही साबित करनी होगी। यह बात इस प्रकार इस कारण है, क्योंकि 1966 वाले संशोधन द्वारा पुरःस्थापित वाक्यांश में आया हुआ 'ऐसा' शब्द, खण्ड के पहले भाग के ये तत्व दूसरे भाग में अभिव्यक्त रूप से शामिल करता है।

जो मत हमने अपनाया है, उसको देखते हुए हमें जशभाई चुनीभाई पटेल बनाम अनवर बेग ए० मिर्जा [(1969) 2 एस० सी० आर० 97] वाले मामले में इस न्यायालय के सिद्धांत से समर्थन प्राप्त होता है,

जिसमें न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए मुख्य न्यायाधिपति हिदायतुल्ला ने उस खण्ड की अपेक्षाओं का विश्लेषण इस प्रकार किया था :

यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस धारा में उपयोग की भी बात कही गई है किन्तु इसमें ऐसे यान के उपयोग की बात कही गई है जिसमें 2 बातों अर्थात् यान को भाड़े पर लेने या उपाप्त करने तथा उसके उपयोग का मिलाप होता है। अतः विधि की अपेक्षा यह है कि यान को भाड़े पर लेने या उपाप्त करने तथा निर्वाचकों के किसी मतदान केन्द्र को ले जाए जाने अथवा वहां से लाए जाने की बात साबित करने के अतिरिक्त यह भी साबित किया जाना चाहिए कि निर्वाचकों ने यान का अपने खर्चे से मुफ्त उपयोग किया।"

7. **दादासाहेब दत्तात्रेय पवार और अन्य** बनाम **पाण्डुरंग रावजी जगताप और अन्य**[1] वाले मामले में न्यायाधिपति जसवन्त सिंह ने न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए यह मत व्यक्त किया है कि—

"लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 123 (5) के संबंध में, जोकि 1966 के अधिनियम सं० 47 द्वारा किए गए उसके संशोधन के पूर्व अधिनियम की धारा 144-क (4) के पदों के समान थी, इस न्यायालय ने श्री बलवन्त सिंह **बनाम** लक्ष्मी नारायण [(1960) 3 एस० सी० आर० 91] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया था कि इस बात पर विचार करते हुए कि क्या धारा 123 (5) में वर्णित भ्रष्टाचरण किया गया है, निर्वाचकों के प्रवहण को, यान के भाड़े पर लिए जाने की बात से अलग नहीं किया जा सकता है।

इस न्यायालय ने चौधरी रजिक राम बनाम चौधरी जे० एस० चौहान और अन्य [(1975) 4 एस० सी० सी० 709] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया था कि लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 123 (5) के अधीन भ्रष्टाचरण साबित करने के लिए, निर्वाचन अर्जीदार के लिए यह साबित करना आवश्यक है कि (i) कोई यान या जलयान निर्वाचित अभ्यर्थी द्वारा या उसके निर्वाचन अभिकर्त्ता द्वारा या अभ्यर्थी की अथवा उसके निर्वाचन अभिकर्त्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा संदाय करके या अन्यथा, भाड़े पर लिया गया था या उपाप्त किया गया था, (ii)

---

[1] [1979] 1 उम० नि० प० 60=[1978] 2 एस० सी० आर० 524 पृष्ठ 528.

यह कि उसका उपयोग किसी मतदान केन्द्र को या से निर्वाचकों के प्रवहण के लिए किया गया था, और (iii) या कि ऐसा प्रवहण निर्वाचकों के लिए मुफ्त किया गया था। इन मुख्य बातों में से किसी एक को साबित करने में हुई असफलता के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण आरोप धाराशायी हो जाता है।"

8. इस न्यायालय के उपर्युक्त विनिश्चयों को देखते हुए यह अभिनिर्धारित करना पड़ेगा कि अधिनियम की धारा 123(5) के अधीन भ्रष्ट आचरण के संबंध में विधि की अपेक्षा यह है कि किसी मतदान केन्द्र को या से मतदाताओं के ले जाए जाने के लिए किसी यान या जलयान को भाड़े पर लेने या उपाप्त करने की बात साबित करने के अतिरिक्त यह भी साबित किया जाना चाहिए कि निर्वाचकों ने यान या जलयान का उपयोग अपने लिये मुफ्त किया था।

9. अब हम अपीलार्थी द्वारा अभिकथित भ्रष्टाचरण की इस मद के संबंध में पक्षकारों द्वारा पेश किए गए साक्ष्य पर विचार करेंगे। मतदान के दिन अर्थात् 12-6-1977 को अर्जीदार साक्षी सं० 69, जे० के० दत्त, जोकि उस समय पश्चिमी चम्पारन का जिला मजिस्ट्रेट था, निर्वाचन के संबंध में अपने कर्तव्य के निर्वहन के सिलसिले में पुलिस उप-अधीक्षक के साथ जीप में सिकता जा रहा था। यह देखकर कि एक जीप कुछ महिलाओं को लिए जा रही है, निर्वाचन अर्जीदार साक्षी-69 ने पुलिस अधीक्षक को यह अनुदेश दिया कि वह आवश्यक जांच करे। पुलिस द्वारा आवश्यक जांच किए जाने के बाद, जबकि सिकता थाने का थानेदार कुछ सिपाहियों के साथ परसा गांव की ओर जा रहा था तो उसने यह पाया कि वह जीप जिला मजिस्ट्रेट और पुलिस अधीक्षक ने सरकियाटोला मतदान-स्थल से लगभग डेढ़ या दो मील स्थित नहर के समीप पर रोक रखी है, और उसमें सवार व्यक्तियों और चालक सहित उस जीप को थाने ले गया। इसके बाद जो महिलाएं जीप में थीं, उन्हें सरकारी जीप में उस स्थान को सिकता पुलिस थाने से ले जाया गया जहां से सरकारी कर्मचारी जीप में बैठी सवारियों तथा चालक सहित उस प्राइवेट जीप को सिकता थाने ले गये थे। अनिल कुमार ने, अर्जीदार साक्षी 73, जोकि उस समय बेतिया का पुलिस अधीक्षक था और जो अर्जीदार साक्षी-69 के साथ गया था, उस बात के संबंध में कुछ अधिक विस्तृत साक्ष्य दिया है, जो कि उस समय घटा था, जबकि वह अर्जीदार साक्षी-69 के साथ सिकता जा रहा था। उसने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि चूंकि इस बात का संदेह हुआ कि 4 या 5 ग्रामीण महिलाएं जोकि जीप में ले जाई जा रही थीं, उसकी स्वामी नहीं हो सकती हैं, इसलिए उसने स्पष्टत: यह समझकर वह जीप अभिगृहीत कर ली

कि ये महिलाएं मतदान स्थल से 1-1/2 या 2 मील के लगभग स्थित नहर के समीप उस मतदान स्थल को मुफ्त ले जाई जा रही हैं और वह उसे (जीप को), चालक और उसमें बैठी हुई सवारियां सहित थाने ले गया। सिकता थाने में थानेदार द्वारा उन महिलाओं और चालक के कथन अभिलिखित करने के बाद उन्हें सरकारी जीप में उस स्थान को ले जाया गया, जहां से वह जीप, जिसमें वे इसके पहले यात्रा कर रहे थे, अभिगृहीत की गई थी, जिससे कि वे वहां जाएं और अपने मत डालें। अर्जीदार साक्षी 69 और 73 को यह स्मरण नहीं है कि जीप का संख्यांक क्या था और अर्जीदार साक्षी सं० 69 को यह ज्ञात नहीं है कि वह जीप किस की थी। अमल रंजन, सरकार, अर्जीदार साक्षी सं० 81 थानेदार है, जो जीप को उसकी सवारियों और चालक के साथ यह कहने के बाद थाने ले गया था कि वह जीप अर्जीदार साक्षी-69 और 73 ने रोक रखी है। कबीर अहमद का भतीजा तब्रेज़ अहमद उस जीप को चला रहा था। अर्जीदार साक्षी सं० 81 ने तब्रेज अहमद द्वारा लिखित और हस्ताक्षरित कथन, प्रदर्श-13 तथा उन पांच महिलाओं के कथन भी प्राप्त कर लिए, जिनके बारे में यह पाया गया था कि वे उस जीप में यात्रा कर रही हैं। जीप सं० यू० एस० जे० 5226 को, जोकि अभिरक्षा में ले ली गई थी, बाद में छोड़ दिया गया और तारीख 17-6-1977 को मनागर प्रसाद नाम के एक व्यक्ति द्वारा, जिसकी बाबत यह साबित हो चुका है कि वह प्रत्यर्थी का मतदान अभिकर्ता रह चुका है, प्रदर्श 14(ख) के अधीन प्रतिभूति दिए जाने के बाद प्रदर्श 14(ग) के अधीन कबीर अहमद को सौंप दी गई। शेख एजाजुल, अर्जीदार साक्षी-8 का साक्ष्य यह है कि जीप सं० यू० एस० जे० 5226, जिसका उपयोग निर्वाचन में किया गया था, कबीर अहमद की है और यह कि तब्रेज अहमद उसे चला रहा था। यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य मौजूद है कि कबीर अहमद का भाई नजीर अहमद मनागर प्रसाद के समान ही प्रत्यर्थी का एक दूसरा मतदान अभिकर्ता था। विद्वान् विचारण न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि मनागर प्रसाद प्रत्यर्थी का मतदान अभिकर्ता था। इस तथ्य की बाबत, जिसकी ओर श्री शान्तिभूषण ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है, प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल ने कोई भी विवाद नहीं उठाया है। प्रत्यर्थी, प्रत्यर्थी साक्षी 45, ने यह स्वीकार किया है कि कबीर अहमद का भाई नजीर अहमद उसका मतदान अभिकर्ता था और यह कि तब्रेज अहमद, कबीर अहमद और नजीर अहमद का भतीजा है, किन्तु उसने यह कथन किया है कि मैं यह नहीं जानता कि क्या मनागर प्रसाद, जिसे वह जानता है, उसका मतदान अभिकर्ता था या कि क्या उसने पुलिस द्वारा कबीर अहमद को जीप सौंपे जाने के लिए कोई प्रतिभूति दी थी। सिकता के तत्समय अंचल अधिकारी, डी०

एन० पाण्डे, अर्जीदार साक्षी सं० 75 ने भी, जिसे 1977 में निर्वाचन के दौरान उपखण्ड अधिकारी के रूप में कार्य करने के लिए प्रति नियुक्त किया गया था, यह अभिसाक्ष्य दिया है कि तब्रेज़ अहमद कबीर अहमद की जीप चला रहा था, जोकि अभिगृहीत कर ली गई थी । वह सिकता के थाने में उस समय मौजूद था, जबकि वह जीप कुछ ऐसी स्त्रियों सहित, जिसमें वे बैठी हुई थीं, थाने लाई गई। उसने यह कथन किया है कि कबीर अहमद, जिसके संबंध प्रत्यर्थी के साथ बहुत अच्छे थे, पुलिस की अभिरक्षा से उन स्त्रियों और जीप को छुड़ाने के लिए थाने आया । मुरातिया उर्फ देवकलिया, अर्जीदार साक्षी सं० 10, मेहरून्निसा, अर्जीदार साक्षी सं० 11 और रसूलिया, अर्जीदार साक्षी सं० 42, का जोकि कुरेशा, अर्जीदार साक्षी सं० 67 सहित दो अन्य महिलाओं के साथ-साथ जीप में यात्रा कर रही थीं, साक्ष्य यह है कि उनको और जीप में उनके साथ यात्रा कर रही दोनों अन्य महिलाओं को थाने ले जाए जाने के बाद कबीर अहमद ने मतदान के दिन थाने से छुड़वाया था । अर्जीदार साक्षी सं० 69, 73, 81, 75, 10, 11 और 42 के पूर्वोक्त साक्ष्य से, जिसको प्रतिरक्षा-पक्ष ने गम्भीरता से चुनौती नहीं दी है, समाधानकारी रूप से यह साबित हो जाता है कि कबीर अहमद की जीप सं० यू० एस० जे० 5226 के बारे में यह देखा गया कि उसे कबीर अहमद का भतीजा, तब्रेज अहमद मतदान के दिन सरकियाटोला मतदान केन्द्र से लगभग 1-1/2 या 2 मील दूर स्थिति नहर के समीप सड़क पर अर्जीदार साक्षी सं० 10, 11, 42, और 67 सहित पांच महिला निर्वाचकों सहित, चला रहा था; यह कि वह जीप, महिलाओं और चालक सहित, इस संदेह के आधार पर अभिगृहीत कर ली गई थी, कि उसका उपयोग मतदान-स्थल के लिए निर्वाचकों को मुफ्त ले जाये जाने के लिए किया जा रहा है; यह कि सिकता थाने के थानेदार, अर्जीदार साक्षी सं० 81 ने पांच महिलाओं और चालक, तब्रेज अहमद के कथन अर्जीदार साक्षी सं० 69, 73, और 75 की उपस्थिति में दर्ज किए थे; यह कि कबीर अहमद ने उसी दिन पुलिस की अभिरक्षा से उन महिलाओं को छुड़वाया था और उसके बाद वे सरकारी जीप में थाने से उस स्थान को ले जाई गई थी, जहां से वे कबीर अहमद की जीप में इसके पहले थाने ले जाई गई थीं; यह कि वह जीप प्रदर्श-14(ग) के अधीन तारीख 17-6-1977 को छोड़ दी गई थी और कबीर अहमद को सौंप दी गई थी और यह कि प्रत्यर्थी के मतदान अभिकर्ता मनागर प्रसाद ने कबीर अहमद की जीप छोड़ने के लिए प्रदर्श-14ख के अधीन प्रतिभूति दी थी । अपीलार्थी की दलील यह है कि प्रत्यर्थी ने कबीर अहमद की जीप सं० यू० एस० जे० 5226 उपाप्त की थी और उसका उपयोग प्रत्यर्थी के पक्ष में मत डालने के प्रयोजन से निर्वाचकों के मुफ्त प्रवहण के लिए किया

गया है और यह कि इस प्रकार प्रत्यर्थी अधिनियम की धारा 123(5) के अधीन भ्रष्टाचरण का दोषी है। ऊपर निर्दिष्ट किए गए साक्ष्य से धारा 123 के खण्ड (5) की यह अपेक्षा साबित हो जाती है कि यान सं० यू० एस० जे० 5226 का उपयोग, जिसकी बाबत यह साबित हो गया है कि वह प्रत्यर्थी के निकट मित्र कबीर अहमद की थी, उन निर्वाचकों के प्रवहण के लिए किया गया था, जोकि मतदान के दिन प्रत्यर्थी के पक्ष में मत डालने के लिए जा रहे थे। विद्वान् विचारण न्यायाधीश से इस सम्बन्ध में कि इस साक्ष्य से जो बात साबित होती है, वह केवल यह है कि मतदान स्थल को निर्वाचकों का प्रवहण किए जाने की कोशिश मात्र की गई थी, न कि निर्वाचकों का वास्तविक प्रवहण किया गया था, सहमत होना मात्र इसलिए संभव नहीं है क्योंकि उन निर्वाचकों के साथ, जोकि जीप में ले जाए जा रहे थे, वह जीप मतदान-स्थल से 1-1/2 या 2 मील के फासले पर रोक ली गई थी और उसे वे सरकारी कर्मचारी थाने ले गए थे, जिनको कि संदेह हुआ था कि निर्वाचन से संबंधित अपराध किया गया है। वह जीप उस समय अभिगृहीत की गई थी जबकि उसका उपयोग उन निर्वाचकों को ले जाने के लिए किया जा रहा था, जो मतदान स्थल से 1-1/2 या 2 मील के फासले पर निस्संदेह प्रत्यर्थी के पक्ष में मत डालने के लिए जा रहे थे। प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल ने भी हमारे समक्ष यह दलील नहीं दी कि जो बात साबित कर दी गई है, वह मतदान स्थल को कबीर अहमद की जीप में निर्वाचकों के प्रवहण की कोशिश मात्र है, न कि वास्तविक प्रवहण।

10. यह दर्शित करने के लिए कि प्रत्यर्थी कबीर अहमद का अच्छा मित्र है, जिसका भाई नज़ीर अहमद, स्वीकृततः, प्रत्यर्थी का मतदान अभिकर्ता था, अभिलेख पर काफी साक्ष्य मौजूद है, जिसके अन्तर्गत अंचल अधिकारी प्रत्यर्थी साक्षी 75 का साक्ष्य भी शामिल है, जिसने सीमेंट समिति के जिसका कि प्रत्यर्थी अध्यक्ष था, सचिव के रूप में कार्य किया था। प्रत्यर्थी ने नजीर अहमद के फायदे के लिए, जिसने स्वीकृततः मोटर-साइकिल खरीदने के लिए अपेक्षित धन उधार दिया था और जो उस यान का उपयोग कर रहा था, जो प्रत्यर्थी के नाम रजिस्ट्रीकृत था, मोटर साइकिल के क्रय के लिए उसको दिए गए परमिट का उपयोग किया था। प्रत्यर्थी ने अपने साक्ष्य में इस संबंध में पुनः अनभिज्ञता प्रकट की कि क्या कबीर अहमद जीप सं० यू० एस० जे० 5226 का मालिक है और क्या उसने इस बात से इन्कार किया है कि जीप का उपयोग मतदान के दिन उसके पक्ष में मत डालने के लिए निर्वाचकों को ले जाने के वास्ते किया गया था। प्रत्यर्थी साक्षी 45 के साक्ष्य को पढ़ने से

यह दर्शित होता है कि उसका साक्ष्य पूरी तरह से अविश्वसनीय है। इस प्रक्रम में हम यह कह सकते हैं कि प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल श्री एस० के० सिन्हा को उस भाग को छोड़कर, जो जीप सं० यू० एस० जे० 5226 के स्वामी कबीर अहमद से प्रत्यर्थी द्वारा उसे उपाप्त करने से संबंधित था, भ्रष्टाचरण की इस मद के विषय में अपीलार्थी के पक्षकथन के किसी भी पहलू से इन्कार करना व्यावहारिक रूप से असंभव लगा था। हमारा निष्कर्ष यह है कि भ्रष्टाचरण की इस मद से संबंधित अपीलार्थी के पक्षकथन का यह भाग ऊपर निर्दिष्ट साक्ष्य द्वारा स्पष्ट रूप से साबित हो गया है।

11. विचार के लिए जो दूसरा मुद्दा है, वह यह है कि क्या निर्वाचक मतदान के दिन जीप सं० यू० एस० जे० 5226 में मुफ्त ले जाए गए थे। अपीलार्थी के मामले के इस पहलू के सम्बन्ध में कुछ अन्य साक्ष्य के आलावा निर्वाचक अर्जी साक्षी सं० 10, 11 और 42 के प्रत्यक्ष साक्ष्य मौजूद हैं। अपीलार्थी का मतदान-अभिकर्ता जंग बहादुर मियां, अर्जीदार साक्षी सं० 6 ने अपने साक्ष्य में यह कथन किया है कि जीप सं० यू० एस० जे० 5226 का उपयोग प्रत्यर्थी के पक्ष में मत डालने के लिए निर्वाचकों को ले जाने के वास्ते किया जा रहा था; यह कि प्रत्यर्थी ने निर्वाचकों का व्यय वहन किया था और यह कि जिला मजिस्ट्रेट और पुलिस ने मतदान के दिन वह जीप अभिगृहीत कर ली थी। उसने इस सुझाव से इन्कार किया है कि जीप सं० यू० एस० जे० 5226 का उपयोग निर्वाचकों को ले जाने के लिए बिलकुल ही नहीं किया गया। ऊपर निर्दिष्ट किए गए अन्य साक्ष्य को देखते हुए हमारा मत यह है कि अर्जीदार साक्षी सं० 6 को जो यह सुझाव दिया गया था, उसमें कोई भी सार नहीं है। मोहम्मदीन, अर्जीदार साक्षी 9, ने जो कि 1977 में हुए निर्वाचन में परसा ग्राम का एक निर्वाचक था, अपने साक्ष्य में यह कथन किया है कि निर्वाचकों को प्रत्यर्थी की ओर से कबीर अहमद की जीप में ले जाया गया था। जो सुझाव उसको दिया गया और जिससे उसने इन्कार किया, वह यह है कि उसने मिथ्या साक्ष्य दिया है। निर्वाचक अर्जीदार साक्षी 10, 11 और 42 उसी परसा ग्राम के हैं। अर्जीदार साक्षी-10 ने कथन किया है कि कबीर अहमद ने उससे कहा था कि वह उस अभ्यर्थी के पक्ष में मत डाले जिसका प्रतीक गाय-बछड़ा है, अर्थात् प्रत्यर्थी के पक्ष में वोट डाले, अर्थात् यह कि वह और 4 अन्य निर्वाचक कबीर अहमद की उस जीप में ले जाए जा रहे थे, जिसे कबीर अहमद का भतीजा उस समय चला रहा था, जब कि जीप अभिगृहीत की गई थी और थाने ले जाई गई थी और यह कि उन्होंने जीप के स्वामी या चालक को उनके प्रवहण के लिए कुछ भी संदत्त

नहीं किया था। अर्जीदार साक्षी-11 और 42 के साक्ष्य भी उसी प्रभाव के हैं, जिन्होंने भी स्पष्ट रूप से अपने साक्ष्य में यह कथन किया है कि उन्होंने जीप के स्वामी को या चालक को उनके प्रवहण के लिए कुछ भी संदत्त नहीं किया और यह कि उन्हें और अन्य स्त्रियों को जीप में मुफ्त ले जाया जा रहा था। प्रतिपरीक्षा में अर्जीदार साक्षी 10 से जो बात कहलवाई गई है, वह यह है कि वह उन अन्य महिलाओं के नाम नहीं जानती है जो जीप में उसके साथ यात्रा कर रही थीं। अर्जीदार साक्षी सं० 11 ने इस बात से इन्कार किया है कि उसे मिथ्या साक्ष्य देने के लिए सिखाया-पढ़ाया गया है। अर्जीदार साक्षी सं० 42 ने इस सुझाव से इन्कार किया है कि वह निर्वाचक था ही नहीं और यह कि उसने मिथ्या साक्ष्य दिया है। अर्जीदार साक्षी सं० 10 हिन्दू है, जबकि अर्जीदार साक्षी 11,42 और 67 मुसलमान हैं। याकूब मियां, अर्जीदार साक्षी सं० 43 ने भी, जोकि अर्जीदार साक्षी सं० 42 का पति है, अपने साक्ष्य में यह कथन किया है कि निर्वाचक जीप में मुफ्त ले जाए जा रहे थे और यह कि यह जानने के बाद कि जीप थाने ले जाई गई है, वह थाने गया और उसने यह पाया कि कबीर अहमद ने पहले ही पुलिस से उन निर्वाचकों को छुड़वा लिया है। उसने इस सुझाव से भी इन्कार किया है कि उसे मिथ्या साक्ष्य देने के लिए सिखाया-पढ़ाया गया है और यह कि उसने उस निर्वाचन में अपीलार्थी के पक्ष में कार्य किया था। हमारा मत यह है कि अर्जीदार साक्षी सं 10, 11, 42 और 43 के साक्ष्य पर अविश्वास करने का कोई भी कारण नहीं है; यह कि वे निर्वाचक जो उस जीप में यात्रा कर रहे थे, जिसे सरकारी कर्मचारियों ने बीच में ही पकड़ लिया था और वे थाने ले गए थे, प्रत्यर्थी के पक्ष में मत डालने के लिए मतदान स्थल के लिए मुफ्त ले जाए जा रहे थे। अपीलार्थियों के पक्षकथन का यह भाग इन चार साक्षियों के साक्ष्य से स्पष्ट रूप से साबित हो गया है। हम यह कथन कर सकते हैं कि प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल ने इस बारे में कोई भी विवाद नहीं उठाया है कि इन चार साक्षियों के साक्ष्य से यह बात साबित हो जाती है कि वे निर्वाचक प्रत्यर्थी के पक्ष में अपने मत डालने के लिए जीप सं० यू० एस० जे० 5226 में मतदान-स्थल को मुफ्त ले जाए जा रहे थे। हमारा निष्कर्ष यह है कि ऊपरनिर्दिष्ट साक्ष्य से अधिनियम की धारा 123 के खण्ड (5) की द्वितीय अपेक्षा साबित हो जाती है।

12. तीसरा मुद्दा, मात्र जिसकी बाबत प्रत्यर्थी के विद्वान् कान्उसेल ने गम्भीरता के साथ विवाद उठाया है, प्रत्यर्थी के पक्ष में मत डालने के लिए निर्वाचकों को ले जाने के वास्ते प्रत्यर्थी द्वारा कबीर अहमद की जीप सं० यू०

एस० जे० 5226 को उपाप्त करने का प्रश्न है। चूंकि यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रत्यर्थी के निकट मित्र कबीर अहमद की जीप सं० यू० एस० जे० 5226 का वास्तविक उपयोग उन मतदाताओं के, जो कि प्रत्यर्थी के पक्ष में मत डालने के लिए जा रहे थे, मुफ्त प्रवहण के लिए किया गया था, इसलिए जीप का उपयोग या तो स्वयं कबीर अहमद या प्रत्यर्थी को निर्देश किए बिना किसी अन्य व्यक्ति द्वारा या उसके अभिकर्ता द्वारा उस प्रयोजन के लिए किया जा सकता था या प्रत्यर्थी द्वारा उसे उपाप्त किया जा सकता था। वह उन निर्वाचकों को ले जाने के लिए उपलब्ध नहीं हो सकती थी, जो कि किसी अन्य रीति से प्रत्यर्थी के पक्ष में मत डालने के लिए जा रहे थे। प्रत्यर्थी का पक्षकथन यह नहीं है कि कबीर अहमद या कोई अन्य व्यक्ति उस जीप का उपयोग उसे किसी भी प्रकार का निर्देश किए बिना उसके पक्ष में मत डालने के लिए निर्वाचकों को मुफ्त ले जा रहा था। जीप सं० यू० एस० जे० 5226 का ब्यौरा निर्वाचन अर्जी में दिया गया है। प्रत्यर्थी जीप के स्वामी कबीर अहमद से आवश्यक पूछताछ कर सकता था और यह अभिवचन कर सकता था कि जीप का उपयोग या तो उसका स्वामी कबीर अहमद या कोई अन्य व्यक्ति, यदि ऐसा हो, स्वेच्छा से उसे कोई निर्देश किए बिना उसको फायदा पहुंचाने के लिए निर्वाचकों को ले जाने के लिए कर रहा था। प्रत्यर्थी ने ऐसा कोई अभिवाक् पेश नहीं किया है। इसीलिए प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल, श्री एस० के० सिन्हा की यह दलील स्वीकार करनी संभव नहीं है कि इस तथ्य को देखते हुए कि यह अपीलार्थी का पक्षकथन है कि कबीर अहमद प्रत्यर्थी का निकट का मित्र है, स्वयं कबीर अहमद प्रत्यर्थी द्वारा जीप के उपयोग के लिए कोई निवेदन किए बिना प्रत्यर्थी के फायदे के लिए निर्वाचकों को ले जाने के वास्ते उस जीप का उपयोग कर सकता था। अतः एकमात्र जो दूसरी संभावना है, वह यह है कि प्रत्यर्थी या ऐसे किसी व्यक्ति ने, जोकि उसके अभिकर्ता के रूप में कार्य कर रहा था, उस जीप का निर्वाचन के संबंध में अर्थात् प्रत्यर्थी के पक्ष में मत डालने के लिए निर्वाचकों को मुफ्त ले जाने के लिए प्रत्यर्थी के फायदे के वास्ते उसका उपयोग करने के प्रयोजन के लिए कबीर अहमद से जीप उपाप्त की थी। इस संभावना का ध्यान रखते हुए हमारा मत यह है कि इस सम्बन्ध में थोड़ा-सा भी साक्ष्य अपीलार्थी के पक्षकथन के इस पहलू को साबित करने के लिए पर्याप्त होगा।

13. अपीलार्थी के पक्षकथन के इस पहलू के सम्बन्ध में प्रत्यर्थी की ओर से केवल प्रत्यर्थी का हितबद्ध साक्ष्य है और उसने यह कथन किया है कि मैंने किसी जीप के लिए या किसी अन्य सहायता के लिए 1977 में हुए

निर्वाचन के संबंध में कबीर अहमद से कुछ भी नहीं कहा था और यह कि कबीर अहमद ने उस निर्वाचन में किसी भी प्रकार मेरी सहायता नहीं की। प्रत्यर्थी का साक्ष्य पूर्णतः अविश्वसनीय है। जैसा कि इस तथ्य का ध्यान रखते हुए पहले ही कहा जा चुका है कि इस साक्ष्य से यह बात स्पष्ट रूप से साबित हो गई है कि कबीर अहमद की जीप सं० यू० एस० जे० 5226 का उपयोग ऐसे निर्वाचकों को ले जाने के लिए वास्तव में किया गया था जो प्रत्यर्थी के पक्ष में मत डालने के लिए मुफ्त ले जाए जा रहे थे और यह कि सरकारी कर्मचारियों ने उसे तब अभिगृहीत किया था जबकि कबीर अहमद का भतीजा तब्रेज अहमद उस जीप को चला रहा था, जिसमें निर्वाचक बैठे हुए थे। अभिलेख पर के साक्ष्य से स्पष्ट रूप से यह बात साबित हो जाती है कि प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल ने उसे चुनौती नहीं दी है, किन्तु दूसरी ओर उसने यह स्वीकार किया है कि कबीर अहमद ने उन निर्वाचकों के जोकि प्रत्यर्थी के पक्ष में मत डालने के लिए मतदान-स्थल को जा रहे थे, मुफ्त प्रवहण के लिए अपने ही जीप सं० यू० एस० जे० 5256 को, भतीजे तब्रेज अहमद द्वारा चलाए जाने की इजाजत देकर प्रत्यर्थी की सहायता की थी। अपीलार्थी के मतदान अभिकर्त्ता अर्जीदार साक्षी सं० 6 ने अपने साक्ष्य में यह कथन किया है कि प्रत्यर्थी ने कबीर अहमद की जीप निर्वाचकों के अपने-अपने स्थान से मतदान केन्द्र को और मतदान केन्द्र से उनके अपने-अपने स्थान वापस जाने के लिए उनके प्रवहण के वास्ते उधार ली थी। उसने यह भी कथन किया है कि प्रत्यर्थी के पक्ष में मत डालने के लिए निर्वाचकों को ले जाने के वास्ते उपयोग में लाई गई दो जीपों में से एक यू० एस० जे० 5226 है। उसने इस सुझाव से इन्कार किया है कि जीप सं० यू० एस० जे० 5226 का उपयोग मतदान के अधीन निर्वाचकों को ले जाने के लिए बिलकुल ही नहीं किया गया था। शाहिद मियां, अर्जीदार साक्षी-16 हरिपुर का, जो सिकता के नाम से भी ज्ञात है, मुस्लिम नाई है। वह ऐसा निर्वाचक था, जिसने 1977 में हुए निर्वाचन में अपना मत डाला था। वह प्रत्यर्थी तथा कबीर अहमद को जानता है, जिसके स्वामित्व में एक जीप है और परसा में एक मिल है। उसने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि जब में परसा स्थित उसके कारखाने में कबीर अहमद की दाढ़ी बना रहा था, उस समय प्रत्यर्थी सहित तीन व्यक्ति वहां आए थे और यह कि प्रत्यर्थी ने कबीर अहमद से जीप की मांग की थी और कबीर अहमद वह जीप उसे देने के लिए सहमत हो गया था। उसने इस सुझाव से इन्कार किया है कि मैंने मिथ्या साक्ष्य दिया है। अर्जीदार साक्षी 43 ने अपने साक्ष्य में यह कथन किया है कि प्रत्यर्थी और कबीर अहमद मतदान

के दिन से एक दिन पहले अपने गांव गए थे और प्रत्यर्थी के पक्ष में मत डालने के लिए उससे कहा था और यह कहा था कि मतदाताओं को ले जाने के लिए कबीर अहमद से जीप उधार ले ली गई थी और यह कि तदनुसार जिस जीप को तब्रेज अहमद चला रहा था, वह अगले दिन आई और महिला निर्वाचकों को ले गई। इसमें कोई संदेह नहीं है कि अर्जीदार साक्षी सं० 43 और उसकी पत्नी अर्जीदार साक्षी सं० 42 दिहाड़ी मजदूर हैं। अर्जीदार साक्षी सं० 43 ने इस सुझाव से इन्कार किया है कि उसने उस निर्वाचन में अपीलार्थी के पक्ष में कार्य किया था और उसे मिथ्या साक्ष्य देने के लिए सिखाया-पढ़ाया गया है। उन तीनों साक्षियों अर्जीदार साक्षी सं० 6, 16 और 43 के, जिनमें से अर्जीदार साक्षी सं० 6 निस्संदेह अपीलार्थी का मतदान अभिकर्ता था, साक्ष्य पर अविश्वास करने का कोई भी समाधानकारी कारण नहीं है। अर्जीदार साक्षी सं० 6 के साक्ष्य को मात्र इसलिए अस्वीकृत करना, क्योंकि वह स्वीकृततः अपीलार्थी का मतदान अभिकर्ता था, विशेषकर इस तथ्य का ध्यान रखते हुए उसे अस्वीकृत करना संभव नहीं है कि उसका साक्ष्य एक प्रकार से अर्जीदार साक्षी सं० 16 और 43 के साथ सम्पुष्ट हो गया है। प्रत्यर्थी प्र० सा० 45, ने अपने साक्ष्य में यह स्वीकार किया है कि कबीर अहमद और अन्य व्यक्तियों के स्वामित्व में एक मिल है और यह कि कबीर अहमद उस मिल के कारबार में भागीदार है। जैसा कि पहले कथन किया गया है, उसने यह स्वीकार किया है कि कबीर अहमद का भाई नजीर अहमद उसका मतदान अभिकर्ता था और यह कि तब्रेज अहमद, कबीर अहमद और नजीर अहमद का भतीजा है। अर्जीदार साक्षी सं० 75 के साक्ष्य से यह दर्शित होता है कि तब्रेज अहमद के पास उस समय चालन-अनुज्ञप्ति भी नहीं थी, जिस समय उसे मतदान के दिन मतदान-स्थल के लिए निर्वाचकों को ले जाते हुए जीप सं० यू० एस० जे० 5226 चलाते हुए पाया गया था और यह कि उसे उस अपराध के लिए मोटर-यान अधिनियम के अधीन अलग से अभिगृहीत किया गया था। दरोगा महतो, अर्जीदार साक्षी सं० 56 का साक्ष्य भी है, जिससे यह दर्शित होता है कि प्रत्यर्थी और कबीर अहमद अच्छे मित्र थे और यह कि कबीर अहमद का पिता शरीफ अहमद मतदान के दिन मतदान-स्थल से लगभग 100 गज की दूरी पर बैठा हुआ था। विद्वान् विचारण न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कबीर अहमद प्रत्यर्थी का अच्छा मित्र है और यह कि उसने और उसके पिता ने 1977 में हुए निर्वाचन में प्रत्यर्थी के पक्ष में कार्य किया था। इन सभी तथ्यों के बावजूद प्रत्यर्थी ने कबीर अहमद को अपने साक्षी के रूप में नहीं बुलाया है, जिससे कि वह इस से इन्कार कर सकता कि उसने अपने निर्वाचकों के प्रवहण के लिए कबीर अहमद से जीप सं० यू०

एस० जे० 5226 उपाप्त की थी। उसने तब्रेज अहमद की भी परीक्षा नहीं की है, यद्यपि उसने स्वीकृततः उसकी ओर से प्रस्तुत साक्षियों की सूची में उसके साक्षियों में से एक साक्षी के रूप में उसका नाम दिया था। वह यह कहेगा कि उसके सर्वोत्तम ज्ञान के अनुसार कबीर अहमद के पास कोई जीप नहीं है और यह कि उसने अपना मस्तिष्क लगाए बिना मात्र मतदाताओं की सूची देखकर साक्षियों की सूची प्रस्तुत की क्योंकि उसके वकील ने उस पर इस बात का दबाव डाला था कि वह यथासंभव शीघ्र साक्षियों की अनन्तिम सूची फाइल करे और उसके वकील ने यह सूचना दी थी कि यदि वह साक्षियों की सूची फाइल नहीं करेगा, तो वह केवल उसी आधार पर मुकदमा हार जायगा। प्रत्यर्थी के इस साक्ष्य को भी, इस तथ्य का ध्यान रखते हुए स्वीकार करना संभव नहीं है कि किसी इन्कारी के बिना यह कहा गया है कि वह स्वयं वकील है और यह अनधिसंभाव्य है कि उसके वकील ने उस पर दबाव डाला होगा, और यह कि उसने इस बात के संबंध में कि साक्षियों के रूप में किन लोगों को प्रोद्‌वृत किया जाना चाहिए, अपना मस्तिष्क लगाए बिना मतदाताओं की सूची देखकर ही साक्षियों की सूची फाइल की थी। इन परिस्थितियों में हमारी राय यह है कि जीप सं० यू० एस० जे० 5226 के स्वामी कबीर अहमद से उसे उपाप्त करने के प्रश्न के संबंध में प्रत्यर्थी, प्रत्यर्थी साक्षी 45 के हितबद्ध साक्ष्य पर कोई विश्वास करना संभव नहीं है। अर्जीदार साक्षी सं० 16 का साक्ष्य सर्वाधिक स्वाभाविक और विश्वसनीय है। उसके साक्ष्य को अस्वीकार करने के लिए किसी भी प्रकार का बिलकुल ही कोई कारण नहीं है, जोकि सिखाया-पढ़ाया गया साक्ष्य नहीं हो सकता था। हम अपीलार्थी के पक्षकथन के इस पहलू के संबंध में अर्जीदार साक्षी सं० 6, 16 और 43 के साक्ष्य को स्वीकार करते हैं और यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रत्यर्थी ने अपने निर्वाचकों के मुफ्त प्रवहण के लिए अपने निकट के एक मित्र कबीर अहमद से जीप सं० यू० एस० जे० 5226 उपाप्त की थी, और यह कि किसी कारण से उस जीप का उपयोग मतदान के दिन उस प्रयोजन के लिए किया गया था और सरकारी कर्मचारी अभियोजन साक्षी 69, 73 और 81 ने उसे उस समय अभिगृहीत किया था, जबकि उसका उपयोग अर्जीदार साक्षी सं० 67 सहित, अर्जीदार साक्षी सं० 10, 11, 42 और अन्य व्यक्तियों के मुफ्त प्रवहण के लिए किया जा रहा था।

14. इस प्रकार अपीलार्थी ने अधिनियम की धारा 123 के खण्ड (5) की सभी तीनों अपेक्षाओं को समाधानकारी रूप से साबित कर दिया है और इसी कारण प्रत्यर्थी के बारे में यह अभिनिर्धारित करना पड़ेगा कि वह उस खण्ड के अधीन आने वाले भ्रष्टाचरण का दोषी है, जिसे साबित करना

मामूली तौर से कठिन है। हम यह समझते हैं कि ऐसे भ्रष्टाचरण से, जिसका सहारा निर्वाचनों में बड़े पैमाने पर लिया जाता है, या तो मतदान स्थल उतने फासले पर अवस्थित करके जहां कि निर्वाचक पैदल जा सकें या चल-मतदान केन्द्र द्वारा बचा जा सकता था। तदनुसार, हम मात्र भ्रष्टाचरण की इस मद के सम्बन्ध में यह अपील खर्चे सहित मंजूर करते हैं, जिसकी रकम 5,000 रुपए निश्चित की जाती है और यह अभिनिर्धारित करते हैं कि प्रत्यर्थी पश्चिमी चम्पारन जिले में के सं० 5 सिकता निर्वाचन क्षेत्र से बिहार विधान सभा के,सदस्य के रूप में 1977 में हुए अपने निर्वाचन के सम्बन्ध में अधिनियम की धारा 123(5) के अधीन भ्रष्टाचरण का दोषी है।

अपील मंजूर की गई।

श्री०

महाराष्ट्र राज्य माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा बोर्ड और एक अन्य

बनाम

परितोष भूपेश कुमार सेठ और अन्य

(17 जुलाई, 1984)

(न्यायाधिपति डी० ए० देसाई और वी० बालकृष्ण एराडी)

नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत—सार्वजनिक परीक्षा के परिणाम से असंतुष्ट प्रत्यर्थियों (अभ्यर्थियों) द्वारा अपनी उत्तरपुस्तिकाओं या अन्य दस्तावेजों के प्रकटीकरण या निरीक्षण के अधिकार की मांग करते हुए बोर्ड के विरुद्ध उच्च न्यायालय में रिट पिटीशन फाइल किये जाने—उच्च न्यायालय द्वारा उक्त मांग मंजूर किया जाना—उत्तरपुस्तिकाओं के पुनर्मूल्यांकन या उत्तरपुस्तिकाओं या अन्य दस्तावेजों के प्रकटीकरण या निरीक्षण करने से परीक्षार्थियों को वंचित करने से नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अतिक्रमण नहीं होता।

महाराष्ट्र सैकेंडरी एंड हायरसैकेंडरी एजूकेशन बोर्ड्स ऐक्ट, 1965 (1965 का 41)—धारा 36 (सपठित महाराष्ट्र सैकेंडरी एंड हायरसैकेंडरी एजूकेशन बोर्ड रेगुलेशन) 1977—विनियमन 104 (3)—विनियम की विधिमान्यता—बोर्ड को अधिनियम के प्रयोजनों को कार्यान्वित करने के लिए विनियम विरचित करने की शक्ति दिया जाना—उक्त विनियम के उपबंधों को बोर्ड को प्रदत्त विनियम बनाने की शक्ति के आधिक्य में होने के आधार पर अविधिमान्य नहीं ठहराया जा सकता।

संविधान, 1950—अनुच्छेद 245 और 226 (सपठित महाराष्ट्र सैकेंडरी एंड हायरसैकेंडरी एजूकेशन बोर्ड्स रेगुलेशन, 1977)—विनियम की विधिमान्यता अवधारित करने की कसौटी—न्यायालय द्वारा विनियम बनाने वाले निकाय द्वारा अधिकथित किसी नीति के गुणागुण की परीक्षा करना और विधान मंडल पर अधिनियम के उद्देश्यों और प्रयोजनों को सर्वोत्तम रीति से पूरा करने का सिद्धांत या नीति अधिरोपित करना पूर्णतः गलत है।

महाराष्ट्र सैकेंडरी एंड हायरसैकेंडरी एजूकेशन बोर्ड्स ऐक्ट, 1965 (1965 का 41)—धारा 36 (सपठित महाराष्ट्र सैकेंडरी एण्ड हायरसैकेंडरी एजूकेशन बोर्ड्स रेगुलेशन, 1977—विनियम 102(2)—विस्तार—प्रत्यर्थियों द्वारा सार्वजनिक परीक्षा के परिणाम से असंतुष्ट होकर अपनी उत्तर पुस्तिकाओं या अन्य दस्तावेजों के प्रकटीकरण निरीक्षण या सत्यापन की मांग की जाना— उच्च न्यायालय द्वारा उक्त मांग स्वीकार की जाना—विनियम 102(2) में परीक्षार्थियों को उत्तरपुस्तिकाओं के प्रकटीकरण, निरीक्षण या सत्यापन्न की मांग करने का कोई अधिकार प्रदान नहीं किया गया है इसलिए उच्च न्यायालय द्वारा ऐसा करने की अनुमति दिया जाना मान्य नहीं है।

महाराष्ट्र राज्य माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के पर्यवेक्षण और नियंत्रण के अधीन कार्य करने वाले प्रभागीय बोर्ड द्वारा संचालित उच्चतर माध्यमिक प्रमाण पत्र और माध्यमिक विद्यालय प्रमाण पत्र की सार्वजनिक परीक्षाओं में अनेक अभ्यर्थी (प्रत्यर्थी) बैठे। उक्त सार्वजनिक परीक्षाओं के परिणाम के प्रकाशित होने के पश्चात् इन परीक्षाओं के परिणाम से किसी न किसी रूप में असंतुष्ट होकर कि उनकी उत्तर पुस्तिकाओं का समुचित मूल्यांकन नहीं किया गया है अनेक अभ्यर्थियों द्वारा मुम्बई उच्च न्यायालय में 39 रिट पिटीशन फाइल किए गए। इन रिट पिटीशनों में महाराष्ट्र सेकण्डरी एण्ड हायर सेकण्डरी एजूकेशन बोर्ड्स रेगुलेशन, 1977 के विनियम 104(3) की विधिमान्यता को चुनौती दी गई। पिटीशनरों (अभ्यर्थियों) द्वारा यह भी ईप्सा की गई थी कि उन्हें उस सार्वजनिक परीक्षा से संबंधित जिनके परिणाम प्रकाशित किए जा चुके हैं, अपनी उत्तर पुस्तिकाओं के प्रकट किए जाने और निरीक्षण के पश्चात्, यदि आवश्यक हो,, उनका पुनर्मूल्यांकन करने के लिए निदेश जारी किए जाएं। उच्च न्यायालय द्वारा इन रिट पिटीशनों को दो ग्रुपों में विभाजित किया गया। प्रथम ग्रुप में केवल वे मामले थे जिनमें एकमात्र निरीक्षण के अधिकार की मांग की गई थी और द्वितीय ग्रुप में केवल वे मामले थे जिनमें पिटीशनरों द्वारा उत्तर पुस्तिकाओं के मूल्यांकन के अतिरिक्त अधिकार की मांग की गई थी। बोर्ड की विनियम बनाने की शक्ति के आधिक्य में होने के कारण अधिकारातीत ठहराया गया और अभ्यर्थियों को उत्तरपुस्तिकाओं या अन्य दस्तावेजों के प्रकटीकरण या निरीक्षण के लिए हकदार ठहराया गया था। यह अभिनिर्धारित किया गया कि विनियम 104(1) में अन्तर्विष्ट यह उपबंध कि उत्तरपुस्तिकाओं या अतिरिक्त उत्तरपुस्तिकाओं (परिशिष्ट) का पुर्नमूल्यांकन नहीं किया जाएगा,

महाराष्ट्र सेकेण्डरी एण्ड हायर सेकेण्डरी बोर्ड ऐक्ट, 1965 की धारा 36 द्वारा प्रदत्त विनियम बनाने की शक्ति के अधिकारातीत हैं और प्रकटत: अयुक्तियुक्त होने के कारण अवैध और शून्य भी है। उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए इन निर्णयों से विक्षुब्ध होकर बोर्ड ने विशेष इजाजत प्राप्त करने के पश्चात् ये अपीलें उच्चतम न्यायालय में फाइल कीं। अपीलें मंजूर करते हुए—

अभिनिर्धारित—विनियम 104—खंड (3) के अधीन नैसर्गिक न्याय का सिद्धांत उत्तर पुस्तिकाओं और अंकों की बाद में जांच की प्रक्रिया को लागू नहीं होता क्योंकि इसमें विनिश्चय करने की कोई ऐसी प्रक्रिया अंतर्वलित नहीं है जिससे परीक्षार्थियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो। नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों को युक्तियुक्त और युक्तिसंगत सीमाओं से आगे विस्तारित नहीं किया जा सकता और ऐसा बेतुका विस्तार नहीं किया जा सकता जिससे कि यह अनिवार्य हो जाए कि उन अभ्यर्थियों को जो सार्वजनिक परीक्षा में बैठे हैं अपने प्रदर्शन (कार्य) के मूल्यांकन की प्रक्रिया में भाग लेने या उत्तरपुस्तिकाओं का निरीक्षण करने और यह अवधारित करने के लिए अनुज्ञात किया जाए कि क्या परीक्षकों द्वारा उत्तर का समुचित और ऋजु मूल्यांकन हुआ है या नहीं है। (पैरा 12)

उच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया यह दृष्टिकोण सही या समुचित नहीं था क्योंकि इस प्रश्न का अवधारण कि क्या कोई विशिष्ट प्रत्यायोजित विधान (भले ही वह नियम या विनियम या अन्य प्रकार की कानूनी लिखत है) प्रत्यायुक्त को प्रदत्त अधीनस्थ विधान की शक्ति के आधिक्य में है, मात्र नियम, विनियम इत्यादि विरचित करने की शक्ति प्रदत्त करने वाले सुसंगत कानून में अंतर्विष्ट विनिर्दिष्ट उपबंधों के और अधिनियम के ऐसे उद्देश्य और प्रयोजन के प्रति निर्देश से किया जाएगा, जैसा कि उस अधिनियमिति के विभिन्न उपबंधों में पाया जा सकता है। न्यायालय के लिए विधान-मंडल या इसके प्रत्यायुक्त (डेलीगेट) की राय के स्थान पर स्वयं अपनी यह राय प्रतिस्थापित करना कि किस सिद्धांत या नीति द्वारा अधिनियम के उद्देश्यों और प्रयोजनों को सर्वोत्तम ढंग से पूरा किया जा सकता है और विनियम विरचित करने वाले निकाय द्वारा अधिकथित नीति की प्रभावशीलता या अन्यथा के और प्रज्ञान के बारे में नुक्ताचीनी करना और मात्र इस आधार पर विनियम को अधिकारातीत घोषित करना कि उच्च न्यायालय की दृष्टि से आक्षेपित उपबंध उक्त अधिनियम के उद्देश्य और प्रयोजन को पूरा करने में सहायक नहीं होगा, पूर्णतः गलत होगा। जब तक ऐसा निकाय जिसे नियम या

विनियम विरचित करने का कार्य सौंपा गया है, अपने प्रदत्त प्राधिकार की परिधि के भीतर इस आशय से कार्य करता है कि इसके द्वारा विरचित नियमों और विनियमों को कानून के उद्देश्य और प्रयोजन के साथ युक्तियुक्त संबंध है, तब तक न्यायालय को ऐसे नियमों और विनियमों के प्रज्ञान या प्रभाव के बारे में स्वयं चिंता नहीं करनी चाहिए। यह अवधारित करना अनन्यतः विधान-मंडल और उसके प्रत्यायुक्त की परिधि के भीतर है कि नीति के रूप में कानून के उपबंधों को किस प्रकार सर्वोत्तम रीति से लागू किया जा सकता है और कौन से उपाय (मूल तथा प्रक्रिया संबंधी) उक्त अधिनियम के उद्देश्यों और प्रयोजनों को प्रभावी रूप से पूरा करने के लिए नियमों और विनियमों में विनियमित किया जाएगा। ऐसी नीति के गुण या अवगुणों की परीक्षा करना न्यायालय का कार्य नहीं है क्योंकि उसकी संवीक्षा इस प्रश्न तक सीमित की जाएगी कि क्या अपेक्षित विनियम कानून द्वारा प्रत्यायोजित विनियम विरचित करने की प्रदत्त की गई शक्ति की परिधि के भीतर आता है। (पैरा 14)

अधिनियम की धारा 36 की उपधारा (2) के खण्ड (ग) (घ) (च) और (छ) अन्तिम परीक्षा के लिए अभ्यर्थी के प्रवेश को लागू होने वाली शक्तियां, प्रभागीय बोर्ड द्वारा अंतिम परीक्षा के संचालन के लिए व्यवस्था तथा परिणामों के प्रकाशन तथा परीक्षकों की नियुक्ति, अंतिम परीक्षा इत्यादि से संबंधित उनकी शक्तियों और कर्तव्यों के बारे में है। ये विषय इतने व्यापक हैं कि इसमें उन अभ्यर्थियों के जो अंतिम परीक्षा में बैठे हैं, उत्तरों के मूल्यांकन पर आधारित परीक्षा के परिणामों को अंतिम रूप देने की प्रक्रिया का निर्देशन तथा अंकों के सत्यापन से संबंधित निर्बंधनात्मक उपबंध अधिकथित करना, उत्तरपुस्तकाओं के प्रकटीकरण और निरीक्षण के विरुद्ध प्रतिषेध तथा मूल्यांकन के लिए किसी अधिकार या दावे से वंचित करना सम्मिलित हो सकता है। किसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि अंतिम परीक्षा के संचालन और इसलिए परीक्षकों के परिणामों के प्रश्न के अन्तर्गत आने वाले विषय नहीं है। अंतिम परीक्षा के संचालन तथा अभ्यर्थियों के कार्य प्रदर्शन का मूल्यांकन और परिणामों का संकलन और परिणाम निकाला जाना ये सभी राज्य बोर्ड के द्वारा समय-समय पर जारी किये जाने वाले अनुदेशों के अनुसरण में प्रभागीय बोर्ड द्वारा किया जाएगा। इसलिए यह स्पष्ट है कि बोर्ड को अपनी नीति विरचित करने का कर्त्तव्य सौंपा गया है कि किस प्रकार परीक्षाओं का संचालन किया जाएगा, किस प्रकार अभ्यर्थियों के प्रदर्शन का मूल्यांकन किया जाएगा और किस प्रक्रिया द्वारा परिणामों को अंतिम रूप दिया जाएगा,

संकलित किया जाएगा और निकाला जाएगा। बोर्ड परीक्षा के संचालन से संबंधित नीति विषयक मामले के रूप में अपने विवेक बुद्धि का प्रयोग करने और यह विनिश्चय करने के लिए सक्षम था बल्कि यह उसका साधारण कर्त्तव्य था कि क्या अभ्यर्थियों को उत्तर-पुस्तिकाओं के प्रकटीकरण या निरीक्षण की अनुमति दी जानी चाहिए, क्या परिणामों की घोषणा के पश्चात सत्यापन अनुज्ञात किया जाना चाहिए और उसे किस सीमा तक अनुज्ञात किया जाना चाहिए और क्या उत्तर-पुस्तकाओं के पुनर्मूल्यांकन के लिए किसी दावे को मान्यता दी जानी चाहिए या उसके लिए उपबंध किया जाना चाहिए। निस्संदेह ये सभी ऐसे विषय हैं जिसका अधिनियमिति के उद्देश्यों और प्रयोजनों से गहरा संबंध है और इसलिए धारा 36 की उप-धारा (1) के अधीन विनियम विरचित करने की साधारण शक्ति की परिधि के भीतर आते हैं। इसके अतिरिक्त ये विषय उक्त धारा की उप-धारा (2) के खण्ड (ग), (च) और (छ) के भी भीतर आते हैं। इसलिए उच्च न्यायलय द्वारा व्यक्त किए गए इस मत को सही होने के रूप में स्वीकार करना सम्भव नहीं है कि विनियम 104 का खण्ड (3) बोर्ड को प्रदत्त विनियम विरचित करने की शक्ति के आधिक्य में होने के आधार पर अधिकारातीत है। (पैरा 5)

उच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण पूर्णतः गलत और भ्रामक है न्यायालय विधान मंडल द्वारा और विनियम विरचित करने वाले अधीनस्थ निकाय द्वारा प्रस्तुत नीति के प्रज्ञान की नुक्ताचीनी नहीं कर सकता। यह नीति बुद्धिमत्तापूर्ण हो सकती है जो अधिनियम के प्रयोजनों को कार्यान्वित करेगी या हो सकता हो यह प्रभावी न हो और इस प्रकार इसमें पुनरीक्षण या सुधार की आवश्यकता हो। किन्तु नियम या विनियम में विशेष नीति में की कोई कमी इसे अधिकारातीत नहीं बनायेगी और न्यायालय इसे इस आधार पर विखण्डित नहीं कर सकती कि उसकी राय में यह बुद्धिमत्तापूर्ण या विवेकपूर्ण नीति नहीं है बल्कि मूर्खतापूर्ण नीति है और यह कि वस्तुतः यह अधिनियम के प्रयोजन को पूरा नहीं करेगी। विधान-मंडल और इसके प्रत्यायुक्त (डेलीगेट) यह विनिश्चय करने की शक्ति के एकमात्र स्रोत हैं कि अधिनियम के अंतर्गत आने वाले विषयों के संबंध में किसी नीति का पालन किया जाना चाहिए और न्यायालय द्वारा इसमें हस्तक्षेप करने की कोई गुंजाइश तब तक नहीं है जब तक कि कोई विशिष्ट उपबंध जिसे इसके समक्ष आक्षेपित किया गया है, के बारे में इस अर्थ में किसी विधिक दुर्बलता से ग्रस्त होना नहीं कहा जा सकता कि यह विनियम विरचित करने की शक्ति की परिधि से पूर्णतः बाहर

है या यह मूल अधिनियम के उपबंधों में से किसी के असंगत है या संविधान द्वारा अधिरोपित सीमाओं में से किसी का अतिक्रमण करती है। प्रस्तुत मामले में दूषक बातों में से कोई भी बात दर्शित नहीं की गई है और इस प्रकार विनियम 104 के खण्ड (3) में अन्तर्विष्ट उपबंध से बोर्ड को प्रदत्त विनियम विरचित करने की शक्ति के आधिक्य में होने के आधार पर अधिकारातीत होने के रूप में अविधिमान्य करने के लिए न्यायालय को कोई गुंजाइश नहीं है। (पैरा 16)

आक्षेपित विनियमों की संविधानिकता का केवल 3 कसौटियों द्वारा ही न्यायनिर्णयन किया जा सकता हैं, अर्थात (1) क्या ऐसे विनियमों के उपबंध कानून द्वारा प्रत्यायुक्त को प्रदत्त शक्ति की परिधि और व्याप्ति के भीतर आते हैं; (2) क्या प्रत्यायुक्त द्वारा विरचित नियम/विनियम मूल अधिनियमिति के उपबन्धों से किसी सीमा तक असंगत हैं और अन्ततः (3) क्या वे संविधान द्वारा अधिरोपित मूल अधिकारों या अन्य निर्बंधनों या सीमाओं में से किसी का अतिलंघन करते हैं। यह अभिनिर्धारित किया जा चुका है कि उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करके भूल की थी कि विनियम 104 के खण्ड (3) के उपबंध अधिनियम के उपबंधों को क्रियान्वित करने के प्रयोजन को पूरा नहीं करते और धारा 36 द्वारा प्रदत्त विनियम विरचित करने की शक्ति के आधिक्य में होने के आधार पर अधिकारातीत हैं। (पैरा 18)

उच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण पूर्णतः भ्रामक है और निवर्चन के इस सुस्थापित सिद्धांत का अनुसरण करने में उसकी विफलता द्वारा दूषित है कि कानूनी अधिनियमित या उसके अधीन विरचित नियमों/विनियमों में अन्तर्विष्ट उपबंधों का अर्थान्वयन ऐसे किया जाएगा जिससे कि एक दूसरे के साथ सामंजस्य हो और जहां किसी विनिर्दिष्ट धारा या नियम के अधीन किसी विशिष्ट विषय पर विशेष रूप से विचार किया गया है, वहां ऐसा विशेष उपबंध ऐसे किसी साधारण उपबंध का लागू किया जाना अपवर्जित करेगा जो अन्यथा उक्त विषय के अन्तर्गत आता हो। विनियम 102(2), यदि उसका उस परिस्थिति में समुचित रूप से अर्थान्वयन किया जाता है जिसमें वह आता है तो वह यह समझे जाने पर किसी अभ्यर्थी या अभ्यर्थियों के बारे में परीक्षा के परिणाम में संशोधन करने के लिए प्रभागीय बोर्ड को स्वप्रेरण या शक्ति प्रदत्त करता है कि ऐसे परिणाम पर गलती, अनाचार, कपट, अनुचित आचरण इत्यादि का प्रभाव पड़ा है। इस संदर्भ में उक्त उपबंध में निर्दिष्ट "गलती" को अनाचार, कपट, अनुचित आचरण या इसी प्रकार

के अन्य विषय चाहे वह किसी प्रकृति का हो, के परिणामस्वरूप होने वाली गलती तक सीमित होने के रूप में समझा जायेगा। इस उपबंध को परीक्षार्थी को अपनी उत्तरपुस्तिकाओं या अन्य संबंधित दस्तावेजों के प्रकटीकरण निरीक्षण या जांच करने की मांग करने का कोई अधिकार प्रदत्त करने वाला होने के रूप में नहीं माना जा सकता। बहरहाल, इस विषय के संबंध में संदेह या अटकलबाजी की सभी गुंजाइशें विनियम 104 में अंतर्विष्ट उपबंध द्वारा दूर कर दी गई हैं जो (विनियम 104) विनिर्दिष्टतः अभ्यर्थी द्वारा प्राप्त अंकों के सत्यापन के विषय में है। उक्त विनियम के खण्ड (3) में यह भी परिसीमा अधिरोपित की गई है कि कोई भी अभ्यर्थी अपनी उत्तरपुस्तिका के पुनर्मूल्यांकन का या उत्तरपुस्तिका या अन्य दस्तावेजें के प्रकटीकरण या निरीक्षण का दावा नहीं करेगा या दावा करने का हकदार नहीं होगा क्योंकि इन्हें प्रभागीय बोर्ड द्वारा अत्यन्त गोपनीय समझा गया है। यह स्पष्ट है कि खण्ड (1) और (3) एक साथ पढ़ा जाएगा और दोनों को पृथक करके नहीं जैसा कि प्रगटतः उच्च न्यायालय द्वारा किया गया है। खण्ड (1) द्वारा प्रदत्त सत्यापन का अधिकार उसी खण्ड में अंतर्विष्ट इस परिसीमा के अध्यधीन है कि उत्तरपुस्तिकाओं या अतिरिक्त उत्तर पुस्तिकाओं (परिशिष्ट) का पुनर्मूल्यांकन नहीं किया जायेगा और उत्तरपुस्तिकाओं के प्रकटीकरण या निरीक्षण पर प्रतिषेध लगाते हुए खण्ड (3) द्वारा और निर्बन्धन अधिरोपित किया गया है। खण्ड (3) के अंतिम शब्दों का निर्वचन गलत है। उसमें मात्र यह अधिकथित किया गया है कि उत्तरपुस्तिकाओं और अन्य दस्तावेजों को प्रभागीय बोर्ड द्वारा अत्यन्त गोपनीय समझा जायेगा। अन्य शब्दों में विनियम के इस खण्ड में उत्तरपुस्तिकाओं और दस्तावेजों को गोपनीय समझने के लिए प्रभागीय बोर्ड के लिए आदेश अंतर्विष्ट है और इसमें यह अधिकथित किया गया है कि कोई भी अभ्यर्थी उक्त गोपनीय पुस्तकाओं और दस्तावेजों के प्रकटीकरण या सत्यापन का दावा करने के लिए हकदार नहीं होगा। चूंकि सत्यापन का अधिकार विनियम 104 के खण्ड (1) के द्वारा प्रदत्त किया गया है इसलिए प्रकटीकरण और निरीक्षण की मांग करने की परीक्षार्थियों में विवक्षित शक्ति है और ऐसी मांग को स्वीकार करने की बोर्ड के पक्ष में समरूपी विवक्षित बाध्यता है। ऐसी किसी विवक्षित शक्ति का अवलम्ब लेने या विनियम बनाने वाले प्राधिकारी में विवक्षा द्वारा ऐसी शक्ति प्रदत्त करने का आशय अधिरोपित करने की कोई गुंजाइश नहीं है जबकि उसी विनियम के खंड(3) में अभिव्यक्त उपबंध अंतर्विष्ट है जिससे स्पष्टतः प्रतिकूल आशय प्रकट होता है और सुस्पष्ट शब्दों में यह कथन किया गया है कि उत्तरपुस्तिकाओं के

प्रकटीकरण या निरीक्षण के लिए कोई दावा नहीं किया जाएगा या कोई उसके लिए हकदाक नहीं होगा। (पैरा 20)

यह अवधारित करना कि क्या कानून का प्रयोजन विधान मंडल या उसके प्रतिनिधि द्वारा जो कुछ अधिकथित किया गया है उससे भिन्न कोई नीति अपनाकर बेहतर रूप से पूरा किया जा सकता है और किसी उपविधि के प्रयोजन के लिए यह धारणा करते हुए कि आक्षेपित विनियम उप-विधि है, को अयुक्तियुक्त होने के रूप में मात्र इस आधार पर विखंडित करना, कि उसमें प्रतिपादित नीति अधिनियम के उद्देश्य और प्रयोजनों को लागू करने के लिए उसके प्रभाव के सम्बन्ध में न्यायालय का अनुमोदन प्राप्त नहीं करता, न्यायालय के विधिसंगत अधिकार क्षेत्र के भीतर नहीं है। (पैरा 22)

प्रश्न की सारवान प्रकृति और साधारण महत्व को ध्यान में रखते हुए तथा उस प्रतिक्रिया को, जो अनिवार्यत: विश्वविद्यालयों, विद्यालय शिक्षा बोर्डों तथा संघ और राज्य लोक सेवा आयोग जैसे निकायों द्वारा संचालित विभिन्न प्रकार की सार्वजनिक परीक्षाओं में पुनर्मूल्यांकन की मांग करने के अधिकार की मान्यता द्वारा उत्पन्न होगी यह समुचित होगा यदि विद्वान् न्यायाधीश उस प्रश्न पर सभी पहलुओं से अपने दृष्टिकोण के अनुसरण में स्वतन्त्र रूप से विचार विमर्श किए होते या उसे यथास्थिति किसी बृहत्तर न्यायपीठ को या तीसरे न्यायाधीश को निर्देशित किए होते, यदि वे यह अनुभव करते कि उनके सहयोगी द्वारा तैयार किए गए निर्णय में प्रतिपादित दृष्टिकोण संदेहपूर्ण था। (पैरा 25)

यदि अभ्यर्थियों, की उपस्थिति में निरीक्षण, जांच और पुनर्मूल्यांकन अधिकार के रूप में अनुज्ञात किए जाते हैं तो इससे घोर अनिश्चितता उत्पन्न हो सकती है विशिष्टतया अभ्यर्थियों की तुलनात्मक श्रेणी इत्यादि के सम्बन्ध में, इसके अतिरिक्त इससे इस प्रक्रिया में अन्तर्वलित श्रम और समय की अधिकता के कारण अत्यधिक भ्रम उत्पन्न हो सकता है। (पैरा 27)

अनुमोदित निर्णय पैरा

[1981] (1981) ए० आई० आर० मुम्बई 95 :
परितोष भूपेश कुमार सेठ बनाम महाराष्ट्र राज्य माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा बोर्ड; 2

[1898] (1898) 2 क्यू० बी० 91 :
क्रुश बनाम जानसन ; 21

[1888] (1888) 13 अपील केसेज 446 :
सल्लाटरी बनाम नैलौर. 21

अनुसरित निर्णय

[1978] [1978] 1 उम० नि० प० 1173=[1977] 2
एस० सी० आर० 828 :
फतेह चन्द हिम्मत लाल और अन्य बनाम महाराष्ट्र
राज्य इत्यादि; 28

[1978] [1978] 3 उम० नि० प० 1063=(1977) 4
एस० सी० सी० 98 :
आर० एस० जोशी बनाम अजीत मिल्स; 22

[1976] 2 उम० नि० प० 527=[1976] 1 एस० सी०
आर० 721 :
मद्रास पत्तन के न्यासी बनाम अमीन चन्द प्यारे लाल
और अन्य; 21

[1973] [1973] 3 उम० नि० प० 1374=[1974] :
एस० सी० आर० 797 :
भारत संघ बनाम एम० एल० कपूर. 12

विसम्मत निर्णय

[1968] (1968) ए० आई० आर० मुम्बई 156 :
सोफी केली बनाम महाराष्ट्र राज्य. 17

सिविल अपीली अधिकारिता : 1980 की सिविल अपील सं० 1653 से 1691.

(1980 के रिट पिटीशन सं० 1906, 1772, 1799, 1838, 1885, 1923, 1925, 1926, 1928, 1996 से 1998, 2005, 2060 से 2065, 2076, 2099 से 2102, 2110, 2127, 1909, 1864, 1865, 1889,

1890, 1924, 1927 2003, 2044, 2098, 2176, 2177, में मुम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 28 और 29 जुलाई, 1980 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर की गई अपील)

अपीलार्थियों की ओर से	सर्वश्री आर० पी० भट्ट, सोली जे० सोराबजी, रवी कुलकरनी, रवीन्द्र नारायण, ए० एन० हस्कर, डी० एन० मिश्र और श्रीमती ए० के० वर्मा
प्रत्यर्थियों की ओर से (1980 की सिविल अपील सं० 1658 में)	सर्वश्री एस० एस० खंडूजा और सत्य प्रकाश डा० एन० एस० घटाटे
(1980 की सिविल अपील सं० 1659 और 1684 में)	श्री पी० एच० पारिख और कुमारी निशा श्रीवास्तव
(1980 की सिविल अपील सं० 1685 में)	वी० एन० गनपुते और श्रीमती वी० डी० खन्ना

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति वी० बालकृष्ण एराडी ने दिया ।

न्यायाधिपति एराडी—

यह सामान्य अनुभव की बात है कि जब कभी विद्यालय बोर्ड (स्कूल बोर्ड) और विश्वविद्यालयों या लोक सेवा आयोग जैसे अन्य निकायों द्वारा संचालित सार्वजनिक परीक्षाओं के परिणाम घोषित किए जाते हैं, तब ऐसे सफल अभ्यर्थियों की खुशी के बीच जो कि प्रत्याशित श्रेणी के अंक प्राप्त करते हैं अभ्यर्थियों के प्रदर्शन और गुण के बारे में स्वयं उनके निर्धारण पर आधारित परीक्षार्थियों के मन में स्थित आशाओं और प्रत्याशाओं की विफलताओं के प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में निराशा और विफलता का लम्बा रास्ता भी सामने आना अपरिहार्य है । इस भावना से आक्रांत होकर कि परीक्षाओं में उनके प्रदर्शन का समुचित मूल्यांकन नहीं किया गया है स्वाभाविक है कि वे उत्तरपुस्तिकाओं का पुनर्मूल्यांकन कराना चाहेंगे तथा यह पता लगाने के लिए स्वयं उत्तरपुस्तिकाओं का निरीक्षण और जांच कराना भी चाहेंगे कि क्या सभी प्रश्नों के उत्तरों का समुचित मूल्यांकन किया गया है, क्या अंकों का जोड़ सही ढंग से किया गया है और क्या उत्तर पुस्तिकाओं और अनुपूरक उत्तर पुस्तिकाओं पर लिखे गये सीट (स्थान) संख्याओं में फेर-फार किया गया है । इन अपीलों में हमारे समक्ष जिस प्रश्न पर दलील दी गई है वह यह है कि क्या

विधि के अधीन, किसी अभ्यर्थी को उत्तर पुस्तिकाओं के ऐसे निरीक्षण, जांच और पुनर्मूल्यांकन की मांग करने का अधिकार प्राप्त है और क्या महाराष्ट्र राज्य माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा बोर्ड द्वारा विरचित कानूनी विनियम जो उक्त विषय को वहां तक लागू होता है, जहां तक उनमें सुस्पष्टतः यह उल्लेख किया गया है कि इसमें ऐसा कोई अधिकार नहीं होगा, अधिकारातीत, अयुक्तियुक्त और शून्य कहे जा सकते हैं।

2. ऐसे अनेक असफल अभ्यर्थियों ने, जो महाराष्ट्र राज्य माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (जिसे इसमें इसके पश्चात् बोर्ड कहा गया है) के पर्यवेक्षण और नियंत्रण के अधीन कार्य करने वाले प्रभागीय बोर्ड (डिवीजनल बोर्ड) द्वारा संचालित उच्चतर माध्यमिक प्रमाणपत्र और माध्यमिक विद्यालय प्रमाण-पत्र सार्वजनिक परीक्षाओं में बैठे थे, मुम्बई उच्च न्यायालय में 39 रिट पिटीशन फाइल किये। जिनमें महाराष्ट्र सेकेंडरी एंड हायर सेकेंडरी बोर्ड रेगूलेशन्स, 1977 के रेगूलेशन 104(3) की विधिमान्यता को चुनौती दी और रिट जारी करने की मांग की जिसमें बोर्ड (यहां पर अपीलार्थी) को यह निदेश दिया जाए कि सार्वजनिक परीक्षा में, जिसका परिणाम प्रकाशित हो चुका था, पिटीशनरों की उत्तर पुस्तिकाओं के दिखाने और निरीक्षण करने के लिये उन्हें अनुज्ञात करे और ऐसे उत्तर-पत्रों का पुनर्मूल्यांकन करे जिसकी निरीक्षण के पश्चात् मांग कर सकते हैं, उच्च न्यायालय ने रिट पिटीशनों को दो ग्रुपों में विभाजित किया, प्रथम ग्रुप में ऐसे मामले हैं जहां एकमात्र निरीक्षण के अधिकार का दावा किया गया था और द्वितीय ग्रुप में ऐसे मामले हैं, जहां पिटीशनर ने उत्तरपत्रों के पुनर्मूल्यांकन की मांग करने के अतिरिक्त अधिकार का भी दावा किया था। यद्यपि सभी रिट पिटीशनों को खंड न्यायपीठ द्वारा एक साथ सुना गया था जिसमें न्या० देशपांडे और ए० वी० मोहता थे, तथापि दोनों ग्रुपों का निपटारा 28 जुलाई, 1980* को उसी दिन न्यायपीठ की ओर से दिए गए पृथक निर्णय द्वारा किया गया था। रिट पिटीशनों के प्रथम ग्रुप का निपटारा खंड न्यायपीठ की ओर से न्या० देशपांडे द्वारा दिए गए निर्णय किया गया था। उसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि विनियम 104 का खंड(3) जिसमें यह अधिकथित किया गया है कि कोई भी अभ्यर्थी उत्तरपुस्तिकाओं या अन्य दस्तावेजों के प्रकटीकरण या निरीक्षण के लिए हकदार नहीं होगा क्योंकि इसे अत्यन्त गोपनीय समझा जाना चाहिए, बोर्ड की विनियम विरचित करने की शक्ति के आधिक्य में होने के आधार पर अधीकारातीत है। खंड न्यायपीठ की राय में उक्त उपबन्ध के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह इस अधिनियम के किसी प्रयोजन को पूरा करता है किन्तु, इसके विपरीत उसे

---

* ए० आई० आर० 1981 मुम्बई 95.

"विफल करता है" । यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि विनियम 104 का आक्षेपित खंड(3) उस सीमा तक, जिस सीमा तक यह गोपनीयता के आधार पर उत्तरपुस्तिकाओं और अन्य दस्तावेजों के प्रकटीकरण और निरीक्षण को प्रतिषिद्ध करता है अयुक्तियुक्त है और उस आधार पर भी अभिखंडित किये जाने योग्य है । तदनुसार, उच्च न्यायालय ने विनियम 104 के खंड(3) को शून्य घोषित किया और पिटीशनरों द्वारा मांग की गई उत्तरपुस्तिकाओं का निरीक्षण करने की अनुमति देने के लिये और विनियम 104 के खंड(4) से (6) के अधीन पारिणामिक कार्रवाई करने के लिए, जब कभी आवश्यक हो बोर्ड को निदेश देते हुए रिट पिटीशनों का प्रथम ग्रुप मंजूर किया ।

3. रिट पिटीशन के द्वितीय ग्रुप में मुख्य निर्णय न्या० मोहता द्वारा यह अभिनिर्धारित करते हुए दिया गया था कि विनियम 104 के खंड(1) में अंतर्विष्ट यह उपबन्ध कि उत्तर पुस्तिकाओं या अनुपूरक उत्तर पुस्तिका का पुनर्मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, धारा 36 द्वारा प्रदत्त विनियम विरचित करने की शक्ति के अधिकारातीत है और प्रकटतः अयुक्तियुक्त होने के आधार पर अवैध और शून्य भी है । विद्वान न्यायमूर्ति के मतानुसार निरीक्षण और प्रकटीकरण से कोई प्रयोजन पूरा नहीं होगा यदि पुनर्मूल्यांकन के अतिरिक्त अधिकार से वंचित किया जाता है और जहां तक रिट पिटीशनों के प्रथम ग्रुप में उस समय दिए गए निर्णय द्वारा प्रकटीकरण और निरीक्षण के अधिकार को माना गया था यह निष्कर्ष निकालना अनिवार्य था कि बोर्ड पुनर्मूल्यांकन की अनुमति देने के लिए भी बाध्य था । इस तर्क के आधार पर विनियम 104(1), जहां तक इसके द्वारा पुनर्मूल्यांकन प्रतिषिद्ध किया गया है, शून्य घोषित किया गया था और बोर्ड को यह निदेश जारी किया गया था कि उन परीक्षार्थियों के मामले में, जिन्होंने पुनर्मूल्यांकन के लिए आवेदन किया था, ऐसी सुविधा भी मंजूर की जानी चाहिए । न्या० देशपांडे ने पृथक निर्णय द्वारा इस बारे में गम्भीर संदेह और संकोच व्यक्त किया था कि क्या पुनर्मूल्यांकन के अतिरिक्त अधिकार का उक्त विनियमों से पता चलता है, किन्तु अंततः यह मत व्यक्त करते हुए अपने सहयोगी द्वारा निकाले गये निष्कर्ष से सहमत हुये, अर्थात्—

> "अपने संदेह बने रहने देने और विसम्मति प्रकट करने की बजाय, मैं उपर्युक्त परिस्थितियों में उनसे सहमत होना चाहूंगा ।"

मामलों के दो ग्रुपों में दिए गये इन निर्णयों से व्यथित होकर बोर्ड ने विशेष इजाजत प्राप्त करने के पश्चात् इस न्यायालय के समक्ष ये अपीलें फाइल कीं ।

4. महाराष्ट्र माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक बोर्ड अधिनियम, (महाराष्ट्र सेकेंडरी एंड हायर सेकेंडरी बोर्ड ऐक्ट,) 19·5 (जिसे संक्षेप में "अधिनियम" कहा गया है) राज्य में माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा से सम्बन्धित कतिपय विषयों को विनियमित करने के लिए राज्य बोर्ड और प्रभागीय बोर्ड (स्टेट बोर्ड एण्ड डिवीजनल बोर्ड्स) की स्थापना के लिए उपबन्ध करने हेतु पारित किया गया है। धारा 3(1) में यह उपबन्ध किया गया है कि राज्य सरकार राजपत्र में अधिसूचना द्वारा "महाराष्ट्र राज्य माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा बोर्ड" के नाम से सम्पूर्ण राज्य के लिए एक बोर्ड स्थापित करेगी। उसकी धारा की उप-धारा (2) द्वारा यह भी उपबन्ध किया गया है कि राज्य सरकार इसी प्रकार ऐसे नाम से जैसाकि अधिसूचना में विनिर्दिष्ट किया जा सकता है, 3 प्रभागों में प्रत्येक के लिए बोर्ड स्थापित करेगी। अपीलार्थी-बोर्ड राज्य बोर्ड है, जिसका गठन धारा 3 की उप-धारा(1) के अधीन किया गया है।

5. राज्य बोर्ड की शक्तियां और कर्तव्य अधिनियम की धारा 18 के खंड(क) से (द) में प्रगणित किए गए हैं। खंड(क) में यह उल्लेख किया गया है कि साधारणत: माध्यमिक या उच्चतर माध्यमिक शिक्षा से संबंधित नीति के विषयों पर राज्य सरकार को सलाह देना बोर्ड का कर्तव्य होगा। इस प्रकार इस स्कीम के अधीन बोर्ड को माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा से सम्बन्धित सभी विषयों पर नीति विरचित करने के लिए महत्वपूर्ण कार्य का निर्वहन करना होता है। खंड(च) में बोर्ड को अंतिम परीक्षा के लिए नियमित और प्राइवेट अभ्यर्थियों के प्रवेश को लागू होने वाले साधारण शर्तों को विहित करने की तथा हाजिरी और चरित्र से संबंधित उन शर्तों को विनिर्दिष्ट करने के लिए सशक्त किया गया है जिनके पूरा किए जाने पर अभ्यर्थी को प्रवेश पाने और ऐसी किसी परीक्षा में सम्मिलित होने का अधिकार होगा।

6. धारा 19 प्रभागीय बोर्ड की शर्तों और कर्तव्यों के बारे में है। खंड (च) के अधीन प्रभागीय बोर्ड का कर्त्तव्य अपनी अधिकारिता से सम्बन्धित क्षेत्र में राज्य की ओर से अंतिम परीक्षा संचालित करने का है। खंड (छ) में प्रभागीय बोर्ड को उसकी अधिकारिता से सम्बन्धित क्षेत्र में अंतिम परीक्षा के संचालन के लिए प्रश्नपत्र तैयार करने वालों (पेपर सेटर), अनुवादकों, परीक्षकों, अनुसीमक, (माडरेटर), पर्यवेक्षक और अन्य आवश्यक कार्मिकों की नियुक्ति के लिए, अभ्यर्थियों के प्रदर्शन के मूल्यांकन के लिए और ऐसे अनुदेशों के अनुसरण में, जैसा कि राज्य बोर्ड समय-समय पर जारी कर सकता है, परिणामों के संकलन और परिणाम निकालने के लिए सशक्त किया गया है।

खंड (ज) के अधीन इस निमित्त राज्य बोर्ड द्वारा विरचित नियमों के अनुसार अंतिम परीक्षा के लिए अभ्यर्थियों को प्रवेश करना प्रभागीय बोर्ड की शक्तियों के भीतर है। खंड (ड) में माध्यमिक विद्यालयों और कनिष्ठ महाविद्यालयों में सभी परीक्षाओं में जिसमें अंतिम परीक्षा भी सम्मिलित है, साधारणतः छात्रों के प्रदर्शन का मूल्यांकन करने की और उस निमित्त राज्य बोर्ड को आवश्यक सिफारिशें करने की शक्ति प्रभागीय बोर्ड में निहित है।

7. इस अधिनियम की धारा 36(1) में अधिनियम के उपबन्धों को प्रभावी करने के प्रयोजन के लिए "विनियम" बनाने के लिए राज्य बोर्ड को सशक्त किया गया है। उप-धारा (2) में यह उल्लेख किया गया है कि, पूर्वगामी शक्ति की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, ऐसे विनियमों में उसके खंड (क) से (ढ़) में प्रगणित किन्हीं विषयों के लिये उपबन्ध किया जा सकता है। खंड (ग) (घ) (च) और (छ) जो एकमात्र हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए सुसंगत खंड हैं, नीचे प्रोद्धृत किये जाते हैं—

*"(ग) अंतिम परीक्षाओं के लिए नियमित और प्राइवेट अभ्यर्थियों के प्रवेश की बाबत लागू होने वाली साधारण शर्तें और हाजिरी और चरित्र से सम्बन्धित कोई विशिष्ट शर्तें, जिनके पूरा किये जाने पर किसी अभ्यर्थी को प्रवेश पाने का और ऐसी किसी परीक्षा में बैठने का अधिकार प्राप्त होगा;

(घ) किसी विषय में और कुल मिलाकर अंतिम परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए और किसी विषय में छूट, क्रेडिट और विशिष्टता के लिए अपेक्षित अंक;

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"(c) the general conditions governing admission of regular and private candidates for the final examinations, and any particular conditions regarding attendance and character, on the fulfilment of which a candidate shall have a right to be admitted to and to appear at any such examination;

(d) the marks required for passing in any subject and the final examination as a whole, and for exemption, credit and distinction in any subject.

(च) प्रभागीय बोर्ड द्वारा अंतिम परीक्षा के संचालन के और परिणामों के प्रकाशन के लिए व्यवस्था;

(ज) परीक्षकों की नियुक्ति, अंतिम परीक्षा की बाबत उनकी शक्तियां और उनके कर्तव्य तथा उनकी पारिश्रमिक।"

उपधारा 3 में यह अधिकथित किया गया है कि इस धारा के अधीन विरचित किसी विनियम का तब तक कोई प्रभाव नही होगा जब तक कि राज्य सरकार द्वारा उसे मंजूरी नहीं दी जाती।

8. धारा 38 में राज्य बोर्ड की, अधिनियम के तथा इसके अधीन विरचित विनियमों के अनुरूप 'उप-विधियां' विरचित करने के लिए सुभिन्न शक्ति प्रदत्त की गई है। ऐसी उपविधियों में बोर्ड और प्रभागीय बोर्ड और इनमें से किसी एक के द्वारा नियुक्त समितियों की बैठकों में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया के लिए और ऐसी बैठकों में गणपूर्ति के लिए अपेक्षित सदस्यों की संख्या के लिए और बोर्ड और समितियों से अनन्यत: सम्बन्धित ऐसे अन्य विषयों के लिए जिनके लिए अधिनियम और उसके अधीन विरचित विनियमों में उपबन्ध नहीं किया गया है, सुस्पष्ट उपबन्ध किया गया है।

9. राज्य सरकार द्वारा धारा 3 द्वारा प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में महाराष्ट्र में प्रभागीय बोर्ड स्थापित किया गया है और ये बोर्ड क्रमशः पुणे, औरंगाबाद प्रभाग के भारसाधक हैं। इन तीनों प्रभागीय बोर्डों द्वारा दो लोक परीक्षाएं संचालित की जाती हैं, अर्थात् उच्चतर माध्यमिक प्रमाणपत्र परीक्षा— "एच० एच० सी० परीक्षा"—जो उच्चतर माध्यमिक शिक्षा पाठ्यक्रम के अंतिम में संचालित की जाती है और माध्यमिक शिक्षा विद्यालय प्रमाणपत्र परीक्षा "एच० एस० सी० परीक्षा" जो माध्यमिक विद्यालय शिक्षा पाठ्यक्रम के अंत में संचालित की जाती है।

10. अधिनियम की धारा 36 द्वारा प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में राज्य बोर्ड ने महाराष्ट्र माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा बोर्ड

(f) the arrangements for the conduct of final examinations by the Divisional Boards and publication results;

(g) the appointment of examiners, their powers and duties in relation to the final examinations and their remuneration."

विनियम, 1977 विरचित किया है। यह विनियम धारा 36 की उपधारा (3) के अधीन राज्य सरकार द्वारा मंजूर किया ... और 11 जुलाई, 1977 को प्रकाशित किया गया था। यह 15 जू... को प्रवृत्त हुआ। ये विनियम अक्तूबर, 1977 और उसके पश्चात् म... ालय प्रमाण-पत्र परीक्षा और उच्चतर माध्यमिक प्रमाण-पत्र ... लागू था। ये विनियम 3 भागों में हैं। भाग 1 में ऐसे उपबन्ध अंत... के माध्यमिक विद्यालय प्रमाणपत्र (एस० एस० सी०) और उच्... मिक प्रमाण-पत्र (एच० एस० सी०) परीक्षा के लिए सामान्य उ... भाग 2 में ऐसे विनियम अंतर्विष्ट हैं जो केवल एस० एस० सी० पर... बंधित हैं और भाग 3 में अनन्यत: उच्चतर माध्यमिक प्रमाण... से ही सम्बन्धित है। विनियम 104 जिससे हमारा सम्बन्ध है भ... सके खंड (1) से (3) में आता है एकमात्र, जो इस मामले के ... लिए सुसंगत है और जिन्हें प्रोद्धृत करने की आवश्यकता है—

*104. किसी विषय में कि... रा प्राप्त किये अंकों का सत्यापन—

(1) कोई अभ्यर्थी जो उच्चतर ... ामाणपत्र परीक्षा में सम्मिलित हुआ है, किसी विशिष्ट वि... सत्यापन के लिए प्रभागीय सचिव को आवेदन कर सकत... न यह जांच करने तक निर्बन्धित होगा कि क्या सभी उत्तरों ... की गई है और यह कि उस विषय में प्रत्येक प्रश्न के लिए अ... जोड़ लगाने में और उत्तरपुस्तिकाओं के प्रथम आवरण ... रंग पेज) पर उन अंकों को अन्तरित करने में कोई भूल न... र क्या अभ्यर्थी

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"104. Verification of M... ained by a Candidate in a Subject—

(1) Any candidate who ... ed at the Higher Secondary Certificate ex... may apply to the Divisional Secretary for ve... of marks in any particular subject. The verification will be restricted to checking whether all the answers have been examined and that there has been no mistake in the totalling of marks for each question in that subject and transferring marks correctly on the first cover page of the answer book and whether the supplements attached to the answer

द्वारा वर्णित उत्तरपुस्तिकाओं से संलग्न अनुपूरक उत्तरपुस्तिकाएं (सप्लीमेंट) यथावत हैं। उत्तरपुस्तिकाओं या अनुपूरक उत्तरपुस्तिकाओं का पुनर्मूल्यांकन नहीं किया जाएगा।

(2) परीक्षा फल की घोषणा के दो सप्ताह के भीतर ऐसा आवेदन अवश्य ही कनिष्ठ महाविद्यालय के अध्यक्ष (प्रधानाचार्य) के माध्यम से किया जाना चाहिए जिसने परीक्षा के लिए उसे उपस्थित किया है और उसके (आवेदन के) साथ प्रत्येक विषय के लिए 10/-रुपये फीस अवश्य भेजी जानी चाहिए।

(3) कोई भी अभ्यर्थी अपने उत्तरों के पुनर्मूल्यांकन के लिए या उत्तरपुस्तिकाओं या अन्य दस्तावेजों के प्रकटीकरण या निरीक्षण के लिए हकदार नहीं होगा क्योंकि इन्हें प्रभागीय बोर्ड द्वारा अत्यन्त गोपनीय समझा जाता है।"

11. उच्च न्यायालय के समक्ष रिट पिटीशनरों ने विनियम 104 के खंड (1) और (3) की विधिमान्यता के विरुद्ध अपनी चुनौती को तीन मुख्य आधारों पर आधारित किया था। चुनौती का मुख्य आधार यह था कि आक्षेपित खंड नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अतिक्रामक था। दूसरे इस बात का जोरदार समर्थन किया गया था कि खंड (1) और खंड (3) दोनों ही उक्त अधिनियम की धारा 36 द्वारा बोर्ड को प्रदत्त विनियम विरचित करने की शक्तियों के आधिक्य में होने के आधार पर अधिकारातीत और शून्य थे। चुनौती का तीसरा आधार यह था कि खंड (1) और खंड (3) में अन्तर्विष्ट आक्षेपित

---

book mentioned by the candidate are in tact. No revaluation of the answer-book or supplements shall be done.

(2) Such an application must be made by the candidate through the head of the junior college which presented him for the examination, within two weeks of the declaration of the exemination results and must be accompanied by a fee of Rs. 10/- for each subject.

(3) No candidate shall claim, or be entitled to revaluation of his answers or disclosure or inspection of the answer-books or other documents as these are treated by the Divisional Board as most confidential."

विनियम, 1977 विरचित किया है। यह विनियम धारा 36 की उपधारा (3) के अधीन राज्य सरकार द्वारा मंजूर किया गया था और 11 जुलाई, 1977 को प्रकाशित किया गया था। यह 15 जून, 1977 को प्रवृत्त हुआ। ये विनियम अक्तूबर, 1977 और उसके पश्चात् माध्यमिक विद्यालय प्रमाण-पत्र परीक्षा और उच्चतर माध्यमिक प्रमाण-पत्र परीक्षा को लागू था। ये विनियम 3 भागों में हैं। भाग 1 में ऐसे उपबन्ध अंतर्विष्ट हैं जो कि माध्यमिक विद्यालय प्रमाणपत्र (एस० एस० सी०) और उच्चतर माध्यमिक प्रमाण-पत्र (एच० एस० सी०) परीक्षा के लिए सामान्य उपबन्ध हैं, भाग 2 में ऐसे विनियम अंतर्विष्ट हैं जो केवल एस० एस० सी० परीक्षा से ही संबंधित हैं और भाग 3 में अनन्यतः उच्चतर माध्यमिक प्रमाण-पत्र परीक्षा से ही सम्बन्धित है। विनियम 104 जिससे हमारा सम्बन्ध है भाग 3 और उसके खंड (1) से (3) में आता है एकमात्र, जो इस मामले के प्रयोजनों के लिए सुसंगत है और जिन्हें प्रोद्धृत करने की आवश्यकता है—

*104. किसी विषय में किसी अभ्यर्थी द्वारा प्राप्त किये अंकों का सत्यापन—

(1) कोई अभ्यर्थी जो उच्चतर माध्यमिक प्रमाणपत्र परीक्षा में सम्मिलित हुआ है, किसी विशिष्ट विषय में अंकों के सत्यापन के लिए प्रभागीय सचिव को आवेदन कर सकता है। सत्यापन यह जांच करने तक निर्बन्धित होगा कि क्या सभी उत्तरों की परीक्षा की गई है और यह कि उस विषय में प्रत्येक प्रश्न के लिए अंकों का सही जोड़ लगाने में और उत्तरपुस्तिकाओं के प्रथम आवरण पृष्ठ (कवरिंग पेज) पर उन अंकों को अन्तरित करने में कोई भूल नहीं हुई है और क्या अभ्यर्थी

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"104. Verification of Marks Obtained by a Candidate in a Subject—

(1) Any candidate who has appeared at the Higher Secondary Certificate examination may apply to the Divisional Secretary for verification of marks in any particular subject. The verification will be restricted to checking whether all the answers have been examined and that there has been no mistake in the totalling of marks for each question in that subject and transferring marks correctly on the first cover page of the answer book and whether the supplements attached to the answer

द्वारा वर्णित उत्तरपुस्तिकाओं से संलग्न अनुपूरक उत्तरपुस्तिकाएं (सप्लीमेंट) यथावत हैं। उत्तरपुस्तिकाओं या अनुपूरक उत्तरपुस्तिकाओं का पुनर्मूल्यांकन नहीं किया जाएगा।

(2) परीक्षा फल की घोषणा के दो सप्ताह के भीतर ऐसा आवेदन अवश्य ही कनिष्ठ महाविद्यालय के अध्यक्ष (प्रधानाचार्य) के माध्यम से किया जाना चाहिए जिसने परीक्षा के लिए उसे उपस्थित किया है और उसके (आवेदन के) साथ प्रत्येक विषय के लिए 10/-रुपये फीस अवश्य भेजी जानी चाहिए।

(3) कोई भी अभ्यर्थी अपने उत्तरों के पुनर्मूल्यांकन के लिए या उत्तरपुस्तिकाओं या अन्य दस्तावेजों के प्रकटीकरण या निरीक्षण के लिए हकदार नहीं होगा क्योंकि इन्हें प्रभागीय बोर्ड द्वारा अत्यन्त गोपनीय समझा जाता है।"

11. उच्च न्यायालय के समक्ष रिट पिटीशनरों ने विनियम 104 के खंड (1) और (3) की विधिमान्यता के विरुद्ध अपनी चुनौती को तीन मुख्य आधारों पर आधारित किया था। चुनौती का मुख्य आधार यह था कि आक्षेपित खंड नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अतिक्रामक था। दूसरे इस बात का जोरदार समर्थन किया गया था कि खंड (1) और खंड (3) दोनों ही उक्त अधिनियम की धारा 36 द्वारा बोर्ड को प्रदत्त विनियम विरचित करने की शक्तियों के आधिक्य में होने के आधार पर अधिकारातीत और शून्य थे। चुनौती का तीसरा आधार यह था कि खंड (1) और खंड (3) में अन्तर्विष्ट आक्षेपित

---

book mentioned by the candidate are in tact. No revaluation of the answer-book or supplements shall be done.

(2) Such an application must be made by the candidate through the head of the junior college which presented him for the examination, within two weeks of the declaration of the exemination results and must be accompanied by a fee of Rs. 10/- for each subject.

(3) No candidate shall claim, or be entitled to revaluation of his answers or disclosure or inspection of the answer-books or other documents as these are treated by the Divisional Board as most confidential."

उपबन्ध अत्यधिक अयुक्तियुक्त था और चूंकि बोर्ड द्वारा विचरित विनियम उप-विधियों के प्रकृति के हैं इसलिए अयुक्तियुक्त होने के आधार पर विखंडित किए जाने योग्य हैं।

12. यद्यपि पिटीशिनरों की ओर से उच्च न्यायालय के समक्ष दी गई मुख्य दलीलें नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के अतिक्रमण का अभिवास प्रतीत होती हैं तथापि उक्त दलीलों का समर्थन खंड न्यायपीठ के विद्वान न्यायमूर्तियों द्वारा नहीं किया गया था। उच्च न्यायालय ने पिटीशनरों की ओर से दी गई यह दलील अस्वीकार कर दी कि उत्तरपुस्तिकाओं का प्रकट न किया जाना या उसके निरीक्षण के अधिकार की नामंजूरी तथा ऐसे परिक्षार्थियों को जो परिणामों से असन्तुष्ट हैं के पुनर्मूल्यांकन की मांग करने के अधिकार से वंचित किए जाने का उन पर प्रतिकूल सिविल परिणाम होगा। यह अतिरिक्त दलील भी कि प्रत्येक प्रतिकूल "सत्यापन" में परीक्षार्थियों के पीठ पीछे उन्हें दण्डित किया जाना अंतर्वलित है और इस प्रकार इससे नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का स्पष्ट अतिक्रमण होता है, उच्च न्यायालय द्वारा स्वीकार नहीं की गयी थी। हमारे मतानुसार उच्च न्यायालय ने यह दृष्टिकोण अपनाकर और अभिनिर्धारित करके पूर्णतः सही कार्य किया था कि विनियम 104 के खंड (3) के अधीन "उत्तरपत्रों के मूल्यांकन की या अंकों के सत्यापन के पश्चातवर्ती प्रक्रिया" नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत को लागू नहीं होती क्योंकि विनिश्चय करने की कोई ऐसी प्रक्रिया अंतर्वलित नहीं है जो परीक्षार्थियों के लिए प्रतिकूल अनिष्टकर परिणाम प्रकट करती है। उस नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों को अयुक्तियुक्त और युक्ति संगत सीमाओं से आगे विस्तारित नहीं किया जा सकता और ऐसा वेतुका विस्तार नहीं किया जा सकता जिससे यह अनिवार्य हो जाए कि अभ्यर्थियों को जो सार्वजनिक परीक्षा में बैठे हैं अपने प्रदर्शन के मूल्यांकन की प्रक्रिया में भाग लेने या उत्तरपुस्तिकाओं का स्वयं निरीक्षण करके परीक्षकों द्वारा किए गए मूल्यांकन की सत्यता की जांच करने और इस बात का अवधारण करने की इजाजत दी जाए कि क्या परीक्षकों द्वारा उत्तरों का समुचित और ठीक मूल्यांकन किया गया है। जैसे कि **भारत संघ** बनाम **एम० एल० कपूर**[1] वाले मामले में न्या० मैथ्यू द्वारा अपने निर्णय में सारगर्भित रूप से मत व्यक्त किया है "यह इष्टकर नहीं है कि दूसरे पक्ष का कथन भी सुनो नियम में निहित नैसर्गिक न्याय का क्षेत्र इतना अधिक बढ़ा दिया जाए कि उसका लाभ प्रत्याशा मात्र रखने वाले हर व्यक्ति को प्राप्त हो भले ही उसकी प्रत्याशा कितनी ही महत्वपूर्ण क्यों न हो।" इसलिए नैसर्गिक न्याय के अतिक्रमण के अभिवाक पर आधारित विनियम

[1] [1973] 3 उम० नि० प० 1374=[1974] 1 एस० सी० ग्रार० 797.

104 के खंड (3) के विनियम के विरुद्ध की गई चुनौती को उच्च न्यायालय द्वारा सही ही अस्वीकार किया गया था।

13. उच्च न्यायालय ने मामलों के प्रथम ग्रुप में अपने निर्णय में पिटीशनरों द्वारा दी गई चुनौती के अगले दो आधारों पर विचार किया अर्थात् यह कि खंड (3) वोर्ड की विनियम विरचित करने की शक्तियों के आधिक्य में होने के कारण अधिकारातीत है और यह कि किसी भी दशा में यह अयुक्तियुक्तता के आधार पर शून्य है। चुनौती के उन दोनों आधारों की उच्च न्यायालय द्वारा पुष्टि की गई है और उनके परिणामस्वरूप विनियम 104 के खंड (3) को विद्वान न्यायमूर्तियों द्वारा अवैध अधिकारातीत और शून्य होने के कारण अभिखंडित किया गया है। दोनों पक्षकारों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई दलीलों पर सावधानी से विचार करने के पश्चात् हमने विना किसी हिचकिचाहट यह निष्कर्ष निकाला है कि उच्च न्यायालयद्वारा अपनाया गया ऐसा दृष्टिकोण पूर्णत: गलत है और चलने योग्य नहीं है।

14. हम सर्वप्रथम इस दलील पर विचार करेंगे कि विनियम 104 का खंड (3) वोर्ड के विनियम विरचित करने की शक्ति के अधिकारातीत है। पिटीशनरों द्वारा उच्च न्यायालय के समक्ष जिस मुद्दे पर जोरदार समर्थन किया गया था यह था कि उत्तर पुस्तिकाओं और अन्य दस्तावेजों के निरीक्षण या प्रकटीकरण के विरुद्ध लगाए गए प्रतिषेध और आक्षेपित खंड में की गई यह घोषणा कि वे "प्रभागीय बोर्ड द्वारा गोपनीय दस्तावेजों के रूप में समझे जाते हैं" उक्त अधिनियम के किन्हीं प्रयोजनों को पूरा नहीं करते और इस प्रकार ये उपवन्ध अधिकारतीत हैं। उच्च न्यायालय का यह मत था कि पिटीशनरों की उक्त दलील की परीक्षा उसके समक्ष पेश किए गए कतिपय अभिलेखों द्वारा प्रकट तथ्यों की इस पृष्ठभूमि में की जानी थी कि विगत में कुछ दृष्टांत सामने आए थे जहां कतिपय अयोग्य छात्र स्थान संख्या में या अन्यथा गड़बड़ी करके अन्य योग्य छात्रों की उत्तर-पुस्तिकाओं को लुप्त करने में सफल हुए थे और विनियम 104 के अधीन अनुध्यात सत्यापन प्रक्रिया द्वारा इस गलती का पता नहीं लगाया जा सका। हमारे मतानुसार उच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया यह दृष्टिकोण सही या समुचित नहीं था क्योंकि इस प्रश्न का अवधारण कि क्या कोई विशिष्ट प्रत्यायोजित विधान—चाहे वह नियम या विनियम या अन्य प्रकार का कानूनी लिखत हो—प्रत्यायुक्त (डेलीगेट) को प्रदत्त अधीनस्थ विधान की शक्ति के आधिक्य में है, मात्र नियम, विनियम इत्यादि विरचित करने की शक्ति प्रदत्त करने वाले सुसंगत कानून में अंतर्विष्ट विनिर्दिष्ट उपबंधों के और अधिनियम के ऐसे उद्देश्य और प्रयोजन के प्रति निर्देश में भी किया

जाएगा जैसा कि उस अधिनियमिति के विभिन्न उपबंधों में पाया जा सकता है। न्यायालय के लिए विधान मंडल या इसके प्रत्यायुक्त (डेलीगेट) की राय के स्थान पर स्वयं अपनी यह राय प्रतिस्थापित करना कि किस सिद्धांत या नीति द्वारा अधिनियम के उद्देश्यों और प्रयोजनों को सर्वोत्तम ढंग से पूरा किया जा सकता है और विनियम विरचित करने वाले निकाय द्वारा अधिकथित नीति की प्रभावशीलता या अन्यथा और प्रज्ञान के बारे में नुक्ताचीनी करना और मात्र इस आधार पर विनियमों को अधिकारातीत घोषित करना कि उच्च न्यायालय की दृष्टि से आक्षेपित उपबंध उक्त अधिनियम के उद्देश्य और प्रयोजन को पूरा करने में सहायक नहीं होगा, पूर्णतः गलत है। जब तक नियम या ऐसा निकाय जिसे नियम या विनियम विरचित करने का कार्य सौंपा गया है अपने प्रदत्त प्राधिकार की परिधि के भीतर इस आशय से कार्य करता है कि इसके द्वारा विरचित नियमों और विनियमों को कानून के उद्देश्य और प्रयोजन के साथ युक्तियुक्त संबंध है तब तक न्यायालय को ऐसे नियमों और विनियमों के प्रज्ञान या प्रभाव के बारे में स्वयं चिंता नहीं करनी चाहिए। यह अवधारित करना अनन्यतः विधान मंडल और उसके प्रत्यायुक्त की परिधि के भीतर है कि नीति के रूप में कानून के उपबंधों को किस प्रकार सर्वोत्तम रीति से लागू किया जा सकता है और कौन से उपाय (मूल तथा प्रक्रिया संबंधी) उक्त अधिनियम के उद्देश्यों और प्रयोजनों को प्रभावी रूप से पूरा करने के लिए नियमों और विनियमों में विनियमित किए जाएंगे। ऐसी नीति के गुण या अवगुणों की परीक्षा करना न्यायालय का कार्य नहीं है क्योंकि उसकी संवीक्षा इस प्रश्न तक सीमित की जाएगी कि क्या आक्षेपित विनियम कानून द्वारा प्रत्यायोजित विनियम विरचित करने की प्रदत्त की गई शक्ति की परिधि के भीतर आता है। यद्यपि यह विधिक स्थिति इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों द्वारा सुस्थापित है तथापि हम इस प्रश्न पर विचार करने की बाबत क्या विनियम 104 का आक्षेपित खंड (3) अधिकारातीत है, उच्च न्यायालय द्वारा अपनाये गए स्पष्टतः गलत दृष्टिकोण को देखते हुए इसे दोहराना आवश्यक समझते हैं।

15. जैसाकि हम देख चुके हैं विनियम विरचित करने की वह शक्ति उक्त अधिनियम की धारा 36 द्वारा बोर्ड को प्रदत्त की गई है। उक्त धारा की उप-धारा (1) में यह अधिकथित किया गया है कि बोर्ड अधिनियम के उपबंधों को कार्यान्वित करने के प्रयोजन के लिए विनियम विरचित कर सकता है। यद्यपि उप-धारा (2) के खंड (क) से (ढ) में अनेक विषय प्रगणित किए गए हैं जिनके लिए ऐसे विनियमों द्वारा उपबन्ध किए जा सकते हैं तथापि उपर्युक्त

प्रगणना उप-धारा (1) द्वारा प्रदत्त शक्ति की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालती। हम खण्ड (ग) (घ) (च) और (छ) उद्धृत कर चुके हैं जो कि अन्तिम परीक्षाओं के लिए अभ्यर्थियों के प्रवेश को लागू होने वाली शक्तियों, प्रभागीय बोर्डों द्वारा अन्तिम परीक्षाओं के संचालन के लिए व्यवस्था तथा परिणामों के प्रकाशन तथा परीक्षकों की नियुक्ति, अन्तिम परीक्षा इत्यादि से सम्बन्धित उनकी शक्तियों और कर्तव्यों के बारे में है। ये विषय इतने व्यापक हैं कि उनमें ऐसे अभ्यर्थियों के, जो अंतिम परीक्षा में बैठे हैं उत्तरों के मूल्यांकन पर आधारित परीक्षा के परिणामों को अंतिम रूप देने की प्रक्रिया के निर्देशन तथा अंकों के सत्यापन से संबंधित निर्बन्धनात्मक उपबंध अधिकथित करना, उत्तर-पुस्तिकाओं के प्रकटीकरण और निरीक्षण के विरुद्ध प्रतिषेध तथा मूल्यांकन के लिए किसी अधिकार या दावे से वंचित करना, सम्मिलित है। हम यह देखने में असफल रहे हैं कि किस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ये अन्तिम परीक्षा के संचालन और ऐसी परीक्षा के परिणामों के प्रश्न के अन्तर्गत आने वाले विषय नहीं हैं। इसके अतिरिक्त अधिनियम की धारा 19 में जिसमें प्रभागीय बोर्ड की शक्तियों और कर्तव्यों को उपवर्णित किया गया है, खंड (च) और (छ) में यह अधिकथित किया गया है कि बोर्ड को राज्य बोर्ड की ओर से अंतिम परीक्षा के संचालन करने की शक्ति होगी और वह अपने क्षेत्र की अधिकारिता में राज्य बोर्ड की ओर से अंतिम परीक्षा के संचालन के तथा प्रश्नपत्र तैयार करने वाले (पेपर सेटर), परीक्षकों इत्यादि की नियुक्ति के अपने क्षेत्राधिकार के भीतर अंतिम परीक्षा के संचालन के लिए, अभ्यर्थियों के प्रदर्शन के मूल्यांकन के तथा ऐसे अनुदेशों के अनुसरण में, जैसाकि राज्य बोर्ड समय-समय पर जारी कर सकता है, परिणामों के संकलन और उसे निकालने के कर्तव्याधीन होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अंतिम परीक्षा का संचालन तथा अभ्यर्थियों के प्रदर्शन का मूल्यांकन और परिणामों के संकलन और उसे निकाला जाना ये सभी राज्य बोर्ड द्वारा समय-समय पर जारी किए जाने वाले निदेशों के अनुसरण में प्रभागीय बोर्ड द्वारा किए जाएंगे। इसलिए यह स्पष्ट है कि राज्य बोर्ड को अपनी यह नीति निर्धारित करने का कर्तव्य सौंपा गया है कि किस प्रकार परीक्षाओं का संचालन किया जाएगा, किस प्रकार अभ्यर्थियों के प्रदर्शन का मूल्यांकन किया जाएगा और किस प्रक्रिया द्वारा परिणामों को अंतिम रूप दिया जाएगा, संकलित किया जाएगा और निकाला जाएगा। हमारे मतानुसार परीक्षा के संचालन से संबंधित नीति-विषयक मामले के रूप में अपने विवेकबुद्धि का प्रयोग करना और यह विनिश्चय करने के लिए बोर्ड सक्षम था बल्कि यह उसका सामान्य कर्तव्य था कि क्या अभ्यर्थियों को उत्तर-पुस्तिकाओं के प्रकटीकरण या निरीक्षण की इजाजत दी जानी चाहिए, क्या

परिणामों की घोषणा के पश्चात् सत्यापन अनुज्ञात किया जाना चाहिए और किस सीमा तक अनुज्ञात किया जाना चाहिए और क्या उत्तर-पुस्तिकाओं के पुनर्मूल्यांकन के लिए किसी दावे को मान्यता दी जानी चाहिए या उसके लिए उपबंध किया जाना चाहिए। निस्संदेह ये सभी ऐसे विषय हैं जिनका अधिनियमिति के उद्देश्यों और प्रयोजनों से गहरा सम्बन्ध है और इसलिए धारा 36 की उप-धारा (1) के अधीन विनियम विरचित करने की साधारण शक्ति की परिधि के भीतर है। इसके अतिरिक्त ये विषय उक्त धारा की उप-धारा (2) के खंड (ग) (च) और (छ) के भीतर आते हैं। इसलिए उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए मत को सही होने के रूप स्वीकार करना संभव नहीं है कि विनियम 104 का खण्ड (3) बोर्ड को प्रदत्त विनियम विरचित करने के शक्ति के आधिक्य में होने के आधार पर अधिकारातीत है। स्वतः इस विचारणा तक सीमित करने के बजाय कि क्या आक्षेपित विनियम कानून की परिधि के भीतर और विशिष्टतया उसकी धारा 36 की परिधि के भीतर आते हैं जिसमें विनियम विरचित करने की शक्ति प्रदत्त की गई है, उच्च न्यायालय ने इस बारे में अन्वेषण प्रारम्भ किया कि क्या विनियम 104 के आक्षेपित खंड (3) द्वारा उत्तर-पुस्तिकाओं और अन्य दस्तावेजों के प्रकटीकरण और निरीक्षण के विरुद्ध अधिरोपित प्रतिषेध व्यवहार में परीक्षा की बाबत ईमानदारी सुनिश्चित करते हुए उक्त अधिनियम के प्रयोजन को प्रभावी रूप से पूरा करेगा। उच्च न्यायालय का यह मत था कि इस प्रश्न का विनिश्चय करने के लिए कि क्या आक्षेपित खंड अधिकारातीत था उच्च न्यायालय को उन सुस्पष्ट कमियों जो ऐसी गलतियों को रोकने के लिए जो कि प्रतिशपथपत्र में ब्यौरेवार दी गई थीं, किए गए व्यापक एहतियाती उपायों के बावजूद कार्यपद्धति में विद्यमान थीं, और परीक्षार्थियों के भविष्य पर उक्त कमियों के दूरगामी प्रभाव" पर ध्यान देना होगा और उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि "अधिनियम के या परीक्षा के प्रयोजन के बीच इसके संबंध या अभाव का तथा आक्षेपित खण्ड में निरीक्षण के विरुद्ध प्रतिषेध का पता केवल इन तथ्यों के प्रति निर्देश से ही लगाया जा सकता है।" तब उच्च न्यायालय ने यह भी मत व्यक्त किया—

> "परीक्षार्थी ऐसा व्यक्ति है जिस पर जोड़ों की गलत गणना द्वारा, किसी उत्तर की परीक्षा करने में हुए लोपों द्वारा, अनुपूरक उत्तर पुस्तिकाओं के गलत ढंग से रखे जाने के द्वारा या किसी रीति में उक्त अभिलेख यदि कोई है, में गड़बड़ी द्वारा प्रभाव पड़ा है। प्रतिकूल परिणाम से उस पद्धति में संभाव्य त्रुटि के बारे में उसके मस्तिष्क में संदेह उत्पन्न होता है और इस पृष्ठभूमि में निरीक्षण के लिए उसका

दावा अवश्य ही युक्तियुक्त माना जाना चाहिए और परीक्षा के प्रयोजनों को उपयोगी बनाने के लिए विचार किया जाना चाहिए तथा अधिनियम के सम्पूर्ण प्रयोजनों के लिए भी उपयोगी विचार किया जाना चाहिए। इससे यह संदेह सत्यापित करने के लिए वह समर्थ हो जाता है कि क्या उसका संदेह दोषपूर्ण है या सुआधारित है। एकमात्र कतिपय अविभावी तथ्यों की विद्यमान्यता उसके दावे से वंचित किया जाना न्यायोचित ठहरा सकती हैं।

उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित उल्लेख करते हुए विचार-विमर्श समाप्त किया "ऐसी गोपनीयता को एकमात्र इसलिए अधिनियम के किसी प्रयोजन को पूरा करने वाला नहीं समझा जा सकता क्योंकि विगत में चुपचाप या बिना किसी चुनौती के स्वीकार किया गया था। श्री शीतल वाद के अनुसार इन दस्तावेजों को गोपनीय समझे जाने का प्रधिकार स्वयं परीक्षा लेने की शक्ति में ही विवक्षित है क्योंकि इस प्रक्रिया को प्रभावी रूप से पूरा करना सुनिश्चित किया जाना आवश्यक है। यह कथन इतना व्यापक है कि इसकी संवीक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। बहरहाल, ऐसी कोई शक्ति तब तक विवक्षित नहीं की जा सकती जब तक कि प्रश्नपत्रों और प्रश्न बनाने वाले और परीक्षकों के नाम निश्चित प्रक्रम तक गोपनीय समझे जाने की अपरि-हार्यता को सुगमतापूर्वक महत्व नहीं दिया जाता। उनका समय पूर्व प्रकट किया जाना या अभिदर्शित किया जाना परीक्षा के प्रयोजन को विफल कर सकता है और इसकी संकल्पना ही मजाक बन सकती है। बहरहाल, परिणामों की घोषणा के पश्चात् जो भी हो इन्हें गोपनीय बनाये रखे जाने का कोई प्रयोजन कठिन प्रतीत होता है।"

16. हमारे मतानुसार पूर्वोक्त दृष्टिकोण जो उच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया है पूर्णतः गलत और भ्रामक है। न्यायालय विधानमण्डल द्वारा और विनियम विरचित करने वाले अधीनस्थ निकाय द्वारा प्रस्तुत नीति प्रज्ञान की नुक्ताचीनी नहीं कर सकता। यह बुद्धिमतापूर्ण नीति हो सकती है जो अधिनियमन के प्रयोजन को पूर्णतः कार्यान्वित करेगी या हो सकता है यह प्रभावी न हो और इस प्रकार इसमें पुनरीक्षण या सुधार की आवश्यकता हो। किन्तु नियम या विनिमय में विशेषित नीति में की कोई कमी इसे अधिकारातीत नहीं बनायेगी और न्यायालय इसे इस आधार पर विखंडित नहीं कर सकता कि उसकी राय में यह बुद्धिमतापूर्ण या विवेकपूर्ण नीति नहीं है बल्कि मूर्खतापूर्ण नीति है और यह कि वस्तुतः यह अधिनियम के प्रयोजनों को प्रभावी नहीं करेगी।

विधानमण्डल और इसके प्रत्यायुक्त (डेलीगेट) यह विनिश्चय करने की शक्ति का एकमात्र स्रोत है कि अधिनियम के अंतर्गत आने वाले विषयों के संबंध में किस नीति का पालन किया जाना चाहिए और न्यायालय द्वारा इसमें हस्तक्षेप करने की कोई गुंजाइश नहीं है जब तक कि कोई विशिष्ट उपबन्ध जिसे इसके समक्ष आक्षेपित किया गया है, के बारे में इस अर्थ में किसी विधिक कमी से ग्रसित होना नहीं कहा जा सकता कि यह विनियम विरचित करने की शक्ति की परिधि से पूर्णतः बाहर है या यह मूल अधिनियम के उपबन्धों में से किसी के असंगत है या संविधान द्वारा अधिरोपित सीमाओं में से किसी के अतिक्रामक है। दूषक बातों में से कोई भी प्रस्तुत मामले में दर्शित नहीं की गई हैं और इस प्रकार विनियम 104 के खण्ड (3) में अंतर्विष्ट उपबन्ध को बोर्ड को प्रदत्त विनियम विरचित करने की शक्ति के आधिक्य में होने के आधार पर अधिकारातीत होने के रूप में अविधिमान्य करने के लिए न्यायालय को कोई गुंजाइश नहीं थी। हमारे मतानुसार अयुक्तियुक्त होने के रूप में विनियम 104 के खण्ड(3) को विखंडित करने के लिए उच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया अलग और अन्तिम आधार उसी प्रकार न चलने योग्य है, अर्थात यह कि यह उप-विधि की प्रकृति का है और अयुक्तियुक्त उपबंध होने के आधार पर अधिकारातीत है। अधिनियम की स्कीम से और विशिष्टतया धारा 17, 19 और 34 से यह स्पष्ट है कि विधानमण्डल ने राज्य में माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा से संबंधित विषयों को विनियमित करने के लिए राज्य और प्रभागीय बोर्डों की स्थापना के लिए उपबंध करने हेतु अपनी नीति व्यापक निबंधनों में अधिकथित की है और राज्य सरकार को इस बात के लिए प्राधिकृत किया है और उसने विनियमों को विरचित करके अधिनियम के प्रयोजनों को प्रभावी करने के लिए ब्यौरेवार प्रस्तुत करने हेतु आरम्भ में राज्य सरकार को तथा तत्पश्चात् बोर्ड को प्राधिकृत किया है, यह सामान्य विधायी प्रक्रिया है कि विधान मण्डल केवल साधारण नीति अधिकथित करने का चयन कर सकता है और उक्त नीति को प्रभावी करने के लिए ब्यौरेवार उपबन्ध विरचित करने के लिए तथा ऐसे नियम/विनियम जो अधिकथित विधान की प्रकृति के हैं, विरचित करके कानून के प्रयोजनों को प्रभावी करने के लिए अपने प्रत्यायुक्तों (डेलिगेट्स) पर छोड़ सकता है। बाम्बे जनरल क्लाज ऐक्ट, 1904 की धारा 3(39) जिसमें "नियम" पद परिभाषित किया गया है जिसमें यह कथन किया गया है "नियम से किसी अधिनियमिति के अधीन शक्ति के प्रयोग में विरचित नियम अभिप्रेत होगा और किसी नियम या किसी अधिनियमित के अधीन विरचित कोई विनियम सम्मिलित होगा"। यह उल्लेख करना

महत्वपूर्ण है कि उपविधियां विरचित करने की सुभिन्न शक्ति अधिनियम द्वारा धारा 38 के अधीन राज्य को प्रदत्त की गई है। इस प्रकार विधानमंडल ने प्रश्नगत कानून में "उपविधियां" और "विनियम" के बीच स्पष्ट प्रभेद बनाए रखा है। धारा 38 के अधीन विरचित की जाने वाली उपविधियां राज्य बोर्ड, प्रभागीय बोर्ड और समिति की बैठकें करने, अपेक्षित गणपूर्ति (कोरम) इत्यादि से संबंधित प्रक्रिया संबंधी विषयों से ही सम्बन्धित हैं। पक्षकारों के अधिकारों पर प्रभाव डालने वाले (अधिक महत्वपूर्ण विषयों) और वह रीति अधिकथित करने वाले अधिक महत्वपूर्ण विषय जिनमें अधिनियम के उपबन्ध क्रियान्वित किए जायेंगे धारा 36 के अधीन विरचित विनियमों द्वारा उपबंधित किए जाने के लिए आरक्षित है। विधानमण्डल को, धारा 36 और 38 अधिनिमित करते हुए ऐसे नियम विनियम और उपविधियों के बीच प्रभेद की बाबत लागू होने वाली विधिक स्थति की बारीकियों से पूर्णतः अवगत होना आवश्यक है। जब कानून में स्पष्ट संकेत अंतर्विष्ट है कि धारा 36 के अधीन प्रदत्त विनियम विरचित करने की सुभिन्न शक्ति मात्र उपविधियां विरचित करने की शक्ति के रूप में आशयित नहीं थी तब उसकी अवज्ञा करना न्यायालय का अधिकार नहीं है तथा धारा 36 के अधीन विरचित विनियमों को युक्तियुक्तता की कसौटी लागू करके उन्हें न्याय्यता की परिधि के भीतर लाने के लिए मात्र उपविधियों के रूप में समझे जाने का अधिकार नहीं है।

17. इस सन्दर्भ में उस निकाय की प्रकृति और उसके गठन का उल्लेख करना भी सुसंगत है जिसे अधिनियम द्वारा विनियम विरचित करने की शक्ति प्रदत्त की गई है। राज्य बोर्ड के गठन को धारा 5 में उपवर्णित किया गया है। उससे यह दर्शित होता है कि बोर्ड में शिक्षा निदेशक राज्य सरकार, निदेशक, उच्चतर शिक्षा राज्य सरकार, प्रभागीय बोर्ड का अध्यक्ष, निदेशक राज्य तकनीकी शिक्षा, कृषि निदेशक, निदेशक राज्य शिक्षा संस्थान (डाइरेक्टर आफ स्टेट इंस्टीट्यूट आफ एजूकेशन) के पदेन सदस्य होंगे। इसके पश्चात् निर्वाचित सदस्यों का वर्ग है जिसमें राज्य में प्रत्येक विश्वविद्यालय का एक प्रतिनिधि होगा जो उस विश्वविद्यालय की विद्या परिषद् द्वारा निर्वाचित होगा। महाराष्ट्र विधान मण्डल द्वारा उसके सदस्यों में से निर्वाचित दो सदस्य तथा महाराष्ट्र विधान-परिषद द्वारा उसके सदस्यों द्वारा निर्वाचित एक सदस्य होगा। इसके पश्चात् उस धारा में खंड(ग) के अधीन खंड(i) से (v) में विहित पांच विभिन्न प्रवर्गों के अन्तर्गत आने वाले नाम निर्देशित सदस्य का प्रवर्ग आता है, जो कुल मिलाकर 21 हैं। इन खंडों में यह देखा जा सकता है कि ये नाम निर्देशित सदस्य कनिष्ठ महाविद्यालयों और माध्यमिक विद्यालयों के

प्रधानाचार्यों, प्रधान अध्यापकों, प्रधान अध्यापिकाओं, शिक्षकों, माध्यमिक विद्यालयों और कनिष्ठ महाविद्यालयों के प्रवन्ध निकायों के प्रतिनिधियों, प्राथमिक, माध्यमिक या उच्चतर माध्यमिक शिक्षा से संबंधित विषयों में विशेप या व्यावहारिक अनुभव रखने वाले व्यक्तियों में से लिए जाते हैं। इस प्रकार राज्य बोर्ड में ऐसे सदस्य होंगे जिनमें युक्तियुक्त रूप से शिक्षा (विद्यालय और महाविद्यालय) के क्षेत्र से सम्बन्धित सभी विषयों में अधिक जानकारी, व्यावहारिक ज्ञान, सुविज्ञता और अनुभव होना प्रत्याशित है और ऐसे वृत्तिक व्यक्तियों के अधिक दायित्व वाले निकाय को विधान-मण्डल ने अधिनियम के उपबन्धों को परखने की विस्तृत नीति अधिकथिक करते हुए विनियम विरचित करने का कार्य सौंपा है जिसे क्रियान्वित किया जाता है। धारा 37(1) में यह अधिकथित किया गया है कि सर्वप्रथम राज्य सरकार द्वारा विनियम विरचित किए जाएंगे और वे तब तक प्रवृत्त रहेंगे जब तक कि धारा 36 के अधीन बोर्ड द्वारा नए विनियम विरचित नहीं कर दिए जाते। धारा 36 की उपधारा 3 में अतिरिक्त रक्षोपाय का उपबन्ध किया गया है कि उस धारा के अधीन विरचित किसी भी विनियम का कोई प्रभाव नहीं होगा जब तक कि उसे राज्य सरकार द्वारा मंजूरी नहीं दी गई हो। धारा 37 की उपधारा (2) में अंतर्विष्ट उपबंध भी अधिक महत्वपूर्ण है जिसमें राज्य सरकार को धारा 36 में निर्दिष्ट किन्हीं विषयों के बारे में कोई नया विनियम विरचित करने और उसके द्वारा राज्य बोर्ड द्वारा विरचित विनियमों को पूर्णतः या भागतः उपान्तरित या रद्द करने की समवर्ती शक्ति प्रदत्त की गई है। उक्त उपधारा निम्नलिखित निबन्धनों में है—

> *"37(2) यदि राज्य सरकार को किसी समय यह प्रतीत होता है कि धारा 36 में निर्दिष्ट किन्हीं विषयों के बारे में कोई नया विनियम विरचित करना समीचीन है या उप-धारा(1) में निर्दिष्ट या धारा 36 के अधीन राज्य बोर्ड द्वारा विरचित कोई विनियम पूर्णतः या भागतः उपान्तरित या रद्द किया जाना आवश्यक है तो राज्य सरकार, राज्य बोर्ड से परामर्श करने के पश्चात् तथा राज-पत्र में अधिसूचना

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

> "37 (2) If it shall at any time appear to the State Government that it is expedient to make any new regulations in respect of any of the matters referred to in Section 36 or that any regulations in respect of any of the matters referred to in Section 36 or that any regulations referred to in sub section(1) or made by

द्वारा ऐसे विनियम विरचित कर सकती है या ऐसे किसी विनियम को पूर्णतः या भागतः उपान्तरित या रद्द कर सकती है। इस प्रकार विरचित, उपांतरित या रद्द किए गए विनियम उस तारीख से प्रभावी होंगे जिसे राज्य सरकार ऐसी अधिसूचना में विनिर्दिष्ट कर सकती है या यदि ऐसी कोई तारीख विनिर्दिष्ट नहीं की जाती, तो राजपत्र में उक्त अधिसूचना के प्रकाशन की तारीख से, सिवाय ऐसी तारीख से पूर्व की गई या नहीं की गई किसी बात के सम्बन्ध में।"

हमारे मतानुसार ऐसे विनियम के सही स्वरूप से सम्बन्धित जिसे धारा 36 के अधीन या धारा 37 की उप-धारा (1) या (2) के उपबंधों के अधीन विरचित किया जाना है, विधान मंडल के आशय का स्पष्ट संकेत नहीं हो सकता, अर्थात् यह कि (विनियम) अधीनस्थ विधान की प्रकृति के हैं जिन्हें ऐसे कानून उपबंधों को प्रवर्धित करते हुए और अनुरूप बनाते हुए यह अधिकथित किया गया है कि किस प्रकार विधायी नीति विभिन्न परिस्थितियों के संबंध में जो कानून के उद्देश्य और प्रयोजनों को कार्यान्वित किए जाने के दौरान उत्पन्न हो सकती हैं प्रभावी किए जाने हैं। इस पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखते हुए बिना किसी हिचकिचाहट के हमारा यह मत है कि धारा 36 के अधीन वोर्ड द्वारा विरचित विनियम कानूनी नियम की प्रकृति के हैं और इन्हें विधान-मण्डल द्वारा इस निमित्त सम्यक् रूप से सशक्त प्रत्यायुक्त द्वारा विरचित अधीनस्थ विधान का पूर्ण ओज और वल प्राप्त है। अपने इस निष्कर्ष के समर्थन में कि धारा 36 के अधीन विरचित विनियम मात्र उपविधियों के स्वरूप वाले हैं, उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ ने **सोफी कैली** बनाम **राज्य**[1] वाले मामले में उसी

---

the State Board under Section 36 need to be modified or repealed, either wholly or in part, the State Government may after consultation with the State Board and by notification in the official Gazette, make such regulations or modify or repeal any such regulations, either wholly or in part. The regulations so made, modified or repealed shall take effect from such date as the State Government may in such notification specify or in no such date is specified, from the date of publication of the said notification in the official Gazette, except as respects anything done or omitted to be done before such date."

---

[1] 69 बाम्बे एल० आर० आर० 186=1968 ए० आई० आर० मुम्बई 156.

न्यायालय के पूर्वतर विनिर्णय का दृढ़ता से अवलम्ब लिया जहां एक अन्य खंड न्यायपीठ ने यह दृष्टिकोण अपनाया है कि अधिनियम की धारा 36 के अधीन विरचित पूर्व विनियम मात्र उपविधियों की प्रकृति के हैं। उक्त निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायालय ने हमारे द्वारा पूर्ववर्ती पैराओं में बनाए अधिकांश महत्वपूर्ण पहलुओं का उल्लेख नहीं किया है। हम उक्त विनिश्चय को सही विधि अधिकथन करने वाला होने के रूप में स्वीकार करने में असमर्थ हैं।

18. हमने जो कुछ उल्लेख किया है उसे देखते हुए आक्षेपित विनियम की संवैधानिकता का केवल 3 कसौटियों द्वारा न्यायनिर्णयन किया जा सकता है, अर्थात् (1) क्या ऐसे विनियमों के उपबंध कानून द्वारा प्रत्यायुक्त को प्रदत्त शक्ति की परिधि और व्याप्ति के भीतर आते हैं ; (2) क्या प्रत्यायुक्त द्वारा विरचित नियम विनियम मूल अधिनियमिति के उपबंधों से किसी सीमा तक असंगत है और अन्ततः (3) क्या वे संविधान द्वारा अधिरोपित मूल अधिकारों या अन्य निर्बन्धनों या सीमाओं में से किसी का अतिलंघन करते हैं। हम पहले ही यह अभिनिर्धारित कर चुके हैं कि उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करके भूल की थी कि विनियम 104 के खंड (3) के उपबंध अधिनियम के उपबंधों को क्रियान्वित करने के प्रयोजन को पूरा नहीं करते और धारा 36 द्वारा प्रदत्त विनियम विरचित करने की शक्ति के आधिक्य में होने के आधार पर अधिकारातीत हैं। उच्च न्यायालय के समक्ष रिट पिटीशनरों का पक्षकथन यह नहीं था कि विनियमों के आक्षेपित खण्ड द्वितीय और तृतीय कसौटियों के लागू किए जाने पर अविधिमान्य किए जाने के दायी थे। इस दलील के अतिरिक्त कि आक्षेपित विनियम धारा 36(1) के अधीन प्रदत्त शक्ति के अधिकारातीत थे, एकमात्र इस मुद्दे पर बल दिया गया था कि वे उपविधियों की प्रकृति के थे और अयुक्तियुक्तता के आधार पर विखण्डित किए जाने के दायी थे।

19. हमारे द्वारा निकाले गए इस निष्कर्ष को दृष्टि में रखते हुए कि इन विनियमों को मात्र उपविधियों के रूप में नहीं समझा जा सकता अभिकथित अयुक्तियुक्तता पर दी गई दलील पर वस्तुतः विचार करने की आवश्यकता नहीं है। बहरहाल, चूंकि उच्च न्यायालय में अपने इन दो निर्णयों में उक्त पहलुओं पर विस्तार से विचार-विमर्श किया है और दोनों पक्षकारों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् अधिवक्ताओं द्वारा हमारे समक्ष विस्तृत रूप से दलील दी गई थी इसलिए हम केवल यही उचित और समुचित समझते हैं कि हमें आक्षेपित विनियम की युक्तियुक्तता से संबंधित प्रश्न के गुणागुण पर सक्षेप

में अपने मत व्यक्त करने चाहिए। वह कारण, जो यह घोषित करने के लिए उच्च न्यायालय को प्रभावित करता है कि विनियम 104 का खण्ड (3) जिसमें यह उल्लेख किया गया है कोई भी अभ्यर्थी उत्तरपुस्तिकाओं और अन्य सम्बन्धित दस्तावेजों के प्रकटीकरण और निरीक्षण का दावा करने के लिए हकदार नहीं होना चाहिए और यह कि इन्हें गोपनीय समझा जाएगा अयुक्तियुक्तता के दोष से ग्रस्त है, यह है कि प्रकटीकरण और निरीक्षण के अधिकार से वंचित किया जाना उसी खंड के उप-खंड (1) के अधीन परीक्षार्थियों को प्रदत्त सत्यापन के अधिकार और विनियम 102 के उप-खंड (2) से उत्पन्न होने वाले उस अधिकार को विफल करने वाला है जिसके द्वारा प्रभागीय बोर्ड को जहां उसे यह प्रतीत होता है कि परिणाम पर त्रुटि अनाचार, कपट इत्यादि का प्रभाव पड़ा है किसी परीक्षा में किसी अभ्यर्थी के परिणाम में संशोधन करने की शक्ति दी गई है। इस पहलू पर विचार करते हुए उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय के पैरा 46 और 47 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया—

"बहरहाल हम यह नहीं समझते कि निरीक्षण के लिए किसी निश्चायक उपबंध का अभाव मात्र परीक्षार्थियों के दावे का निश्चायक हो सकता है। स्वयं बोर्ड को अपनी पद्धति की भ्रमशीलता और अनवधानता की संभावना या जानबूझ कर की गई ग़लती और अनाचार की संभावना का भान है। इसलिए उसने विनियम 102 और 104 में ऐसी गलतियों के विरुद्ध सुधार का उपबंध किया है। इन विनियमों के अधीन प्रदत्त सत्यापन का अधिकार और परिणामों के सुधार की शक्ति प्रभावी होने के लिए आशयित होने की धारणा किया जाना आवश्यक है। बहरहाल, कुछ वर्षों के अनुभव से इस पद्धति के कार्य करने में अनेक कमियां प्रकट हुई हैं और उससे यह प्रदर्शित हुआ है कि किस प्रकार सत्यापन की उक्त पद्धति और सुधार करने की शक्ति निष्प्रभावी हो सकती हैं। बोर्ड के प्रशासन पर सम्पूर्ण अवलम्ब भले ही वह उन कृत्यों का अनुसचिवीय भाग हो, इन उपबंधों को अप्रचलित (विधि) बना सकता है। इन अधिकारों और शक्तियों को परीक्षार्थी को प्रश्नपत्रों (पेपर्स) का स्वयं निरीक्षण के लिए समर्थ बना कर बेहतर रूप से प्रभावशील बनाया जा सकता है। वस्तुतः ऐसा अधिकार सत्यापन के अधिकार में विवक्षित है। विनियम 104 और 102 के अधीन अनुध्यात गलतियां दूर करने और परिणाम में संशोधन करने की शक्ति में ऐसी गलतियां और अनाचार का पता लगाना सुकर बनाने की बाध्यता भी विवक्षित है और उनका पता लगाने के लिए

प्रभावी मशीनरी का उपबंध भी किया गया है । इसके अंतर्गत ऐसे हितबद्ध व्यक्ति अर्थात् परीक्षार्थी के लिए उत्तर पत्रों का निरीक्षण करने देने की बाध्यता भी विवक्षित है । किसी एक व्यक्ति द्वारा लिखे गये प्रश्नपत्रों/पेपर्स को किसी दूसरे व्यक्ति के रूप में देने में अंतर्वलित अनाचार और छलसाधन और गड़बड़ी और कपट का पता प्रभावी रूप से तब तक नहीं लगाया जा सकता और उसका उपचार नहीं किया जा सकता जब तक कि अन्य व्यक्तियों के अतिरिक्त स्वयं परीक्षार्थी उत्तरपुस्तिकाओं का निरीक्षण करने के लिए समर्थ नहीं हो जाता । यह बात किसी परीक्षार्थी की उपस्थिति या अनुपस्थिति से संबंधित दावे के सत्यापन के लिए भी अपरिहार्य है । इस प्रकार निरीक्षण का अधिकार सत्यापन के अधिकार का और विनियम 102 और 104 में यथा विवक्षित गलतियों का पता लगाने और उसे सही करने की बाध्यता का अभिन्न भाग है । विवक्षित शक्ति और बाध्यता तथा अधिकार और कर्तव्य का सिद्धांत निश्चायक उपबंध के अभाव को पूरा करता है ।

47. यह सही है कि निरीक्षण करने का ऐसा अधिकार भारत में परीक्षा की किसी पद्धति के अधीन मान्यताप्राप्त प्रतीत नहीं होता और इसकी मान्यता वर्षों से अपनाई जाने वाली पद्धति और धारणा को अव्यवस्थित करने के लिए आबद्ध है । इस विनिश्चय का प्रभाव बोर्ड या विश्वविद्यालयों द्वारा अनुध्यात क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य अनेक क्षेत्रों में परीक्षा पर पड़ना निश्चित है । प्रशासन पर भी इसके परिणाम दूरगामी होंगे जिससे कतिपय अतिरिक्त मशीनरी स्थापित करना अनिवार्य हो जाएगा और वह अधिक समय लगाने वाला और महंगा साबित हो सकता है बहरहाल, हमें यह प्रतीत होता है निरीक्षण का ऐसा अधिकार परीक्षा के अधिकथित प्रयोजना को प्रभावी बनाने के लिए अब अपरिहार्य हो गया है । इसलिए हमें इनमें से कोई भी विचारणा सुसंगत प्रतीत नहीं होती ।"

20. हम यह समझते हैं कि उच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया उपर्युक्त दृष्टिकोण पूर्णतः भ्रामक है और निर्वचन के इस सुस्थापित सिद्धांत का अनुसरण करने में उसकी विफलता द्वारा दूषित है कि कानूनी अधिनिमित या उसके अधीन विरचित नियमों/विनियमों में अंतर्विष्ट उपबंधों का अर्थान्वयन ऐसे किया जाएगा जिससे कि एक दूसरे के साथ सामंजस्य हो सके और यह कि जहां किसी विनिर्दिष्ट धारा या नियम के अधीन किसी विशिष्ट विषय पर विशेष उपबंध रूप से विचार किया गया है वहां ऐसा विशेष उपबंध

ऐसे किसी साधारणतः उपबंध का लागू किया जाना अपवर्जित करेगा जो अन्यथा उक्त विषय के अंतर्गत आता हो। विनियम 102 (2), यदि उसका उस परिस्थिति में समुचित रूप से अर्थान्वयन किया जाता है जिसमें यह घटित होती है तो वह यह समझे जाने पर किसी अभ्यर्थी या अभ्यर्थियों के बारे में परीक्षा के परिणाम में संशोधन करने के लिए प्रभागीय बोर्ड को स्वप्रेणया शक्ति प्रदत्त करता है कि ऐसे परिणाम पर गलती, अनाचार कपट, अनुचित आचरण इत्यादि का प्रभाव पड़ा है। इस संदर्भ में उक्त उपबंध में निर्दिष्ट "गलती" को अनाचार, कपट, अनुचित आचरण या उसी प्रकार के अन्य विषय, चाहे वह किसी प्रकृति का हो, के परिणामस्वरूप होने वाली गलती तक सीमित होने के रूप में समझा जाएगा। हम यह समझने में असमर्थ हैं कि यह उपबंध परीक्षार्थी को अपनी उत्तर-पुस्तिकाओं या अन्य संबंधित दस्तावेजों के प्रकटीकरण, निरीक्षण या सत्यापन करने की मांग करने का कोई अधिकार प्रदत्त करने वाला है। वहरहाल, इस विषय के संबंध में संदेह या अटकलबाजी की सभी गुंजाइशें विनियम 104 में अंतर्विष्ट उपबंध द्वारा दूर कर दी गई हैं जो (विनियम 104) विनिर्दिष्टतः अभ्यर्थी द्वारा प्राप्त अंकों के सत्यापन के विषय में है। उक्त विनियम के खंड (1) में यह उल्लेख किया गया है कि ऐसा कोई अभ्यर्थी जो एच० एस० सी० परीक्षा में बैठा है विशिष्टतया किसी विषय में अंकों के सत्यापन के लिए प्रभागीय सचिव को निवेदन कर सकता है किन्तु ऐसा सत्यापन मात्र यह जांच करने तक निर्बन्धित होगा कि क्या सभी उत्तरों की परीक्षा की गयी है और क्या उस विषय में अंकों का जोड़ निकालने में या उत्तर-पुस्तिका के प्रथम आवरण पृष्ठ पर अंकों को सही-सही स्थानान्तरित करने में कोई भूल की गई है और क्या उत्तरपुस्तिकाओं से संलग्न परिशिष्ट जैसा कि अभ्यर्थियों द्वारा उल्लेख किया गया है, यथावत हैं। उक्त विनियम के खंड (3) में यह भी परिसीमा अधिरोपित की गई है कि कोई भी अभ्यर्थी अपनी उत्तरपुस्तिका के पुनर्मूल्यांकन का या उत्तरपुस्तिका या अन्य दस्तावेजों के प्रकटीकरण या निरीक्षण का दावा नहीं करेगा या दावा करने का हकदार नहीं होगा क्योंकि इन्हें प्रभागीय बोर्ड द्वारा अत्यन्त गोपनीय समझा गया है। यह स्पष्ट है कि खंड (1) और (3) को एक साथ पढ़ना होगा और दोनों को पृथक करके नहीं, जैसा कि प्रगटतः उच्च न्यायालय द्वारा किया गया है। खंड(1) द्वारा प्रदत्त सत्यापन का अधिकार उसी खंड में अंतर्विष्ट इस परिसीमा के अध्यधीन है कि उत्तरपुस्तिकाओं या अतिरिक्त उत्तरपुस्काओं/परिशिष्ट का पुनर्मूल्यांकन नहीं किया जायेगा और उत्तरपुस्तिकाओं के प्रकटीकरण या निरीक्षण पर प्रतिषेध लगाते हुए खंड (3) द्वारा और निर्बन्धन

अधिरोपित किया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय ने खंड(3) के अंतिम भाग का अर्थान्वयन यह विवक्षित करने के रूप में किया है कि उत्तरपुस्तिकाओं की गोपनीयता प्रभागीय बोर्ड के कतिपय आदेशों द्वारा घोषित की जाएगी और वह यह अभिनिर्धारित करने के लिए अग्रसर हुआ कि चूंकि न्यायालय की जानकारी में ऐसा कोई आदेश नहीं लाया गया था इसलिए उत्तरपुस्किाओं को गोपनीय समझने के लिए कोई आधार नहीं था। हमारे मतानुसार खंड (3) के अंतिम शब्दों का निर्वचन गलत है । उसमें मात्र यह अधिकथित किया गया है कि उत्तरपुस्तिकाओं और अन्य दस्तावेजों को प्रभागीय बोर्ड द्वारा अत्यन्त गोपनीय समझा जायेगा । अन्य शब्दों में विनियम के इस खंड में उत्तरपुस्तिकाओं और दस्तावेजों को गोपनीय समझने के लिए प्रभागीय बोर्ड के लिए आदेश अंतर्विष्ट है ओर इसमें यह अधिकथित किया गया है कि कोई भी अभ्यर्थी उक्त गोपनीय पुस्तिकाओं और दस्तावेजों के प्रकटीकरण या सत्यापन का दावा करने के लिए हकदार नहीं होगा । हमारी यह भी राय है कि उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने के प्रयोजन के लिए विवक्षित शक्ति और बाध्यता के सिद्धांत का अवलम्ब लेकर भूल की है कि चूंकि सत्यापन का अधिकार विनियम 104 के खंड (1) द्वारा प्रदत्त किया गया है इसलिए प्रकटीकरण और निरीक्षण की मांग करने की परीक्षार्थियों में विवक्षित शक्ति है और ऐसी मांग को स्वीकार करने की बोर्ड के पक्ष में समरूपी विवक्षित बाध्यता है । ऐसी किसी विवक्षित शक्ति का अवलम्ब लेने की या विनियम बनाने वाले प्राधिकारी में विवक्षा द्वारा ऐसी शक्ति प्रदत्त करने आशय अधिरोपित करने की बिल्कुल कोई गुंजाइश नहीं है जब कि उसी विनियम खंड (3) में अभिव्यक्त उपबंध अर्तविष्ट है जो स्पष्ट रूप से प्रतिकूल आशय प्रकट करती है और सुस्पष्ट शब्दों में यह कथन करता है कि उत्तरपुस्तिकाओं के प्रकटीकरण या निरीक्षण के लिए कोई दावा नहीं किया जायेगा या कोई हकदार नहीं होगा ।

21. अब विधिक स्थिति सुस्थापित है कि उपविधि भी मात्र अयुक्तियुक्तता के आधार पर न्यायालय द्वारा मात्र इसलिए विखंडित नहीं की जा सकती कि वह यह समझता है कि यह जितना आवश्यक है उससे आगे जाता है या यह कि वह कतिपय ऐसे उपबंधों को विशेषित नहीं करता जोकि न्यायालय की राय में ऋजु और पूर्ण हो । न्यायालय यह नहीं कह सकता कि उपविधि मात्र इसलिए अयुक्तियुक्त है कि न्यायाधीश इसका अनुमोदन नहीं करते । जब तक कि यह नहीं कहा जा सकता कि उपविधि प्रकटतः अनुचित, चंचल असाम्यिक या आंशिक प्रवर्तन वाला है, तब तक इसे अयुक्तियुक्तता के

आधार पर न्यायालय द्वारा अविधिमान्य नहीं किया जा सकता। उत्तरदायी प्रतिनिधि निकाय के बारे में जिसे उपविधियां बनाने की शक्ति सौंपी गई है साधारणतया यह धारणा की जानी आवश्यक है कि उसे इस बात की जानकारी है कि क्या आवश्यक युक्तियुक्त, न्याय और ऋजु है। इस संबंध में **क्रुस बनाम जानसन**[1] वाले मामले में किलोविन के लार्ड रसेल के बहुधा उद्धृत किये जाने वाले निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों को उपयोगिता की दृष्टि से उद्धृत किया जा सकता है—

> "जब न्यायालय से ऐसे प्रतिनिधि निकायों की उपविधियों पर विचार करने की अपेक्षा की जाती है जिन्हें पर्याप्त प्राधिकार प्राप्त है, और जिनसे कतिपय नियंत्रण और सुरक्षोपाय जुड़े हुए हैं, जिनका मैं वर्णन कर चुका हूं तब मैं यह समझता हूं कि ऐसी उपविधियों की विचारणा भिन्न दृष्टिकोण से की जानी चाहिए। यदि संभव हो तो उनका समर्थन किया जाना चाहिए जैसा कि कहा गया है उनका निर्वचन सद्भावपूर्वक किया जाना चाहिए जैसा कि कहा गया है, और उसका श्रेय उन्हें दिया जाना चाहिए जिन्हें यह प्रबंध करना है कि वे उसका युक्तियुक्तरूप से प्रबंध करेंगे।
>
> विद्वान् मु० न्या० ने यह भी मत व्यक्त किया कि ऐसे मामले भी हो सकते हैं जिनमें ऐसे प्राधिकार के अधीन बनाई गई उपविधियों की भर्त्सना करना न्यायालय का कर्तव्य होगा क्योंकि अयुक्तयुक्त होने के कारण उन्हें (काउन्टी कौंसिल द्वारा) अविधिमान्य किया गया था। किन्तु किस अर्थ में अयुक्तियुक्त ? यदि उदाहरण के लिए उनको विभिन्न वर्गों के बीच लागू किया जाता है तो वे पक्षपातपूर्ण और असमान पाई जाती हैं, यदि वे प्रकटतः अनुचित थी, यदि उनसे असद्भाव प्रकट होता है, यदि उनके द्वारा उन लोगों के अधिकारों में जो उसके अध्यधीन हैं कठोर रूप से या निराधार रूप से हस्तक्षेप किया जाता है, जो युक्तियुक्त व्यक्तियों के विचार में न्यायोचित नहीं माना जा सकता तो न्यायालय यह कह सकता है, 'संसद' का आशय ऐसे नियम बनाने संबंधी अधिकार देने का कदापि नहीं था, वे अयुक्तियुक्त और अधिकारातीत हैं।"

किन्तु वह बात इस अर्थ में और केवल इसी अर्थ में है जैसाकि मैं कल्पना करता हूं कि युक्तियुक्तता या अयुक्तियुक्तता के प्रश्न को समुचित

[1] [1898] 2 क्यू० बी० 1976 : (1) एस० सी० ग्रार० 733.

रूप से समझा जा सकता है। कोई उपविधि मात्र इसलिए अयुक्तियुक्त नहीं है क्योंकि कोई विशिष्ट न्यायाधीश यह समझ सकते हैं कि यह समझ-बूझ या आवश्यकता या सुविधा से परे जाती है या इसलिए कि इसमें ऐसा कोई अपवाद नहीं है जिसका होना कतिपय न्यायाधीश आवश्यक समझते हैं। हम **स्लाट्टरी** बनाम **नैलोर वाले मामले**[1] में प्रिवी कौंसिल का सुविदित विनिश्चय भी सुविधा की दृष्टि से निर्दिष्ट कर सकते हैं जहां यह अधिकथित किया गया है कि जब यह विचार किया जाता है कि कोई उपविधि युक्तियुक्त है या नहीं न्यायालय को उसके विरुद्ध सशक्त मामला सिद्ध करने की आवश्यकता होगी और वह यह अवधारित करने से इनकार करेगा कि क्या उस उपविधि को कम आत्यंतिक बनाना अधिक बुद्धिमतापूर्ण या अधिक विवेकपूर्ण होता या क्या वह उस उपविधि को इस कारण अयुक्तियुक्त मानेगा कि उन विचारणाओं की उप-विधि विरचित करने वालों के द्वारा उपेक्षा कर दी गई या उन्हें अस्वीकार कर दिया गया है जिन्हें स्वयं न्यायालय ने महत्व दिया होता। **क्रूस** बनाम **जानसन**[1] और **स्लाट्टरी** बनाम **नैलोर**[2] वाले मामले में उपर्युक्त रूप में अधिकथित सिद्धांत सानुमोदन उद्धृत किए गए हैं और इस न्यायालय द्वारा **ट्रस्टी आफ दी पोर्ट आफ मद्रास** बनाम **अमीनचन्द प्यारेलाल और अन्य**[3] वाले मामलों में इस न्यायालय द्वारा लागू किए गए हैं।

22. जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है मुख्य तथ्यों में से एक तथ्य जो उच्च न्यायालय को प्रभावित करने वाला प्रतीत होता है यह है कि कतिपय छुट-पुट उदाहरणों (इस निर्णय में निर्दिष्ट और विनिर्दिष्ट उदाहरण केवल 3 हैं) में गलतियों या अनियमितताओं पर विद्यमान प्रक्रिया के अनुसरण में संबंधित उत्तरपुस्तिकाओं का सत्यापन कर लेने के पश्चात् भी विगत में ध्यान नहीं दिया गया था और अन्ततः मात्र न्यायालय के आदेशों पर या न्यायालय के समक्ष फाइल किए गए पिटीशनों में दी गई दलीलों के परिणाम-स्वरूप और आगे की गई संवीक्षा के पश्चात् ही ऐसी गलतियां या अनियमिताएं पाई गई थीं। इस संबंध में **आर० एस० जोशी** बनाम **अजीत मिल्स**[4] वाले मामले में न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर द्वारा व्यक्त किए गए इन मतों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक समझते हैं कि किसी विधि की संवैधानिकता का न्यायनिर्णयन उन मामलों की व्यापकता द्वारा किया जायेगा जो (मामले) उसके अंतर्गत आते हैं न कि सनक और अपवादों द्वारा जो कि घोर यंत्रणा के समान हैं।" उन शपथ-

[1] [1898] 2 क्यू० बी० 91.

[2] [1888] 13 अपील केसेज 446.

[3] [1976] 2 उम० नि० 527=[1976] 1 एस० सी० आर० 721.

[4] (1978) 3 उम० नि० प० 1063=[1977] 4 एस० एस० सी० 98.

पत्रों से जो इस मामले के अभिलेख का भाग है यह दृष्टव्य है कि तीन प्रभागीय बोर्ड प्रतिवर्ष 2 बार एच० एस० सी० की परीक्षाओं का संचालन करते हैं, अर्थात् प्रतिवर्ष मार्च और अक्तूबर में। उन अभ्यर्थियों की संख्या जो मार्च 1980 में एच० एस० सी० की परीक्षा में बैठे थे, 1,15,364 थी। इसी प्रकार प्रभागीय बोर्ड द्वारा वर्ष के दौरान एस० एस० सी० सार्वजनिक परीक्षा भी दो बार संचालित की जाती है और उक्त परीक्षा में सम्मिलित होने वाले अभ्यर्थियों की संख्या एच० एस० सी० परीक्षा में बैठने वालों की संख्या से बहुत अधिक है। बोर्ड द्वारा दिए गए अंकों से यह दृष्टव्य है कि, दोनों सार्वजनिक परीक्षाओं में बैठने वाले अभ्यर्थियों की संख्या में प्रतिवर्ष वृद्धि हुई है। मार्च, 1980 में एच० एस० सी० की परीक्षा में बैठने वालों की कुल संख्या 2,99,267 थी। बोर्ड द्वारा नियुक्त किए गए परीक्षकों के माध्यम से उसके द्वारा किए गए मूल्यांकन के कार्य की घोरता पर विचार करते हुए वस्तुतः यह संतोष का विषय है कि गलतियों और अनियमिताओं के साबित उदाहरण इतने कम है कि उन्हें उंगलियों पर गिना जा सकता है। इस सही परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर विचार करने के बजाय हमें इस तथ्य का पता लगाने में खेद है कि उच्च न्यायालय ने कतिपय उदाहरणों पर अनुचित और बढ़ा-चढ़ाकर बल दिया है और इसे इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए आधार बनाया है कि अभ्यर्थी के प्रति युक्तियुक्त ईमानदारी केवल तब निश्चित की जा सकती है यदि प्रकटीकरण का और व्यक्तिगत निरीक्षण का अधिकार अभ्यर्थियों को सत्यापन की प्रक्रिया के भाग के रूप में अनुज्ञात किया जाता है। यह दृष्टिकोण हमें वैध रूप से सही या साधार होने के रूप में विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। हम उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किये गये इस मत को कायम रखने में असमर्थ हैं कि विनियम 104 का खंड (3), जिसमें उत्तरपुस्तिकाओं के प्रकटीकरण और निरीक्षण का दावा करने से परीक्षार्थियों को निर्हकित किया गया है और उन दस्तावेजों को गोपनीय घोषित किया गया है, "विनियम 102 और 104 के अधीन बोर्ड की सुधारक शक्तियों के और विनियम 104(1) के अधीन सत्यापन के अधिकार का विफलकारी है तथा उस पद्धति के प्रभावोत्पादकता में लोगों के विश्वास का विनाशकारी हैं'। जिन कारणों से उच्च न्यायालय ऊपर वर्णित निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए प्रेरित हुआ है उन्हें न्या० पाण्डे के निर्णय के पैरा 33 में आने वाली निम्नलिखित मताभिव्यक्ति में पाया जा सकता है : "दूसरी ओर उत्तरपुस्तिकाओं तक छात्र की पहुंच उसे यह सत्यापित करने में समर्थ करेगी (1) क्या वह प्रश्न पत्र स्वयं उसके हैं और (2) अतिरिक्त उत्तर-पत्रों (पुस्तिकाओं) को सम्यक रूप से टैग किया गया है और (3) सभी उत्तरों का मूल्यांकन किया गया है और (4) योग सही है और (5) उसके प्रायोगिक

और आन्तरिक निर्धारणों के अंक उसमें सम्मिलित किए गए हैं और (6) उसके प्रतिकूल परिणाम किसी गलती या छल साधन के कारण नहीं हैं। यह न केवल विनियम 104 (1) के अधीन सत्यापन की प्रक्रिया को एकदम प्रभावी और वास्तविक बनायेगा बल्कि बोर्ड को गलतियों और अनाचारों का पता लगाने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करना सुकर बनाएगा और छात्रों की कुण्ठा का निवारण करते हुए परिणाम में संशोधन करेगा। इस प्रकार इस अधिनियम का प्रयोजन निरीक्षण रोकने के बजाय निरीक्षण की अनुमति देकर बेहतर रूप से पूरा किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, गोपनीयता अधिनियम के किसी प्रयोजन को पूरा करने के स्थान पर प्रथमतः इस पद्धति के कार्यकरण को पूर्णतः कर्मचारियों पर निर्भर करके और द्वितीयतः स्वयं परीक्षार्थी की सहायता की कमी के कारण विनियम 102 (3), (4) और 104 (1) के अधीन प्रक्रिया को अप्रभावी बनाकर उसे विफल करती है। उपर्युक्त मत व्यक्त करते हुए उच्च न्यायालय ने इस मूलभूत सिद्धांत की अनदेखी की है कि यह अवधारित करना कि क्या कानून का प्रयोजन विधानमण्डल या उसके प्रतिनिधि द्वारा जो कुछ अधिकथित किया गया है उससे भिन्न किसी नीति को अपनाकर बेहतर रूप से पूरा किया जा सकता है और किसी उपविधि (विचार-विमर्श के प्रयोजन के लिए यह धारणा करते हुए कि आक्षेपित विनियम उप-विधि है) को अयुक्तियुक्त होने के रूप में मात्र इस आधार पर विखण्डित करना कि उसमें प्रतिपादित नीति अधिनियम के उद्देश्य और प्रयोजनों को लागू करने के लिए उसके प्रभाव के संबंध में न्यायालय का अनुमोदन प्राप्त नहीं करता, न्यायालय के विधिसंगत अधिकार क्षेत्र के भीतर नहीं है।

23. पूर्वगामी चर्चा ध्यान में रखते हुए हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि उच्च न्यायालय द्वारा अभिलिखित यह निष्कर्ष कि विनियम 104 का खण्ड (3) अयुक्तियुक्तता के आधार पर विखण्डित किए जाने योग्य है पूर्णतः गलत है और अवलम्बनीय नहीं है।

24. अब हम विनियम 104 के खंड (1) और (3) में अन्तर्विष्ट उपबंध की विधिमान्यता से संबंधित प्रश्न पर आते हैं जिसमें यह उपबंध किया गया है कि उत्तर पुस्तिकाओं या अतिरिक्त उत्तर पुस्तिकाओं का पुनर्मूल्यांकन नहीं किया जाएगा और कोई भी अभ्यर्थी अपनी उत्तरपुस्तिकाओं के पुनर्मूल्यांकन का दावा नहीं करेगा या दावा करने का हकदार नहीं होगा। इस पहलू पर न्या० मोहता द्वारा दिए गए खण्ड न्यायपीठ के पृथक् निर्णय में विचार किया गया है। इस निर्णय का परिशीलन करने पर यह दृष्टव्य है कि उसमें दिए गए सम्पूर्ण तर्क न्या० देशपाण्डे के निर्णय में अभि-

लिखित निष्कर्ष पर आधारित है जिसे मामलों के प्रथम ग्रुप में दिया गया है, यह कि विनियम 104 के खंड (1) और (3) में अन्तर्विष्ट वह उपबंध जिसमें उत्तरपुस्तिकाओं के प्रकटीकरण और निरीक्षण पर प्रतिषेध लगाया गया है, अयुक्तियुक्तता के आधार पर तथा उस अधिनियम की धारा 36 (1) द्वारा विनियम विरचित करने की प्रदत्त शक्ति की परिधि के अधिकारातीत होने के आधार पर विखण्डित किए जाने के योग्य है। अपने तर्क का प्रारम्भिक मुद्दा बनाते हुए न्या० मोहता ने यह मत व्यक्त किया कि "उत्तर पुस्तिकाओं और अन्य दस्तावेजों के निरीक्षण और प्रकटीकरण अनुज्ञात करने का तर्कसंगत उद्देश्य पुनर्मूल्यांकन की अनुमति देना है" और यह कि "पुनर्मूल्यांकन के अतिरिक्त अधिकार से वंचित किए जाने की दशा में निरीक्षण और प्रकटीकरण द्वारा कोई उपयोगी प्रयोजन पूरा नहीं होगा।" ऐसे दृष्टिकोण के आधार पर विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि "जो भी, हो भूल सुधारने की बाध्यताओं को मात्र सत्यापन तक निर्बन्धित करने और विनियम 102 के प्रवर्तन से पुनर्मूल्यांकन को अपवर्जित करने का, कोई औचित्य नहीं था।" तदनुसार यह अभिनिर्धारित किया गया था कि विनियम 104 के खंड (1) और (3) भी जहां तक उनमें पुनर्मूल्यांकन पर प्रतिषेध लगाया गया है अयुक्तियुक्तता के आधार पर शून्य हैं।

25. जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है अन्य विद्वान न्यायाधीश (न्या० देशपांडे) ने अपने सहयोगी द्वारा निकाले गए निष्कर्ष के सही होने के संबंध में अपना संदेह और शंकाएं व्यक्त करते हुए मामलों के इस ग्रुप में पृथक और संक्षिप्त निर्णय दिया है किन्तु अन्ततः यह मत व्यक्त करते हुए उन्होंने अपना निर्णय परिसमाप्त कर दिया है कि यद्यपि वे विनियमों में अन्तर्विष्ट उपबंधों में से किसी से पुनर्मूल्यांकन के अधिकार को पढ़ने में शंकाशील थे तथापि वे "अपना मत अभिभावी होने देने और उससे विसम्मति की अपेक्षा" न्या० मोहता द्वारा तैयार किए गए निर्णय से सहमत होना अधिक पसन्द करेंगे। प्रश्न की सारवान प्रकृति और साधारण महत्व को ध्यान में रखते हुए तथा उस प्रतिक्रिया को जो अनिवार्यतः विश्वविद्यालयों, विद्यालय शिक्षा बोर्डों तथा संघ और राज्य लोक सेवा आयोग जैसे निकायों द्वारा संचालित विभिन्न प्रकार की सार्वजनिक परीक्षाओं में पुनर्मूल्यांकन की मांग करने के अधिकार की मान्यता द्वारा उत्पन्न होगी यह अत्यधिक समुचित होगा यदि विद्वान् न्यायाधीश (न्या० देशपांडे) उस प्रश्न पर सभी पहलुओं से स्वयं अपने दृष्टिकोण के अनुसरण में स्वतंत्र रूप से विचार-विमर्श करते या उसे यथास्थिति किसी बृहत्तर न्यायपीठ को या तीसरे न्यायाधीश को

निर्देशित करते यदि वे यह अनुभव करते कि उनके सहयोगी द्वारा तैयार किए गए निर्णय में प्रतिपादित दृष्टिकोण संदेहपूर्ण था । जो भी हो (हम पहले ही) यह अभिनिर्धारित कर चुके हैं कि यह अभिनिर्धारित करने के लिए, मामलों के प्रथम ग्रुप में अपने निर्णय में खंड न्यायपीठ द्वारा उल्लिखित ये कारण कि विनियम 104 का खण्ड (3) जहां तक यह उत्तर पुस्तिकाओं के प्रकटन और निरीक्षण को प्रतिषिद्ध करता है और उन्हें गोपनीय दस्तावेज समझता है बोर्ड की विनियम बनाने की शक्ति के आधिक्य में होने के आधार पर अधिकारातीत है और अयुक्तियुक्तता के आधार पर शून्य भी है, सभी गलत हैं और चलने योग्य नहीं हैं । इस प्रकार हमारे द्वारा प्रकटीकरण और निरीक्षण के विरुद्ध प्रतिषेध की विधिमान्यता को पुष्ट किए जाने के कारण विनियम के खण्ड (1) और (3) में अन्तर्विष्ट पुनर्मूल्यांकन के विरुद्ध प्रतिषेध को अविधिमान्य करने वाले निष्कर्ष के अपने समर्थन में न्या० मोहता के निर्णय में अन्तर्विष्ट तर्क की सफलता का कोई आधार नहीं रहता । विद्वान् न्यायाधीश द्वारा अभिव्यक्त दृष्टिकोण की विनियम 102 (2) जो परिणामों का संशोधन करने की बोर्ड को स्वप्रेरणा शक्ति प्रदान करता है जहां कि यह पता चले कि ऐसा परिणाम गलती, अनाचार, कपट अनुचित आचरण आदि द्वारा प्रभावी हुआ है, पुनर्मूल्यांकन पर प्रतिषेध द्वारा निरर्थक और प्रभावहीन हो जाएगा, भ्रान्त और निराधार है । उक्त विनियम के विस्तार क्षेत्र पर चर्चा करते हुए हमने यह बतलाया है कि इसका प्रयोजन और प्रभाव केवल ऐसे मामलों में गलतियों को सही करने के लिए बोर्ड को स्वप्रेरणा शक्ति प्रदत्त करना है जहां अनाचार, कदाचार, कपट आदि का पता चलता है और यह परीक्षार्थियों पर परिणामों को सही करने की किसी मांग का अधिकार प्रदत्त नहीं करता । परिणामों के प्रकाशन में पश्चात विनियमों की स्कीम में एकमात्र अधिकार जो परीक्षार्थियों के लिए इस विषय के संबंध में है वह विनियम 104 के खंड (1) के अधीन परिणामों के सत्यापन के लिए मांग करना है और ऐसे सत्यापन का विस्तार क्षेत्र उक्त खंड में तथा उसी विनियम के खंड (3) अधिरोपित परिसीमाओं के अध्यधीन है ।

26. हम उच्च न्यायालय द्वारा उल्लेख किए गए इस अतिरिक्त कारण से सहमत होने में असमर्थ हैं कि "प्रत्येक छात्र को परीक्षा में ईमानदारी और अपने प्रदर्शन के अनुकूल समुचित अंक प्राप्त करने का अधिकार है" इसलिए यह ऐसी ईमानदारी के अधिकार से वंचित करना होगा यदि पुनर्मूल्यांकन की मांग करने के अधिकार पर प्रतिषेध लगाया जाता है और जब तक पुनर्मूल्यांकन के अधिकार को मान्यता और अनुमति नहीं दी

जाती तब तक यह ईमानदारी के नियमों का अतिलंघन है। ईमानदारी किसे कहते हैं यह बात प्रत्येक दी गयी विशिष्ट स्थिति से संबंधित तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यदि यह पता चलता है कि यह सुनिश्चित करने के लिए प्रत्येक संभव पूर्वाधानी बरती गई है और सब प्रकार के आवश्यक सुरक्षोपाय किए गए हैं कि अतिरिक्त उत्तरपुस्तिकाओं सहित उत्तर-पुस्तिकाएं सुरक्षित स्थान में रखी गयी हैं जिससे कि उसमें किसी प्रकार की गड़बड़ी का जोखिम समाप्त हो जाए और यह कि पुनर्मूल्यांकन विभिन्न प्रक्रमों पर पड़ताल और प्रति-पड़ताल (चेक और क्रास चेक वाला) रूपात्मक स्तरमान लागू करके परीक्षकों द्वारा किया जाता है और यह कि अनाचार आदि का पता लगाने के लिए भी प्रभावी उपाय किए गए हैं तो ऐसे मामलों में इस आधार पर पुनर्मूल्यांकन पर प्रतिषेध लगाने वाले उपबंध को विखंडित करना न्यायालयों के पक्ष में सही नहीं होगा कि यह ईमानदारी के नियमों का अतिक्रमण करता है। यह खेदजनक बात है कि उच्च न्यायालय ने अपने दो निर्णयों में से किसी भी परीक्षाओं के संचालन, उत्तरपुस्तिकाओं के मूल्यांकन और परिणामों के संकलन और परिणाम निकालने से संबंधित बोर्ड और प्रभागीय बोर्डों द्वारा अधिकथित और अनुसरित विस्तृत प्रक्रिया का ब्यौरेवार उपवर्णन नहीं किया है। बोर्ड की ओर से उच्च न्यायालय में फाइल किए गए शपथपत्र से यह देखा गया है कि आशयित अभ्यर्थियों को हाल-टिकट (प्रवेश-पत्र) जारी किए जाने के प्रक्रम से परिणाम घोषित किए जाने तक बोर्ड द्वारा सत्यापन, जांच पड़ताल और प्रति-जांच पड़ताल की सुव्यवस्थित पद्धति प्रस्तुत की गई और परीक्षकों की ओर से मानवीय गलती होने की संभावना और परीक्षार्थियों और परीक्षकों की ओर से अनाचार होने की संभावना को प्रभावी रूप से दूर करने के लिए प्रत्येक कदम उठाए गए हैं। बोर्ड के परीक्षा केन्द्र प्रत्येक प्रभाग में चारों तरफ फैले हुए हैं और प्रत्येक उपकेन्द्र के भार-साधक उप-मुख्य संचालक (डिप्टी चीफ कन्डटर) के पूर्ण पर्यवेक्षण के अधीन सतर्क पर्यवेक्षण के लिए इन्तजाम किया गया है और प्रत्येक पेपर में जिसमें मुख्य पुस्तिका भी सम्मिलित है, परीक्षा के लिए नियत समय के समाप्त होने पर सभी उत्तर-पुस्तिका और अतिरिक्त उत्तरपुस्तिकाएं (सप्लीमेंट्स) अभ्यर्थी द्वारा मजबूती से बांधी जाएंगी और पर्यवेक्षक को लौटाई जाएंगी। किंतु इसके पूर्व कि वे पर्यवेक्षक को लौटाई जाएं, प्रत्येक अभ्यर्थी को मुख्य उत्तरपुस्तिकाओं के मुख पृष्ठ पर उक्त विशिष्टियों के लिए उपबंधित कोष्टक में मुख्य उत्तरपुस्तिका से संलग्न परिशिष्टियों की संख्या लिखनी होगी। पर्यवेक्षक को यह सत्यापित करने के लिए व्यादिष्ट किया गया

है कि क्या इस प्रकार लिखी गई संख्या उन परिशिष्टियों की संख्या के अनुरूप है जो अभ्यर्थी द्वारा अपनी मुख्य उत्तर पुस्तिका के साथ दी गई थीं। उप-मुख्य संचालक को सभी उत्तर पुस्तिकाएं लौटाए जाने के पश्चात् लेखन सामग्री पर्यवेक्षक (स्टेशनरी सुपरवाइजर) जिसे बोर्ड द्वारा प्रत्येक उप-केन्द्र में तैनात किया गया है, अभ्यर्थियों द्वारा प्रयोग की गई परिशिष्टियों सहित उत्तर-पुस्तिकाओं का मिलान करता है। इससे उप-केन्द्र का पर्यवेक्षण कर्मचारिवृन्द यह सत्यापित और सुनिश्चित करने में समर्थ होता है कि अभ्यर्थियों को जारी की गई सभी उत्तर पुस्तिकाएं और परिशिष्टियां लौटा दी गई हैं और पर्यवेक्षण कर्मचारिवृन्द को प्राप्त हो गई हैं। जांच पड़ताल और दोहरी जांच-पड़ताल के इस प्रक्रम पर यदि भूल से या जान बूझकर अनाचार द्वारा उत्तर पुस्तिकाओं में कोई स्थान संख्या दोबारा दी गई है तो सुगमता से इसका पता लगाया जा सकता है और उप मुख्य संचालक या मुख्य संचालक द्वारा सुधारक उपाय किए जा सकते हैं। इसके पश्चात उत्तर पुस्तिकाएं उप-मुख्य संचालक द्वारा मुख्य केन्द्र के भारसाधक मुख्य संचालक को भेज दी जाती हैं। मुख्य संचालक बोर्ड द्वारा जारी किए गए अनुदेशों के अनुसरण में उत्तर पुस्तिकाएं छांटता है और उन्हें उन परीक्षकों को भेजता है जिनके नाम पहले ही दिए गए थे, सिवाय विज्ञान के विषयों के अर्थात् "गणित सांख्यिकी, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान और जीव विज्ञान के"। विज्ञान के विषयों की उत्तर पुस्तिकाएं मुख्य संचालक द्वारा पुणे कैम्पों में जिन्हें पहले ही अधिसूचित किया गया था, समुचित सुरक्षा के अधीन भेजी जाती हैं। उत्तरपुस्तिकाओं के मूल्यांकन के संबंध में अनुसरित अतिरिक्त प्रक्रिया माध्यमिक शिक्षा के पुणे प्रभागीय बोर्ड में संयुक्त सचिव द्वारा उच्च न्यायालय में फाइल किए गए तारीख 10 जुलाई, 1980 के प्रति-शपथ पत्र के पैरा 22 से 26 में स्पष्ट की गई है। हम इन पैराओं में दिए गए सभी ब्यौरों का सारांश इस निर्णय में प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं समझते और यह उल्लेख करना पर्याप्त होगा कि उत्तर पुस्तिकाओं के मूल्यांकन में ऋजुता और यथार्थता सुनिश्चित करने के लिए बोर्ड द्वारा प्रस्तुत की गई प्रक्रिया द्वारा इस पद्धति को जहां तक सम्भव हो सकता है, सुस्पष्ट बना दिया गया है और इससे हमारा पूर्ण समाधान हो गया है और इसका हम अनुमोदन करते हैं, इस पृष्ठभूमि में विचार करने पर हम उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए इन मतों से सहमत होने में असमर्थ हैं कि मूल्यांकन की मांग करने के अधिकार से वंचित करना इमानदारी से वंचित करना और अयुक्तियुक्त है। बोर्ड बहुत उत्तरदायी निकाय है। अभ्यर्थियों ने इन विनियमों में अंतर्विष्ट उपबंधों की पूरी जानकारी के साथ परीक्षा दी है और परीक्षा में प्रवेश के लिए आवेदन के प्ररूप में की गई घोषणा

में उन्होंने सत्यनिष्ठा से यह कथन किया है कि वे बोर्ड द्वारा जारी किये गये विनियमों द्वारा पूर्णतः आबद्ध हैं। इन परिस्थितियों में जब हम यह पाते हैं कि गलतियों और अनाचारों के विरुद्ध सभी रक्षोपाय का उपबन्ध कर लिया गया है तब पुनर्मूल्यांकन की मांग करने के विरुद्ध प्रतिषेध के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि परीक्षार्थियों के प्रति ईमानदारी नहीं बरती गई है।

27. उच्च न्यायालय ने इस तथ्य का अवलम्ब लिया है कि मुम्बई विश्वविद्यालय तथा कतिपय अन्य विश्वविद्यालयों ने हाल ही में कतिपय उपबंध किए हैं जिसमें अभ्यर्थियों को पुनर्मूल्यांकन की मांग करने की अनुमति दी गई है। हमारे मतानुसार बोर्ड द्वारा विरचित आक्षेपित विनियमों की विधिमान्यता के बारे में विनिश्चय के प्रयोजन के लिए यह किंचित सुसंगत नहीं है। हम यह नहीं जानते कि किन परिस्थितियों के अधीन मुम्बई विश्वविद्यालय ने परीक्षार्थियों को पुनर्मूल्यांकन की मांग करने के अधिकार को मान्यता देने का विनिश्चय किया है। जहां तक बोर्ड का संबंध है इसने प्रतिशपथपत्र में उस कार्य की अधिकता का उपवर्णन किया है जिस पर विचार किया जा चुका है, अर्थात प्रत्येक वर्ष के दौरान मूल्यांकन की प्रक्रिया दो बार पूरा करने का और एक दूसरे के केवल कुछ मासों के अन्तराल से होने वाली एस० एस० सी० और एच० एस० सी० की परीक्षाओं में बैठने वाले लगभग 3 लाख अभ्यर्थियों के परिणामों के निकाले जाने का। यदि सभी अभ्यर्थियों को उनकी उत्तरपुस्तिकाओं का सत्यापन करने दिया जाता है या अभ्यर्थियों की उपस्थिति में उत्तर-पत्रों का पूनर्मूल्यांकन करने दिया जाता है तो यह निश्चित है कि इस प्रक्रिया में अत्यधिक समय लगेगा और यदि ऐसा निवेदन भले ही अभ्यर्थियों में से लगभग 10 प्रतिशत द्वारा किया जाता है जिनकी संख्या 30 हजार होगी तो भी इसमें हजारों मानव-घंटे लगेंगे और यह निश्चित है कि सम्पूर्ण व्यवस्था ठप हो जायेगी। इसके अतिरिक्त यह लोकहित में है कि जब सार्वजनिक परीक्षाओं के परिणाम प्रकाशित किए जायें तब इनमें कतिपय अंतिमता होनी आवश्यक है। यदि अभ्यर्थियों की उपस्थिति में निरीक्षण, सत्यापन और पुनर्मूल्यांकन अधिकार के रूप में अनुज्ञात किए जाते हैं तो इससे घोर और अनिश्चित संशय उत्पन्न हो सकता है विशिष्टतया अभ्यर्थियों की तुलनात्मक क्रमविन्यास इत्यादि के संबंध में, इसके अतिरिक्त इससे इस प्रक्रिया में अंतर्वलित श्रम और समय की अधिकता के कारण अत्यधिक भ्रम उत्पन्न हो संकता है।

28. जैसा कि **फतेह चन्द हिम्मत लाल और अन्य ब० महाराष्ट्र राज्य**[1]

---

[1] [1978] 1 उम० नि० प० 1173=[1977] 2 एस० सी० आर० 828.

वाले मामले में इस न्यायालय की संविधान न्यायपीठ द्वारा मत व्यक्त किया गया है, "युक्तियुक्तता की कसौटी शून्य में लागू नहीं होती बल्कि जीवन की वास्तविकता के संदर्भ में लागू होती है।" यदि उच्च न्यायालय द्वारा अधिकथित सिद्धांत को सही समझा जाता है उसका लागू किया जाना एकमात्र विद्यालय शिक्षा बोर्ड द्वारा संचालित परीक्षा तक ही निर्बन्धित नहीं किया जा सकता बल्कि संघ और राज्य लोक सेवा आयोगों द्वारा संचालित सभी प्रतियोगिता परीक्षा में लागू करना होगा। उच्च न्यायालय के निर्णय से निकलने वाली विधिक स्थिति का परिणाम यह है कि ऐसा प्रत्येक अभ्यर्थी जो ऐसी किसी परीक्षा में बैठा है और जो अपने परिणाम से असंतुष्ट है "ईमानदारी" के अपने अधिकार के अन्तर्निहित भाग के रूप में अपनी उत्तर-पत्र के प्रकटीकरण और व्यक्तिगत निरीक्षण की मांग करने के लिए हकदार होगा और अपने उत्तर-पत्रों के पुनर्मूल्यांकन की मांग करने के अतिरिक्त अधिकार के लिए भी हकदार होगा। इसका अपरिहार्य परिणाम यह होगा कि अनिश्चित समय तक प्रतियोगिता परीक्षा के परिणामों के संबंध में तब तक कोई निश्चिततः नहीं होगी जब तक कि ऐसे सभी निवेदनों का संकलन नहीं किया जाता और सत्यापन और पुनर्मूल्यांकन का परिणाम दर्शित नहीं किया जाता।

29. लोकहित अग्रसर करना और सामान्यतः अन्य अभ्यर्थियों के प्रति ईमानदारी तो दूर रही विधिक स्थिति का ऐसा कोई निर्वचन, पूर्णतः निरर्थक होगा। जैसा कि इस न्यायालय द्वारा बार-बार बताया गया है कि न्यायालय को इस बात के बारे में कि शैक्षिक विषयों के संबंध में कौन सी बात बुद्धिमता-पूर्ण है और उचित है, तकनीकी सुविज्ञता रखने वाले वृतिक व्यक्तियों द्वारा और शिक्षा संस्थाओं के दिन प्रति-दिन के वास्तविक कार्य-करण के बारे में अधिक अनुभव रखने वाले व्यक्तियों तथा उन विभागों द्वारा, जो उस पर नियंत्रण रखते हैं, तैयार की गई राय को अधिमान देते हुए अपनी राय प्रतिस्थापित करने में अनिच्छुक रहना चाहिए। न्यायालय के लिए इस पद्धति के कार्यकरण में तथा इन परिणामों की भूल के परिणामस्वरूप जो कि हठवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा शुद्धतः आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रतिपादित किये जाने से उत्पन्न होगा, उस अंतर्वलित वास्तविक यथार्थता और ऐसी समस्याओं से अलग होकर जो जड़ तक पहुंची हुई हैं इस प्रकार की समस्याओं की बाबत पंडिताऊ और शुद्धतः आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाना पूर्णतः गलत होगा। इसलिए यह उतना ही महत्वपूर्ण है कि न्यायालय को, जहां तक संभव है, किसी कानूनी उपबंध वाले नियम या ऐसी उपविधि के किसी विनिश्चय या निर्वचन से

बचना चाहिए जो कि ऐसी पद्धति के परिणाम के बारे में उसे व्यवहार में कार्य करने योग्य न रहने दे। यह बात खेदजनक है कि उच्च न्यायालय द्वारा प्रस्तुत मामले का विनिश्चय करते हुए इस सिद्धांत को पर्याप्त रूप से ध्यान में नहीं रखा गया।

30. पूर्वगामी चर्चा को ध्यान में रखते हुए हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि उच्च न्यायालय ने विनियम 104 के खंड (1) और (3) को अवैध, अयुक्तियुक्त और शून्य कह कर अभिखंडित करने में भूल की थी। हम इन उपबंधों की विधिमान्यता को पुष्ट करते हैं।

31. परिणामस्वरूप उच्च न्यायालय के दोनों निर्णय अपास्त किये जाते हैं और रिट पिटीशनों के दोनों ग्रुप जो इन निर्णयों के अधीन मंजूर किये गये थे खारिज किये जाते हैं। तदनुसार ये अपीलें मंजूर की जाती हैं। अपीलार्थी प्रत्यर्थियों से अपने खर्चे प्राप्त करेंगे।

अपीलें मंजूर की गईं।

प्र०/सरोहा

सुनील जेतली और अन्य

बनाम

हरियाणा राज्य और अन्य

मास्टर अजय कुमार चौधरी

बनाम

महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक और अन्य

तथा

कुमारी मनीषा राठी (अवयस्क) अपने पिता की मार्फत

बनाम

महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक और अन्य

(30 जुलाई, 1984)

(न्यायाधिपति डी० ए० देसाई और ओ० चिन्नप्पा रेड्डी)

संविधान, 1950—अनुच्छेद 14—विश्वविद्यालय में प्रवेश के वर्गीकरण का आधार—महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय रोहतक में एम० बी० बी० एस०/बी० डी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश के सम्बन्ध में ग्राम्य अभ्यर्थियों के लिए स्थान आरक्षित किए जाना—वर्गीकरण का आधार अयुक्तियुक्त होने के कारण उक्त आरक्षण मनमाना और विवेकहीन है और इस आधार पर संवैधानिक दृष्टि से अविधिमान्य है।

संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन पिटीशनों के इस समूह में पिटीशनरों ने तृतीय प्रत्यर्थी—महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक की मैडिकल फैकल्टी में 1982 वाले सत्र के लिए प्रथम एम० बी० बी० एस०/बी० डी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश हेतु ग्रामीण क्षेत्रों से आने वाले अभ्यर्थियों के लिए 25 स्थानों के आरक्षण की विधिमान्यता तथा वैधता को प्रश्नगत किया था। विश्वविद्यालय ने 12 जून, 1982 को एक विवरण-पत्र(प्रास्पैक्टस) जारी किया जिसके द्वारा एम० बी० बी० एस०/बी० डी० एस० पाठ्यक्रम,

1982 में प्रवेश हेतु अभ्यर्थियों का चयन करने के लिए प्रवेश परीक्षा में बैठने के लिए आवेदन पत्र आमंत्रित किए गए। इस विवरण-पत्र में आरक्षित स्थानों को इस प्रकार दर्शित किया गया था—(क) अनुसूचित जाति/जनजाति=30 तथा ग्रामीण क्षेत्र=25 स्थान, इनमें से पांच स्थान लड़कियों के लिए, यदि वे उपलब्ध हों, आरक्षित रखे गए हैं अन्यथा उनको भी लड़कों में से ही भरा जाएगा। ग्रामीण क्षेत्रों से किसी अभ्यर्थी की पात्रता का विनिश्चय करने के लिए निम्नलिखित कसौटी का अनुपालन किया जाएगा; कोई भी अभ्यर्थी निश्चित रूप से ऐसा अभ्यर्थी होना चाहिए जिसने श्रेणी एक से श्रेणी आठ तक शिक्षा किसी ऐसे ग्राम में से, जिसमें कोई नगरपालिका अथवा अधिसूचित क्षेत्र या नगर क्षेत्र समिति विद्यमान न हो, स्थित किसी सामान्य ग्राम्य विद्यालय में से प्राप्त की हो और वहीं से आठवीं कक्षा की परीक्षा उत्तीर्ण की हो। इस प्रयोजनार्थ यह अपेक्षित है कि एक ऐसा प्रमाण-पत्र प्रस्तुत किया जाए जिसके विषय में परिशिष्ट 'ग' में उल्लेख किया गया है। संक्षेप में प्रवेश के लिए उपलभ्य कुल 148 स्थानों में से 80 स्थान प्रवेश परीक्षा में योग्यता के आधार पर तैयार की गई सूची के अनुसार भरे जाने थे और शेष विभिन्न प्रकार के अभ्यर्थियों के लिए आरक्षित थे। पिटीशनरों ने केवल संविधान के अनुच्छेद 14, 15(4) तथा 29(2) के उल्लंघन के आधार पर ग्राम्य क्षेत्रों में से आने वाले अभ्यर्थियों के लिए 25 स्थानों के आरक्षण पर ही आक्षेप किया क्योंकि उनके कथनानुसार यह वर्गीकरण मनमाना, अबोधगम्य है तथा प्राप्त किए जाने के लिए ईप्सित उद्देश्य से सबंधित नहीं है और इस प्रकार वह अनुच्छेद 15(4)की व्यावृत्ति के अन्तर्गत नहीं आता। उच्चतम न्यायालय द्वारा पिटीशनों को मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—कक्षा एक से आठ पर्यन्त बिताए गए वर्षों में अर्जित ज्ञान सामान्य प्रकृति का ज्ञान है जिसमें विद्यार्थी को पढ़ना, लिखना, साधारण अंकगणित को समझना, इतिहास, भूगोल तथा प्रारम्भिक गणित का सामान्य ज्ञान प्रदत्त किया जाता है। इन विषयों के प्रारम्भिक ज्ञान के बारे में कदाचित ही यह कहा जा सकता है कि उससे किसी विद्यार्थी को मेडिकल कालेज में प्रवेश पाने के योग्य बनाया जाता है। कक्षा नौ और दस में प्रदत्त शिक्षा प्रारम्भिक शिक्षा से तनिक ही उच्चकोटि की है। इन कक्षाओं में विद्यार्थी को गहन अध्ययन के लिए तैयार किया जाता है। विशेष विषयों का चयन श्रेणी ग्यारह और बारह में करना होता है और श्रेणी नौ से बारह में शिक्षा की बावत सभी विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को समरूप स्थिति में रखा जाता है, उनकी परिस्थितियां समरूप होती हैं और बिना किसी भेदभाव

के उन्हें समरूप दृष्टिकोण से आस्थित रखा जाता है। कक्षा एक से आठ में शिक्षा के संबंध में पूर्ववर्ती असुविधा, यदि कोई हो तो, सर्वथा विसंगत हो जाती है और उसका कोई महत्व नहीं रहता इसलिए वह किसी बोधगम्य विभेद के लिए उपबंध नहीं कर सकता जो व्यक्तियों में प्रभेद जाता हो। इसलिए यह एक उप-परिणाम के रूप में आगे आता है कि सामान्य ग्राम्य विद्यालयों से आए हुए विद्यार्थियों पर आधारित वर्गीकरण जिससे ऐसे विद्यार्थी अभिप्रेत हैं जिन्होंने प्रथम श्रेणी से लेकर आठवीं श्रेणी पर्यन्त नगर विद्यालयों में शिक्षित विद्यार्थियों के मुकाबले में सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में उक्त कक्षाओं में शिक्षा प्राप्त की थी, उस पर आधारित वर्गीकरण बोधगम्य विभेद की व्यवस्था नहीं करता। ऐसी स्थिति में वर्गीकरण सर्वथा मनमाना तथा विवेक-हीन होगा और इसलिए ऐसे वर्गीकरण पर आधारित आरक्षण सांविधानिक रूप से अविधिमान्य होगा। (पैरा 9)

जिस विभेद पर वर्गीकरण आधारित है वह मनमाना तथा विवेकहीन है। यह किस रूप में मनमाना तथा विवेकहीन है, इस बात को प्रदर्शनात्मक रीति से साबित किया जा सकता है। आरक्षण का लाभ उठाने के लिए निकटवर्ती नगर क्षेत्रों से आए हुए अभ्यर्थी नगर समूह के आसपास विद्यमान किसी सामान्य ग्राम्य विद्यालय में प्रवेश ग्रहण कर सकते हैं। और ऐसे सभी ग्राम्य विद्यालयों को बिना किसी अपवाद के यह कह कर लांछित नहीं किया जा सकता कि उनके भवन पर्याप्त नहीं हैं, उनमें कर्मचारिवृन्द सही स्तर का नहीं है और उनमें उपस्करों का अभाव है। (पैरा 11)

वर्गीकरण द्वारा प्राप्त किए जाने के लिए ईप्सित उद्देश्य क्या था? यह कहा गया था कि पहली कक्षा से आठवीं कक्षा पर्यन्त सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थी तुलनात्मक दृष्टि से उन विद्यार्थियों की अपेक्षा हानि में रहते हैं जो कि उन्हीं कक्षाओं में नगर विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करते हैं। यह तुलना इस कारण भ्रामक है कि एक ही सरकार प्रथम कथा से आठवीं कक्षा तक नगर और ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षा प्रदान करने के लिए शिक्षा, उपस्कर, अनुदान और प्रसुविधाएं जिनके अन्तर्गत इन दोनों प्रकार के विद्यालयों में नियोजित किए जाने वाले कर्मचारिवृन्द की अर्हताएं भी शामिल हैं, विहित करती है। (पैरा 12)

यह दृष्टिकोण इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षित विद्यार्थी भी मेडिकल कालेज में प्रवेश पाने से पूर्व चार वर्ष के लिए नगर विद्यालयों में प्रविष्ट रहेंगे और तत्पश्चात वे मेडिकल कालेज

में लगभग पांच वर्ष व्यतीत करेंगे। इस बात की कोई गारंटी नहीं है, सिवाय इसके कि यह मात्र इच्छाजनित धारणा है, कि वे ग्राम्य क्षेत्रों में लौट जाएंगे। इस वर्गीकरण को कायम रखने के लिए यह अत्यन्त निराधार सामग्री है। (पैरा 13)

इसलिए यह वर्गीकरण किसी बोधगम्य विभेद पर आधारित नहीं है और चाहे जो भी हो इसका संबंध प्राप्त किए जाने के लिए ईप्सित उद्देश्य के साथ विवेक की दृष्टि से नहीं है। यह वर्गीकरण विवेकहीन तथा मनमाना है। ऐसे वर्गीकरण पर आधारित आरक्षण संवैधानिक रूप से अविधिमान्य है। (पैरा 14)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[1982] [1982] 1 उम० नि० प० 595=[1981] 3 एस० सी० आर० 34:
आरती सप्रू बनाम जम्मू-कश्मीर राज्य और अन्य; 9,10

[1981] [1981]1 उम० नि० प० 129=[1980]2 एस० सी० आर० 831 :
जगदीश सरन बनाम भारत संघ; 13

[1980] आई० एल० आर० [1980] पंजाब-हरियाणा 493 :
अमर बीर सिंह और अन्य बनाम महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक और अन्य; 10

[1975] [1975]2 उम० नि० प० 187 =[1975] 2 एस० सी० आर० 761 :
उत्तर प्रदेश राज्य बनाम प्रदीप टण्डन 7,9,10,11

[1974] ए० आई० आर० 1974 हिमाचल प्रदेश 35 :
सुखविन्दर कौर बनाम हिमाचल प्रदेश राज्य और अन्य; 15

आरम्भिक अधिकारिता : 1982 के रिट पिटीशन सं० 7014, 7426-28, 7419, 7377-78, 7278, 6460, 7078, 6461, 5720, 7428, 7454, 6896, 6894, 7288, 6895, 6892-97, 7424, 7420, 7289, 7423, 7422, 6897, 6462, 7378,5720, 5719 और 7290-91.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल किए गए रिट पिटीशन।

तथा

1982 का विशेष इजाजत पिटीशन (सिविल) सं 9149.

1982 के सिविल रिट पिटीशन सं० 3460 में पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के तारीख 14 सितम्बर, 1982 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध पिटीशन।

तथा

1982 का विशेष इजाजत पिटीशन (सिविल) सं० 9076.

1982 के रिट पिटीशन सं० 5299 में पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के तारीख 1 सितम्बर, 1982 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध पिटीशन।

तथा

1982 का विशेष इजाजत पिटीशन (सिविल) सं० 9289.

पिटीशनरों की ओर से — डा० आदर्श कपूर और श्रीमती वी० डी० खन्ना

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय की ओर से — सर्वश्री पी० पी० राव, आर० वेंकटरमन्, ए० मरियरपथम् और कुमारी अरुणा माथुर

राज्य की ओर से — श्री आर० एन० पोद्दार

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति डी० ए० देसाई ने दिया।

न्यायाधिपति देसाई—

क्योंकि मामले में विलम्ब करना उचित नहीं था, इसलिए दलीलों के समाप्त होते ही न्यायालय ने निम्नलिखित आदेश सुनाया और कारणों को आरक्षित रखते हुए यह कहा कि कारण बाद में दिए जाएंगे :—

"पिटीशन इस मामले में उपदर्शित सीमा-पर्यन्त सफल होते हैं। महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय से सन्नद्ध मेडिकल कालेज, रोहतक में 1982 के एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षित तथा ग्रामीण क्षेत्रों से आने वाले अभ्यर्थियों

के पक्ष में 25 सीटें आरक्षित रखने संबंधी आदेश को अभिखंडित करने के लिए रिट जारी कर दिया जाए । परिणामस्वरूप प्रत्यर्थियों को यह निदेश दिया जाता है कि वे जुलाई, 1983 से प्रारम्भ होने वाले सत्र में उक्त कालेज के प्रथम एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में ऐसी संख्या में विद्यार्थियों को भर्ती कर लें जिन्होंने कि ग्रामीण क्षेत्रों से आने वाले तथा 1982 में सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षित अभ्यर्थियों के लिए आरक्षण के समकक्ष प्रवेश प्राप्त किया; यह प्रवेश ऐसे अभ्यर्थियों की बाबत बनाई गई सामान्य योग्यता सूची के अनुसार किया जाएगा जिन्होंने कि प्रवेश की मांग की थी और ऐसी सूची के अभाव में 1982 वाले वर्ष के लिए योग्यता के अनुसार एक प्रतीक्षा सूची तैयार कर ली जानी चाहिए । प्रत्यर्थियों से यह निदेश किया जाता है कि वे 31 मई, 1983 से पूर्व इस मामले में दिए गए निदेश के अनुसार प्रवेश को कार्य रूप दे दें और जो विद्यार्थी प्रवेश के लिए पात्र हो जाते हैं, उन्हें इसकी संसूचना दे दें ।

खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं दिया जाएगा ।

इस मामले के कारण एतत्पश्चात् दिए जाएंगे ।"

ये इस प्रकार हैं—

2. संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन पिटीशनों के इस समूह में पिटीशनरों ने तृतीय प्रत्यर्थी—महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (जिसे संक्षेप में 'विश्वविद्यालय' कहा गया है) की मेडिकल फैकल्टी में 1982 वाले सत्र के लिए प्रथम एम० बी० बी० एस०/बी० डी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश हेतु ग्रामीण क्षेत्रों से आने वाले अभ्यर्थियों के लिए 25 सीटों के आरक्षण की विधिमान्यता तथा वैधता को प्रश्नगत किया था । विश्वविद्यालय ने 12 जून, 1982 को एक विवरण-पत्र (प्रॉस्पैक्टस) जारी किया जिसके द्वारा एम० बी० बी० एस०/बी० डी० एस० पाठ्यक्रम, 1982 में प्रवेश हेतु अभ्यर्थियों का चयन करने के लिए प्रवेश परीक्षा में बैठने के लिए आवेदनपत्र आमंत्रित किए गए । इस विवरण-पत्र में आरक्षित स्थानों को निम्नलिखित रूप में दर्शित किया गया था—

"(क) आरक्षित स्थान :

प्रवर्ग	स्थानों की सं०
(क) अनुसूचित जाति/जनजाति	30
(ख) ग्रामीण क्षेत्र	25

(i) इनमें से पांच स्थान लड़कियों के लिए, यदि वे उपलभ्य हों, आरक्षित रखे गए हैं अन्यथा उनको भी लड़कों में से ही भरा जाएगा।

(ii) ग्रामीण क्षेत्रों से किसी अभ्यर्थी की पात्रता का विनिश्चय करने के लिए निम्नलिखित कसौटी का अनुपालन किया जाएगा।

कोई भी अभ्यर्थी निश्चित रूप से ऐसा अभ्यर्थी होना चाहिए जिसने श्रेणी 1 से श्रेणी 8 तक शिक्षा किसी ऐसे ग्राम में, जिसमें कोई नगरपालिका अथवा अधिसूचित क्षेत्र या नगर क्षेत्र समिति विद्यमान न हो, स्थित किसी सामान्य ग्राम विद्यालय में से प्राप्त की हो और वहीं से आठवीं कक्षा की परीक्षा उत्तीर्ण की हो। इस प्रयोजनार्थ यह अपेक्षित है कि एक ऐसा प्रमाणपत्र प्रस्तुत किया जाए जिसके विषय में परिशिष्ट 'ग' में उल्लेख किया गया है।

...."

संक्षेप में, प्रवेश के लिए उपलभ्य कुल 148 स्थानों में से 80 स्थान प्रवेश परीक्षा में योग्यता के आधार पर तैयार की गई योग्यता सूची के अनुसार भरे जाने थे और शेष विभिन्न प्रकार के अभ्यर्थियों के लिए आरक्षित थे। पिटीशनरों ने केवल संविधान के अनुच्छेद 14, 15(4) यथा 29(2) के उल्लंघन के आधार पर ग्राम्य क्षेत्रों में से आने वाले अभ्यर्थियों के लिए 25 स्थानों के आरक्षण पर ही आक्षेप किया क्योंकि उनके कथनानुसार यह वर्गीकरण मनमाना, अबोधगम्य है तथा प्राप्त किए जाने के लिए ईप्सित उद्देश्य से संबंधित नहीं है और इस प्रकार वह अनुच्छेद 15(4) की व्यावृत्ति के अन्तर्गत नहीं आता। यह अभिकथन किया गया कि अभ्यर्थियों का वर्गीकरण किसी ग्राम्य क्षेत्र में तथा नगर क्षेत्र में विद्यमान विद्यालय में छात्रों की शिक्षा के आधार पर किया जाना विवेकहीन है क्योंकि मेडिकल फैकल्टी में प्रवेश की ईप्सा करने से पूर्व ऐसा विद्यार्थी भी, जो किन्हीं ग्रामीण क्षेत्रों से आया हो और जिसने प्रथम श्रेणी से लेकर आठवीं श्रेणी पर्यन्त सामान्य ग्राम्य विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की हो, उसके बारे में यह हो सकता है कि उसने तत्पश्चात् मेडिकल कालेज में प्रवेश की ईप्सा करने से पूर्व चार वर्ष की कालावधि के लिए अतिरिक्त अग्रिम शिक्षा भी प्राप्त की हो। इसलिए यह कहा गया था कि चूंकि नगर विद्यालयों में अथवा सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में प्रथम श्रेणी से लेकर आठवीं श्रेणी पर्यन्त पाठ्यक्रम समरूप होता है और वहां सामान्य-प्राधिकरण द्वारा विहित परीक्षा सम्बन्धी मूल्यांकन

किया जाता है, इसलिए यह कदाचित ही संभव हो सकता है कि मेडिकल कालेज में प्रवेश के लिए योग्यता पर विचार करते समय, विशेष रूप से इस कारण कि ग्राम्य विद्यालयों से आने वाले विद्यार्थी अथवा ऐसे विद्यार्थी जो कि सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षा-प्राप्त हों, उनसे यह अपेक्षा की जाएं कि वे किन्हीं नगर विद्यालयों में अथवा ऐसे विद्यालयों में जो कि नगर विद्यालयों के साथ तुलना करने योग्य हों, आठवीं श्रेणी के पश्चात् चार वर्ष की कालावधि के लिए अतिरिक्त शिक्षा ग्रहण करें। पिटीशनरों ने यह दलील दी कि अनुच्छेद 15(4) के अधीन उक्त आरक्षण कायम रखने योग्य नहीं है क्योंकि सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षित अभ्यर्थियों के बारे में किसी वर्ग के रूप में यह नहीं कहा जा सकता कि वे सामाजिक तथा शैक्षिक आधार पर पिछड़े हुए हैं और इसलिए यह आरक्षण संविधान के अनुच्छेद 15(4) द्वारा विहित परीक्षा पर पूरा नहीं उतरेगा। पिटीशनरों ने यह प्रकथन किया है कि सामान्य ग्राम्य विद्यालयों तथा नगर विद्यालयों में अपनाया गया प्रथम श्रेणी से लेकर आठवीं श्रेणी पर्यन्त पाठ्यक्रम पूर्ण रूप से समरूप है और वह एक ही सरकार द्वारा विहित किया गया है और नगर विद्यालयों में अथवा सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में नियुक्त किए जाने वाले अध्यापकों की अर्हताएं समान हैं और उनका स्थानान्तरण किसी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में हो सकता है। यह भी दलील दी गई कि जैसा कि सम्पूर्ण देश में, वैसे ही हरियाणा राज्य में बहुधा जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में रह रही है और बहुमत के पक्ष में आरक्षण आरम्भतः विधिशून्य होगा। अन्त में यह कहा गया कि यह वर्गीकरण, मनमाना और विवेकहीन के अतिरिक्त, इन दोनों ही कसौटियों पर खरा नहीं उतरता कि यह किसी बोधगम्य विभेद पर आधारित है और जिन उद्देश्यों को पूरा किया जाना ईप्सित है उनके साथ इसका कोई सम्बन्ध है। पिटीशनरों का यह कहना है कि प्रत्यर्थी सं० 5 से 49 में से कुछ पिटीशनर ऐसे अभ्यर्थियों के लिए आरक्षण के समकक्ष प्रविष्ट कर लिए गए हैं जो कि ग्राम्य क्षेत्रों से आए हैं और यद्यपि पिटीशनरों ने प्रवेश परीक्षा में अधिक अंक अभिप्राप्त किए थे और उन्हें योग्यता सूची में ऊपर रखा गया था, तथापि, उन्हें इस कारण प्रवेश देने से इनकार कर दिया गया है कि आरक्षण सांविधानिक रूप से अविधिमान्य है और इसलिए उनके प्रवेश को अभिखंडित कर दिया जाना चाहिए और विश्वविद्यालय को परमादेश द्वारा यह निदेश दिया जाना चाहिए कि वह ग्राम्य क्षेत्रों से आने वाले विद्यार्थियों के पक्ष में आरक्षण की उपेक्षा करने के पश्चात् प्रवेश हेतु पात्रता पर विचार करे।

3. विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार श्री के० एल० गुगलानी ने अन्य बातों के साथ-साथ, ये दलीलें पेश करते हुए प्रतिशपथपत्र फाइल किया कि

वर्गीकरण तथा परिणामिक आरक्षण संविधान के अनुच्छेद 14 के अधीन विधिमान्य है। यह दलील दी गई कि मेडिकल कालेज में प्रवेश के विषय में प्रादेशिक असंतुलन को उचित रूप देने के लिए हरियाणा सरकार ने समानान्तर प्रसुविधा/1979 में प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च स्कूल के प्रक्रमों पर ग्रामीण तथा नगर क्षेत्रों में स्थित विद्यालयों के विद्यार्थियों के बीच असमानताओं का एक नमूना सर्वेक्षण किया था जिससे यह पता चला था कि सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थी गम्भीर असुविधा से ग्रस्त हैं जैसे कि ग्रीष्म ऋतु में बिजली के पंखों का उपलभ्य न होना और वर्षा ऋतु के प्रारंभ होने पर विद्यालय में जाने में कठिनाई अनुभव करना, जिसके परिणामस्वरूप ऐसे विद्यालयों में शिक्षा-वर्ष न्यूनतर हो जाता है जिससे कि नगर क्षेत्रों में छात्रों के मुकाबले में, जहां कि शिक्षा-वर्ष अत्यन्त गर्मी अथवा वर्षा ऋतु द्वारा विघ्न-रहित रहता है, उनकी शिक्षा सम्बन्धी उपलब्धियों में पारिणामिक असुविधा रहती है। इस नमूना सर्वेक्षण से इस बात का भी पता चला कि अधिकतर सामान्य ग्राम्य विद्यालय अनुचित भवनों में स्थित हैं, उनमें कर्मचारिवृन्द की कमी है और उपस्करों की त्रुटि है। किसी भी सामान्य ग्राम्य विद्यालय में विद्यार्थियों के नियमित चिकित्सा परीक्षा के लिए व्यवस्था नहीं है जिसके परिणामस्वरूप उनके स्वास्थ्य के बनाए रखे जाने में उपेक्षा होती है और यह भी ग्राम्य क्षेत्रों में विद्यार्थियों की निम्न उपलब्धियों सम्बन्धी एक तत्व बन जाता है। नमूना सर्वेक्षण से इस बात का भी पता चला कि सामान्य नगर विद्यालयों में कार्यरत शिक्षक जो कि नगर क्षेत्रों में ही निवास करते हैं, ठीक समय पर उपस्थित हो जाते हैं जिससे कि वे समय पर कक्षाओं में आ जाते हैं और जैसे ही स्कूल का समय समाप्त होता है, वे वहां से चले जाते हैं और इस प्रकार विद्यार्थियों से वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित किए जाने से प्रत्याख्यान होता है जिसके परिणामस्वरूप ऐसे विद्यार्थियों को विकास का अवसर प्रदान किए जाने से वंचित रहना पड़ता है। आगे यह निवेदन किया गया कि मेडिकल शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् नगर क्षेत्रों में आने वाले विद्यार्थियों द्वारा ग्राम्य क्षेत्रों में निवास करने से प्रत्याख्यान कर दिया गया हालांकि इससे ग्राम्य जनसख्या के लिए गंभीर रूप से अपेक्षित मेडिकल प्रसुविधाओं का विस्तार करने में बहुत सहायता मिलती। इस असंतुलन तथा सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों द्वारा महसूस की गई अत्यन्त असुविधा को सुचारु रूप देने के लिए प्रवेश की ईप्सा करने वाले विद्यार्थियों का विभाजन दो भिन्न-भिन्न वर्गों में कर दिया गया जो कि बोधगम्य विभेद पर आधारित था और यह कि यदि मेडिकल शिक्षा का उद्देश्य ऐसे स्थानों में मेडिकल प्रसुविधाओं का विस्तार करना है जिनमें कि वे सर्वाधिक अपेक्षित हैं, तो

ग्राम्य क्षेत्रों से आने वाले अभ्यर्थियों के लिए आरक्षण इस उद्देश्य की पूर्ति करेगा और इसलिए राज्य सरकार ने यह युक्तियुक्त तथा विवेकशील वर्गीकरण करके पूर्णतः न्यायौचित्य किया है।

4. बाद में मेडिकल कालेज, रोहतक के निदेशक-प्रिंसिपल डा० डी० सी० मेहरोत्रा ने प्रत्यर्थी सं० 1 से 3 की ओर से एक प्रतिशपथपत्र फाइल किया जिसके बारे में यह प्रतीत होता है कि वह रजिस्ट्रार श्री गुगलानी द्वारा फाइल किए गए शपथपत्र की प्रतिलिपि मात्र है।

5. जो एकमात्र प्रश्न उत्तर की अपेक्षा रखता है, वह यह है कि क्या विश्वविद्यालय से सम्बद्ध मेडिकल कालेज में 1982 वाले सत्र में प्रवेश हेतु ग्राम्य क्षेत्रों के लिए 25 स्थानों का आरक्षण सांविधानिक रूप से विधिमान्य है या नहीं। इस बात को तुरन्त स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि प्रत्यर्थियों ने सर्वथा अनुच्छेद 15 के उप-अनुच्छेद (4) के अधीन आरक्षण को कायम रखने के बारे में कोई प्रयत्न नहीं किया था जो राज्य को इस योग्य बनाता था कि नागरिकों के किन्हीं सामाजिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए अथवा अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की प्रगति के लिए विशेष उपबन्ध कर सके। प्रत्यर्थियों ने यह दलील दी कि ग्राम्य क्षेत्रों से आए हुए अभ्यर्थियों के लिए 25 स्थानों का आरक्षण विधिमान्य है और संविधान के अनुच्छेद 14 के अधीन कायम नहीं रखा जा सकता। इसलिए प्रश्न यह है: क्या नगर के विद्यालयों तथा सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षित विद्यार्थियों के बीच वर्गीकरण किसी बोधगम्य विभेद पर आधारित है जिसका कि प्राप्त किए जाने के लिए ईप्सित उद्देश्यों से वैवेकिक सम्बन्ध है ?

6. यह सुस्थिर है कि अनुच्छेद 14 वर्ग संबंधी विधान को प्रतिषिद्ध करता है किन्तु यह विधान के विषय में युक्तियुक्त वर्गीकरण को अनुज्ञात करता है। अनुच्छेद 14 के अधीन अनुज्ञेय वर्गीकरण को कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह इन दोनों कसौटियों का समाधान करे : (1) वर्गीकरण किसी ऐसे बोधगम्य विभेद पर आधारित है जो ऐसे व्यक्तियों अथवा वस्तुओं को जो एक समूह में रखी गई हैं, अन्य व्यक्तियों अथवा वस्तुओं से प्रभेद करता है जिन्हें समूह में से बाहर रखा गया है तथा (2) निश्चित रूप से ऐसा विभेद आक्षेपकृत उपबंध द्वारा प्राप्त किए जाने के लिए अपेक्षित उद्देश्य से वैवेकिक संबंध रखता है।

7. क्या मेडिकल कालेज में प्रवेश के विषय में नगर क्षेत्रों के मुकाबले में ग्राम्य क्षेत्रों से आने वाले अभ्यर्थियों के आधार पर वर्गीकरण इन

दोनों कसौटियों पर खरा उतरता है ? यदि फिलहाल प्रत्यर्थियों द्वारा आश्रित वर्गीकरण की विस्तीर्णता सम्बन्धी प्रयत्न को उपेक्षित कर दिया जाए तो व्यापक वर्गीकरण यह है कि ग्राम्य क्षेत्रों से आने वाले विद्यार्थी मेडिकल कालेज में प्रवेश के प्रयोजन के लिए पृथक् रूप से वर्गीकृत किए गए हैं। आरक्षण का वर्णन विवरण-पत्र में इस प्रकार किया गया है :—"ग्राम्य क्षेत्र—25 स्थान।" यदि बात यहीं समाप्त हो जाती तो **उत्तर प्रदेश राज्य बनाम प्रदीप टण्डन**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय देना अनावश्यक होता। ऐसी दशा में उत्तर प्रदेश राज्य ने इस आधार पर ग्राम्य, पहाड़ी और उत्तरखण्ड क्षेत्रों से आने वाले अभ्यर्थियों के पक्ष में मेडिकल कालेज में प्रवेश हेतु आरक्षण किए गए थे कि इन क्षेत्रों से आने वाले व्यक्ति सामाजिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए वर्गों के थे। इस आरक्षण पर इस आधार पर आक्षेप किया गया था कि वह अनुच्छेद 14 और 15 का अतिलंघन करता है और अनुच्छेद 15(4) द्वारा संरक्षित नहीं है। राज्य ने यह दलील देते हुए अनुच्छेद 15(4) के अधीन वर्गीकरण को कायम रखने की कोशिश की कि वर्गीकरण का उद्देश्य आरक्षित क्षेत्र से आने वाले अभ्यर्थियों के लिए मेडिकल शिक्षा हेतु प्रसुविधा की प्रगति करना था क्योंकि इन क्षेत्रों से आने वाले लोग सामाजिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए वर्गों के थे। इस दलील को भागतः स्वीकार कर लिया गया और भागतः नकारात्मक करार दे दिया गया। ग्राम्य क्षेत्रों से आने वाले अभ्यर्थियों के आरक्षण को अभिखंडित करते हुए न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि ग्राम्य क्षेत्रों के लिए आरक्षण इस आधार पर कायम नहीं रखा जा सकता कि ग्राम्य क्षेत्र सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए नागरिक-वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं और आरक्षण के बारे में यह प्रतीत होता है कि वह राज्य की अधिकतर जनसंख्या के लिए तथा जन्म स्थान के आधार पर विरचित किया गया था। न्यायालय ने पहाड़ी तथा उत्तर खंड क्षेत्रों से आने वाले अभ्यर्थियों के सम्बन्ध में आरक्षण को इस आधार पर कायम रखा कि आरक्षण ऐसे क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों के पक्ष में था जो कि सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए वर्गों के नागरिक थे। ग्राम्य क्षेत्रों से आने वाले अभ्यर्थियों के पक्ष में आरक्षण के मामले को प्रभेदित करते हुए न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि अनुच्छेद 15(4) द्वारा अनुध्यात पिछड़ापन नागरिकों का सामाजिक एवं शैक्षिक पिछड़ापन है और यहां जोर नागरिकों के ऐसे वर्गों पर दिया गया है जो कि सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए हैं और इसलिए सामाजिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए नागरिकों

---

[1] [1975] 2 उम० नि० प० 187=[1975] 2 एस० सी० आर० 761.

को ऐसे क्षेत्रों के समरूप नहीं रखा जा सकता कि वे सम्पूर्ण रूप से सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। न्यायालय ने सारांश में यह कहा कि हो सकता है कि ग्राम्य क्षेत्रों में कुछ लोग शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए हों, कुछ ऐसे हों जो सामाजिक रूप से पिछड़े हुए हैं और कुछ ऐसे भी लोग हो सकते हैं जो सामाजिक एवं शैक्षिक दोनों रूप से पिछड़े हुए हैं, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सभी ऐसे नागरिक जो ग्राम्य क्षेत्रों में निवास करते हैं, सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए हों। तदनुसार, ग्राम्य क्षेत्रों से आने वाले अभ्यर्थियों के पक्ष में आरक्षण के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह सांविधानिक दृष्टि से अविधिमान्य है। यही युक्ति किंचित यथा-आवश्यक परिवर्तनों सहित वर्तमान मामले के तथ्यों को लागू होगी क्योंकि यहां आरक्षण ऐसे अभ्यर्थियों के पक्ष में है जो कि ग्राम्य क्षेत्रों से आए हैं।

8. किन्तु विश्वविद्यालय की ओर से श्री पी० पी० राव द्वारा यह दलील दी गई थी कि न्यायालय को चाहिए कि विवरण-पत्र में दिए गए शीर्षक तक ही अपने आपको सीमित न रखे बल्कि वह सम्पूर्ण उस प्रविष्टि का परिशीलन करे जिसमें कि आरक्षण को विनिर्दिष्ट किया गया है और विशेष रूप से आरक्षित स्थानों के फायदे के लिए पात्रता की शर्तों पर ध्यान दे। इस प्रकार इसका परिशीलन करने पर यह कहा गया कि आरक्षण ग्राम्य क्षेत्रों से आने वाले विद्यार्थियों के पक्ष में नहीं था, बल्कि वह उन विद्यार्थियों के पक्ष में जिन्होंने कि सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की थी। मामले में अग्रसर होते हुए, यह कहा गया कि कोई अभ्यावेदन करने से पूर्व राज्य सरकार ने एक नमूना सर्वेक्षण किया था, जिसके प्रभाग प्रति-शपथपत्र से सन्नध किंचित पत्र-व्यवहार में उद्धृत किए गए हैं और यदि उनकी परीक्षा उचित पर्यवेक्षण में की जाती है तो उससे यह दर्शित होता है कि सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षित विद्यार्थी कतिपय असुविधाओं से ग्रस्त थे और वे नगर विद्यालयों से आए हुए विद्यार्थियों के लिए प्रतियोगिता करने हेतु उच्च योग्यता प्राप्त करने के विषय में सुविधाग्रस्त थे और इसलिए राज्य ने यह उचित समझा कि इस प्रकार के सुविधाग्रस्त विद्यार्थियों के लिए प्रवेश के विषय में संरक्षण का विस्तार किया जाना चाहिए। इस दलील का विस्तार आगे यह कह कर किया गया कि नगर क्षेत्रों से आए हुए विद्यार्थी, जो कि मेडिकल कालेज में प्रवेश पाते हैं, वे सामान्य रूप से मेडिकल सेवा प्रदान करने के लिए ग्राम्य क्षेत्रों में जाने के लिए अनिच्छुक होते हैं जब कि यदि ग्राम्य क्षेत्रों से आने वाले विद्यार्थियों को मेडिकल शिक्षा ग्रहण करने के लिए आरक्षण द्वारा प्रोत्साहन दिया जाता है तो उनसे युक्तियुक्त रूप से यह प्रत्याशा की जा सकती है कि वे ग्राम्य क्षेत्रों में ही वापस लौटेंगे जो कि उनके बचपन का पर्यावरण है और वे ऐसे ग्राम्य स्थलों को

अपने कार्यकलाप का क्षेत्र बनाएंगे जिससे साथ ही साथ ग्राम्य क्षेत्रों में मेडिकल सेवा का विस्तार हो जाएगा जहां कि अन्यथा इस निमित्त बहुत कमी है। इस बात का उल्लेख किया गया कि सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में न तो प्रयोगशालाएं हैं और न पुस्तकालय-प्रसुविधाएं हैं और यह कि इन विद्यालयों में उपस्करों की कमी है, इनके भवन सनुचित हैं और कर्मचारिवृन्द के विषय में इनमें घटिया आदमी सेवारत रहते हैं और इस प्रकार यहां प्रसुविधाओं और उपस्कर का अभाव बना रहता है। इन असुविधाओं पर काबू पाने के लिए तथा नगर विद्यालयों के विद्यार्थियों के मुकाबले, जो कि ऐसे विद्यालयों से आते हैं जिनमें प्रचुर मात्रा में उपस्कर होते हैं और जहां अत्यन्त उच्च कोटि का कर्मचारिवृन्द होता है, प्रचण्ड प्रतियोगिता से ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षित विद्यार्थियों को अवसर प्रदान करने के लिए, सामान्य ग्राम्य विद्यालयों से आने वाले विद्यार्थियों के बीच तथा उन विद्यार्थियों के बीच जो नगर विद्यालयों से आते हैं, मेडिकल कालेज में प्रवेश के विषय में वर्गीकरण दोहरे सांविधानिक रूप से विधिमान्य वर्गीकरण की कसौटी पर खरा उतरता है।

9. इससे पूर्व कि कोई व्यक्ति 1982 वाले वर्ष में मेडिकल कालेज में प्रवेश हेतु परीक्षा में बैठने के लिए पात्र बन सकता, ऐसे विद्यार्थी के लिए यह विवशक था कि उसके द्वारा बारहवें स्तर की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली गई हो। यह बात उन सभी विद्यार्थियों की बाबत सही है जो कि मेडिकल कालेज में प्रवेश की ईप्सा कर रहे थे, बावजूद इस तथ्य के कि उन्होंने सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में अथवा नगर विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की थी। अब आरक्षण "ग्राम्य क्षेत्रों से आने वाले अभ्यर्थियों' के पक्ष में है जिस अभिव्यक्ति को विस्तीर्ण करने से यह अभिप्रेत है कि 'अभ्यर्थी द्वारा निश्चित रूप से किसी ऐसे ग्राम्य में स्थित सामान्य ग्राम्य विद्यालय से श्रेणी एक से लेकर श्रेणी आठ तक शिक्षा ग्रहण की हो और वहां आठवीं कक्षा की परीक्षा उत्तीर्ण की हो और वह ग्राम ऐसा ग्राम होना चाहिए जो कि न तो कोई नगरपालिका और न ही कोई अधिसूचित क्षेत्र अथवा नगर क्षेत्र समिति हो।' यह तुरन्त प्रतीत होगा कि मेडिकल कालेज में प्रवेश की ईप्सा करने वाले प्रत्येक अभ्यर्थी के लिए यह आवश्यक है कि उसके द्वारा बारहवीं कक्षा तक अध्ययन किया गया हो जिससे यह अभिप्रेत है कि किसी सामान्य ग्राम्य विद्यालय से आया हुआ अभ्यर्थी भी, जिसका कि यह अर्थ है कि वह ऐसा अभ्यर्थी होना चाहिए जिसने अपनी शिक्षा ऐसे विद्यालय में आठवीं कक्षा तक प्राप्त की हो, तथापि ,तत्पश्चात् उसने किसी ऐसे विद्यालय में प्रवेश ग्रहण किया हो जो कि बारहवें स्तर तक शिक्षा प्रदान करता है। ऐसे अभ्यर्थी द्वारा सामान्य ग्राम्य विद्यालय से उत्तीर्ण होने के

पश्चात् चार वर्ष की कालावधि के लिए किसी विद्यालय में प्रवेश होना चाहिए। इस बात का कहीं भी सुझाव नहीं दिया गया है कि किसी सामान्य ग्राम्य विद्यालय से आए हुए किसी अभ्यर्थी द्वारा चार वर्ष के लिए यह शिक्षा किसी ऐसे विद्यालय में हो जो या तो नगर विद्यालय के समतुल्य न हो अथवा समानांतर रूप से उसमें उपस्करों की कमी हो, उचित भवनों का अभाव हो अथवा शिक्षा कर्मचारिवृन्द समुचित न हों। इससे जो आवश्यक अनुमान परिणत होता है वह यह है कि मेडिकल कालेज में प्रवेश की ईप्सा करने वाले सभी विद्यार्थियों ने कम से कम पिछले चार वर्षों में शिक्षा ऐसे विद्यालयों में ग्रहण की है जो समानांतर रूप से समरूप हैं। ऐसी दशा में भला मेडिकल कालेज में प्रवेश के प्रयोजन के लिए कक्षा एक से कक्षा आठ पर्यन्त ग्रहण की गई शिक्षा कहां तक सुसंगत है ? यह स्वीकार किया गया था कि ऐसे विशिष्ट विषय जो किसी अभ्यर्थी को मेडिकल कालेज में प्रवेश हेतु प्रवेश परीक्षा में बैठने के लिए योग्य बनाते हैं, उनका वर्णन ग्यारहवें स्तर में और तत्पश्चात् विषयों में से करना होगा। यह भी स्वीकार किया गया था कि कक्षा एक से कक्षा आठ पर्यन्त विद्यार्थियों के लिए पाठ्यक्रम नगर विद्यालयों अथवा सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में पूर्णतः समरूप है और उसे एक ही प्राधिकरण द्वारा विहित किया गया है और इस पाठ्यक्रम में सामान्य ज्ञान के विषय अन्तर्विष्ट हैं। इसमें किसी विशिष्ट ज्ञान के लिए कोई उपबंध नहीं किया गया है। इसलिए यह बात समझ में नहीं आती कि भला मेडिकल कालेज में प्रवेश के लिए श्रेणी एक से श्रेणी आठ तक शिक्षा को क्या महत्व प्रदान किया जा सकता है जिसका विभाजन अन्य चार वर्षों की अवधि द्वारा किया गया है अर्थात् कक्षा नौ से कक्षा बारह (जिसमें दोनों कक्षाएं अन्तर्विष्ट हैं) पर्यन्त है और जिसकी बाबत सभी विद्यालयों से आए हुए विद्यार्थियों की बाबत सभी विद्यालय समरूप दृष्टिकोण से स्थित हैं, समरूप परिस्थितियों से युक्त हैं और समरूप दृष्टिकोण से आस्थित हैं और उनसे समरूप दृष्टिकोण से व्यवहार किया जाता है और तनिक भी भेदभाव के बिना, वहां का वातावरण समान शैक्षिक रूप धारण करता है। अब प्रश्न यह है कि क्या पूर्ववर्ती भेदभाव, यदि कोई ऐसा भेदभाव हो, तो उसके द्वारा वर्गीकरण के लिए वैवेकिक आधार का उपबन्ध किया जा सकता है। प्रत्यक्ष रूप से इसका उत्तर नकारात्मक है। कक्षा एक से कक्षा आठ पर्यन्त बिताए गए वर्षों में अर्जित ज्ञान सामान्य प्रकृति का ज्ञान है जिसमें विद्यार्थी को पढ़ाना, लिखाना, साधारण अंकगणित को समझना, इतिहास, भूगोल तथा प्रारम्भिक गणित का सामान्य ज्ञान प्रदत्त किया जाता है। इन विषयों के प्रारम्भिक ज्ञान के बारे में कदाचित ही यह कहा जा सकता है कि उससे किसी विद्यार्थी को मेडिकल कालेज में प्रवेश पाने के योग्य बनाया जाता है। कक्षा नौ और दस

में प्रदत्त शिक्षा प्रारम्भिक शिक्षा से तनिक ही उच्च कोटि की है। इन कक्षाओं में विद्यार्थी को गहन अध्ययन के लिए तैयार किया जाता है। विशेष विषयों का चयन श्रेणी ग्यारह और बारह में करना होता है और श्रेणी नौ से बारह में शिक्षा की बाबत सभी विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को समरूप स्थिति में रखा जाता है, उनकी परिस्थितियां समरूप होती हैं और बिना किसी भेदभाव के उन्हें समरूप दृष्टिकोण से आस्थित रखा जाता है। कक्षा एक से आठ में शिक्षा के संबंध में पूर्ववर्ती असुविधा, यदि कोई हो तो, वह सर्वथा विसंगत हो जाती है और उसका कोई महत्व नहीं रहता इसलिए वह किसी बोधगम्य विभेद के लिए उपबन्ध नहीं कर सकता जो व्यक्तियों में प्रभेद लाता हो, उदाहरणार्थ, ऐसे विद्यार्थियों में, जो प्रवेश की ईप्सा कर रहे हैं, उनके बारे में समूहीकरण को इस आधार पर अभिखंडित करता हो कि उन अवशिष्ट अर्थात् शेष विद्यार्थियों के बारे में है जिन्होंने सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की है। इसलिए यह एक उपपरिणाम के रूप में आगे आता है कि सामान्य ग्राम्य विद्यालयों से आए हुए विद्यार्थियों पर आधारित वर्गीकरण जिससे ऐसे विद्यार्थी अभिप्रेत हैं, जिन्होंने प्रथम श्रेणी से लेकर आठवीं श्रेणी पर्यन्त नगर विद्यालयों में शिक्षित विद्यार्थियों के मुकाबले में सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में उक्त कक्षाओं में शिक्षा प्राप्त की थी, यह उसके आधार पर किसी वर्गीकरण को करने के लिए बोधगम्य विभेद के लिए उपबन्ध नहीं होगा। ऐसी स्थिति में वर्गीकरण सर्वथा मनमाना तथा विवेकहीन होगा और इसलिए ऐसे वर्गीकरण पर आधारित आरक्षण सांविधानिक रूप से अविधिमान्य होगा। यह दृष्टिकोण जो कि हम अब अपना रहे हैं, इसे **आरती सप्रू** बनाम **जम्मू-कश्मीर राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय से समर्थन प्राप्त होता है जिसमें कि इस न्यायालय ने किंचित भागों को साम्यागत तथा एकरूप व्यवहार प्रदान करने के लिए राज्य के विभिन्न भागों की बाबत प्रवेश में यदि कोई असन्तुलन था तो उसका उपचार सुनिश्चित करने के लिए परस्पर योग्यता के आधार पर भरे जाने वाले स्थानों में से 20 प्रतिशत स्थानों के आरक्षण को अभिखंडित कर दिया था। न्यायालय ने **प्रदीप टण्डन**[2] वाले मामले में दिए गए विनिश्चय का अनुसरण करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि राज्य ने जो वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया था, उसमें मनमानेपन का दोष विद्यमान है और इसलिए इसे अविधिमान्य घोषित कर दिया जाना चाहिए।

---

[1] [1982] 1 उम० नि० प० 595=[1981] 3 एस० सी० आर० 34.

[2] [1975] 2 उम० नि० प० 187=[1975] 2 एस० सी० आर० 761.

10. किन्तु प्रत्यर्थियों की ओर से यह दलील दी गई थी कि प्रदीप टण्डन वाले मामले में जो विनिश्चय दिया गया था उससे कोई सहायता प्राप्त नहीं होगी और वह प्रभेदनीय है क्योंकि उस मामले में आरक्षण ग्राम्य, पहाड़ी और उत्तरखण्ड क्षेत्रों से आए हुए अभ्यर्थियों के पक्ष में था और इस बात पर आधृत था कि इन क्षेत्रों से आने वाले लोग सामाजिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए वर्गों के लोग हैं जबकि प्रस्तुत मामले में आरक्षण ग्राम्य क्षेत्रों में कृत्यशील सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षा हेतु सुविधाओं के अभाव पर आधारित है और इस बात पर भी कि प्रदीप टण्डन वाले मामले में दी गई दलीलों में से जिस एक दलील को न्यायालय ने स्वीकार कर लिया था, वह यह थी कि आरक्षण बहुमत के पक्ष में जो एक ऐसा पहलू है जो प्रस्तुत मामले में उद्भूत नहीं होता है। इस दलील के समर्थन में प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने हमारे समक्ष विस्तारपूर्वक **अमर वीर सिंह** बनाम **महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक और अन्य**[1] वाले मामले में पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय का परिशीलन किया था। उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ जिसका सभापतित्व उस समय के विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा किया गया था, आक्षेपकृत आरक्षण को कायम रखा था। उच्च न्यायालय ने **प्रदीप टण्डन**[2] वाले मामले में दिए गए विनिश्चय का प्रभेद यह अवलोकन करते हुए किया था कि राज्य यह दलील देते हुए अनुच्छेद 15(4) के अधीन आरक्षण को कायम रखने की ईप्सा करता था कि ग्राम्य क्षेत्रों से आए हुए अभ्यर्थी सामाजिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए वर्गों के नागरिक थे और इस दलील को न्यायालय का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ, हालांकि न्यायालय ने स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार कर लिया था कि पहाड़ी और उत्तरखण्ड क्षेत्रों से आए हुए अभ्यर्थी सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए वर्गों के नागरिक थे और इस दलील को न्यायालय का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ, हालांकि न्यायालय ने स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार कर लिया था कि पहाड़ी और उत्तरखण्ड क्षेत्रों से आए हुए अभ्यर्थी सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए वर्गों के नागरिक थे और इसलिए उसने पश्चात्वर्ती वर्ग के पक्ष में आरक्षण को कायम रखा था। यह सही है कि राज्य ने अनुच्छेद 14 के अधीन आरक्षण को कायम रखने का प्रयत्न नहीं किया था किन्तु निर्णय में किए हुए कतिपय अवलोकन इस बात को निसंदिग्ध बना देते हैं कि विधिमान्य वर्गीकरण का पहलू न्यायालय के मस्तिष्क में विद्यमान था। यह मत व्यक्त

[1] आई० एल० आर० पंजाब-हरियाणा (1980) 2 पृ० 493.

[2] [1975] 2 उम० नि० प० 187=[1975] 2 एस० सी० आर० 761.

किया गया था कि जनसंख्या का 80 प्रतिशत भाग ग्राम्य क्षेत्रों में रहता है और यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें एकरूपता नहीं है। ग्राम्य निवासी एक वर्ग गठित नहीं कर सकते। और यह आरक्षण जन्मस्थान से सम्बन्धित है। इस प्रकार न्यायालय ने इस बात की जांच की कि क्या ग्राम्य क्षेत्रों से आए हुए अभ्यर्थी मेडिकल कालेज में प्रवेश के प्रयोजन के लिए कोई सुभिन्न सदृश वर्ग गठित करते हैं और उसने इसे रद्द कर दिया। इसके विपरीत उच्च न्यायालय ने **अमर वीर सिंह**[1] वाले मामले में सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षित विद्यार्थियों के वर्गीकरण को कायम रखने का प्रयत्न किया जो हृदयंगम नहीं होता। इस निर्णय का परिशीलन सूक्ष्मतापूर्वक तथा सतर्कता और ध्यानपूर्वक करने से, जो कि इसी विषय पर निर्भर करते हुए उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ का निर्णय गुणान्वित है, हमारी यह राय है कि जिस रीति में **प्रदीप टण्डन**[2] वाले मामले में प्रभेद बताने का प्रयत्न किया गया था, वह अबोधगम्य होने के अलावा कृत्रिम था। निस्सन्देह, प्रदीप टण्डन वाले मामले में राज्य ने अनुच्छेद 15(4) के अधीन वर्गीकरण को कायम रखने का प्रयत्न किया था किन्तु वह मामले का सारांश नहीं था। आरक्षण ऐसे अभ्यर्थियों के पक्ष में था जो कि कतिपय क्षेत्र से अर्थात् ग्राम्य क्षेत्रों से आए हुए विद्यार्थी थे। अब यदि ग्राम्य क्षेत्रों से आए हुए अभ्यर्थियों को कैसे गठित किया गया है, उसकी विस्तीर्णता लागू होने वाले प्रभाग को न तो विस्तृत और न ही निर्बन्धित करेगी, तो निर्विवाद रूप से आरक्षण ऐसे अभ्यर्थियों के लिए था जो कि ग्राम्य क्षेत्रों से आए थे और जिन्हें प्रदीप टण्डन वाले मामले में सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग के क्षेत्रों के रूप में माना गया था। यह सही है कि प्रदीप टण्डन वाले मामले में आरक्षण को अभिखंडित करते समय न्यायालय ने जिन कारणों पर विचार किया था, उनमें से एक महत्वपूर्ण विचार यह था कि वहां आरक्षण बहुमत के पक्ष में था। यद्यपि ऐसी दलील वर्तमान मामले में उपलभ्य है, इसे पेश नहीं किया गया था क्योंकि किसी भी समय हो सकता है कि हरियाणा राज्य में नगर क्षेत्र के अन्तर्गत विद्यमान क्षेत्र तथा उसके आकार और जनसंख्या समानांतर रूप से ग्राम्य क्षेत्र में अधिक हो। हम इस दलील से प्रभावित हुए हैं कि **प्रदीप टण्डन**[2] वाले मामले में जो निर्णय दिया गया था वह प्रभेदनीय था। वास्तव में इस न्यायालय ने **आरती सप्रू**[3] वाले मामले में **प्रदीप टण्डन**[2] वाले मामले में दिए गए विनिश्चय का अनुसरण किया था।

11. यह उपधारणा करते हुए कि प्रदीप टण्डन वाले मामले में जो विनिश्चय

---

[1] ग्राई० एल० आर० पंजाब-हरियाणा (1980) 2 पृष्ठ 493.

[2] [1975] 2 उम० नि० प० 187=[1975] 2 एस० सी० आर० 761.

[3] [1982] 1 उम० नि० प० 595=[1981] 3 एस० सी० ग्रार० 34.

दिया गया था वह इस मामले में उठाए गए प्रश्न को अन्तिम रूप नहीं देता, जिस विभेद पर वर्गीकरण आधारित है उसके बारे में यह प्रतीत होता है कि वह मनमाना तथा विवेकहीन है। यह किस रूप में मनमाना तथा विवेकहीन है इस बात को प्रदर्शनात्मक रीति से साबित किया जा सकता है। आरक्षण का लाभ उठाने के लिए निकटवर्ती नगर क्षेत्रों से आए हुए अभ्यर्थी नगर समूह के आसपास विद्यमान किसी सामान्य ग्राम्य विद्यालय में प्रवेश ग्रहण कर सकते हैं। और ऐसे सभी ग्राम्य विद्यालयों को बिना किसी अपवाद के यह कह कर लांछित नहीं किया जा सकता कि उनके भवन पर्याप्त नहीं हैं, उनमें कर्मचारिवृन्द सही स्तर का नहीं है और उनमें उपस्करों का अभाव है। हरियाणा में कृषि एक अत्यन्त उपयोगी व्यवसाय रहा है और किसी ग्राम्य क्षेत्र में औसत कृषक के जीवन का स्तर माध्यमिक वर्ग तथा औद्योगिक कर्मकरों एवं गन्दी बस्ती क्षेत्रों में निवास करने वाले व्यक्तियों की तुलना में कहीं ऊंचा उठ चुका है जिनकी सन्तान आवश्यकतानुसार नगर विद्यालयों में पढ़ती है। तथापि बेहतर स्थिति में रहने वाले लोग आरक्षण का उपभोग कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त, आठवीं श्रेणी पर्यन्त शिक्षा पर आधारित वर्गीकरण का आधार सर्वथा विवेकहीन है। और प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य से इसका कोई संबंध नहीं है जिससे कि मेडिकल कालेज में प्रवेश पाने के लिए ग्राम्य क्षेत्रों से आए हुए अभ्यर्थियों को अतिरिक्त प्रसुविधा प्रदान की जाए।

12. वर्गीकरण द्वारा प्राप्त किए जाने के लिए ईप्सित उद्देश्य क्या था ? यह कहा गया था कि पहली कक्षा से आठवीं कक्षा पर्यन्त सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थी तुलनात्मक दृष्टि से उन विद्यार्थियों की अपेक्षा हानि में रहते हैं जो कि उन्हीं कक्षाओं में नगर विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करते हैं। हमारी राय में, यह तुलना इस कारण भ्रामक है कि एक ही सरकार प्रथम कक्षा से आठवीं कक्षा तक नगर और ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षा प्रदान करने के लिए शिक्षा, उपस्कर, अनुदान और प्रसुविधाएं जिनके अन्तर्गत इन दोनों प्रकार के विद्यालयों में नियोजित किए जाने वाले कर्मचारिवृन्द की अर्हताएं भी शामिल हैं, विहित करती है। तथापि, जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है, कक्षा एक से कक्षा आठ पर्यन्त शिक्षा प्राप्त करने के समय विद्यार्थी द्वारा अर्जित ज्ञान का मेडिकल कालेज में प्रवेश हेतु परीक्षा में बैठने के लिए मानसिक स्तर ग्रहण करने में कदाचित ही कोई सुसंगति है। वास्तविक चुनौती दो कक्षा 11 और 12 में सम्मुख आती है। इस निमित्त सभी विद्यार्थी अर्थात् वे जो कि सामान्य ग्राम्य विद्यालयों से आते हैं और वे जो नगर विद्यालयों से आते हैं—समरूप आधार

पर होते हैं और समरूप स्थिति में रहते हैं तथापि किसी भूतपूर्व घटना के प्रति निर्देश से जो कि प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्यों से सर्वथा असंबंधित है, उन्हें कृत्रिम रूप से विभाजित कर दिया गया है।

13. किन्तु यह कहा गया था कि इस आरक्षण को करने में एक अन्य उल्लेखनीय प्रयोजन भी था। नगर क्षेत्रों से आने वाले विद्यार्थी ग्राम्य क्षेत्रों में व्यवसाय सेवा करने में अनिच्छुक रहते हैं और इसलिए यदि ग्राम्य सामान्य विद्यालयों से आने वाले विद्यार्थियों को प्रवेश पाने में प्रोत्साहित किया जाता है तो यह हो सकता है कि वे निश्चित अर्हता अभिप्राप्त करने के पश्चात् अपने बचपन के वातावरण में लौटना पसन्द करे और इस प्रकार ग्राम्य क्षेत्रों में दक्ष मेडिकल सेवा का विस्तार करने में सहायता करे जो कि इस समय सर्वथा उपेक्षित है। यह दलील दी गई थी कि यदि कोई प्रदेश मेडिकल सेवाओं में बुरी तरह से कमी का शिकार है तो शैक्षिक तथा स्वास्थ्य संबंधी सेवा के बीच विषमता उस मानसिक प्रदेश के लिए उद्भूत हो जाती है जिसका उपचार किसी कल्याणकारी को निश्चित रूप से करना चाहिए। यह दलील दी गई थी कि आरक्षण इस दिशा में एक कदम था। इस दलील के समर्थन की ईप्सा **जगदीश सरन** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले के प्रति निर्देश द्वारा की गई थी। यह दृष्टिकोण इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि सामान्य ग्राम्य विद्यालयों में शिक्षित विद्यार्थी भी मेडिकल कालेज में प्रवेश पाने से पूर्व चार वर्ष के लिए नगर विद्यालयों में प्रविष्ट रहेंगे और तत्पश्चात् वे मेडिकल कालेज में लगभग पांच वर्ष व्यतीत करेंगे। इस बात की कोई गारन्टी नहीं है, सिवाय इसके कि यह मात्र इच्छाजनित धारणा है, कि वे ग्राम्य क्षेत्रों में लौट जाएंगे। इस वर्गीकरण को कायम रखने के लिए यह अत्यन्त निराधार सामग्री है।

14. इसलिए हमारा समाधान हो गया है कि यह वर्गीकरण किसी बोधगम्य विभेद पर आधारित नहीं है और चाहे जो भी हो इसका संबंध प्राप्त किए जाने के लिए ईप्सित उद्देश्य के साथ विवेक की दृष्टि से नहीं है। यह वर्गीकरण विवेकहीन तथा मनमाना है। ऐसे वर्गीकरण पर आधारित आरक्षण सांविधानिक रूप से अविधिमान्य है।

15. इससे पूर्व कि हम इस निर्णय को समाप्त करें, **सुखविन्दर कौर** बनाम **हिमाचल प्रदेश राज्य और अन्य**[2] वाले मामले के प्रति निर्देश करना उचित होगा। उस मामले में उच्च न्यायालय ने उन अभ्यर्थियों के लिए 12

---

[1] [1981] 1 उम० नि० प० 129 = [1980] 2 एस० सी० आर० 831.

[2] ए० आई० आर० 1974 हिमाचल प्रदेश 35.

स्थानों के आरक्षण को कायम रखा था जिन्होंने कि ग्राम्य क्षेत्रों में स्थित विद्यालयों से यथास्थिति मैट्रिक अथवा उच्चतर माध्यमिक परीक्षा उत्तीर्ण की थी। पूर्वोक्त आरक्षण को मात्र यह अवलोकन करके कायम रखा गया था कि यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है क्योंकि ग्राम्य क्षेत्रों में बालक जो प्रायिक रूप से ऐसे विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते हैं, वे सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक दृष्टि से निर्धन होते हैं और वे नगर क्षेत्र से आए हुए अपने ही आयु वर्ग के बालकों का मुकाबला नहीं कर सकते। इस निर्णय में उस सामग्री के प्रति निर्देश नहीं किया गया है जिन पर कि यह निष्कर्ष आधारित था कि ग्राम्य क्षेत्रों में विद्यमान विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने वाले बालक नगर क्षेत्रों से आए हुए समान आयु वर्ग के बालकों का मुकाबला क्यों नहीं कर सकते। इसके अलावा, उस मामले में स्थिति यह थी कि विद्यार्थी ग्राम्य क्षेत्रों में स्थित विद्यालयों में उच्चतर माध्यमिक परीक्षा पर्यन्त शिक्षा ग्रहण करते थे और उन्हें तत्पश्चात सीधे ही नगर क्षेत्रों से आए हुए विद्यार्थियों से मेडिकल कालेज के लिए प्रवेश हेतु मुकाबला करना पड़ता था। हमारे समक्ष जो स्थिति है वह भिन्न है। जैसा कि प्रस्तुत मामले में ऊपर संकेत किया गया है, ऐसे विद्यार्थी जिनके पक्ष में आरक्षण किया गया है, उन्होंने केवल आठवीं कक्षा पर्यन्त सामान्य ग्राम्य विद्यालय में शिक्षा ग्रहण की थी और पिछले चार वर्षों से वे प्रत्येक पहलू में उन विद्यार्थियों के समतुल्य थे जो कि नगर क्षेत्रों से आए हुए थे। इसलिए इस विनिश्चय से यहां कोई सहायता प्राप्त नहीं होती है

16. इन रिट पिटीशनों को मंजूर करते समय हमने जिन कारणों को महत्वपूर्ण समझा वे यही कारण थे।

रिट पिटीशन मंजूर किए गए।

भू०

जे० महापात्रा एण्ड कम्पनी (मैसर्स)

वनाम

उड़ीसा राज्य और एक अन्य

(10 अगस्त, 1984)

(न्यायाधिपति पी० एन० भगवती और डी० पी० मदान)

संविधान, 1950—अनुच्छेद 226—पक्षपात विषयक पिटीशन—विद्यालय तथा महाविद्यालय के लिए पाठ्य पुस्तकों तथा पुस्तकालयों के लिए पुस्तकों का चयन—राज्य सरकार द्वारा गठित समिति की सिफारिश पर चयन किया जाना—पुस्तकों को चयन के लिए प्रकाशकों द्वारा प्रस्तुत किया जाना—कतिपय पुस्तकों के चयन के विषय में तथा समिति के गठन की बाबत आक्षेप—यह नहीं कहा जा सकता था कि प्रकाशक ने चयन के लिए पुस्तकों को प्रस्तुत मात्र करके आक्षेप का अधित्यजन कर दिया था—यदि किसी व्यक्ति द्वारा कोई भी पुस्तक प्रस्तुत न की गई हो, तो उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह 'व्यथित व्यक्ति' नहीं था।

संविधान, 1950—अनुच्छेद 54 तथा 226—पक्षपात—यदि कोई ग्रन्थकार पुस्तकों का चयन करने वाली समिति का सदस्य हो और वह उसके समक्ष अपनी पुस्तक या तो स्वयं या प्रकाशक की मार्फत प्रस्तुत करे, तो वह निश्चित रूप से अपनी पुस्तक अथवा पुस्तकों के चयन की बाबत हितबद्ध होगा—ऐसा व्यक्ति समितियों का सदस्य नहीं होना चाहिए—इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए न्यायालय द्वारा कुछ मार्गदर्शक सिद्धांत अधिकथित किए गए ताकि वे भविष्य में चयन किए जाने की बाबत अपना लिए जाएं।

शब्द और पद—विबंध, अधित्यजन, रिट कार्यवाही, सुने जाने का अधिकार—अर्थान्वयन।

उड़ीसा राज्य में विद्यालय तथा महाविद्यालय के पुस्तकालयों में रखी जाने वाली सामान्य परिशीलन हेतु पुस्तकों के चयन के लिए पद्धति विहित करने संबंधी कोई कानूनी नियम अथवा विनियम विद्यमान नहीं है। तथापि

राज्य सरकार समय-समय पर पुस्तकों के चयन के लिए समितियां गठित करते हुए और प्रक्रिया अधिकथित करते हुए सरकारी संकल्पों के रूप में प्रशासनिक अनुदेश जारी करती है। मोटे तौर पर तीन समितियां गठित की गई हैं, अर्थात निर्धारण उप-समिति, वितरण उप-समिति तथा क्रय समिति। इन समितियों तथा उप-समितियों का कार्यभार संभालने के लिए सदस्यों के रूप में सरकारी पदधारी एवं गैर-सरकारी व्यक्ति नियुक्त किए जाते हैं। प्रत्येक वर्ष राज्य सरकार पुस्तकालयों के लिए पुस्तकों का क्रय करने हेतु एक विनिर्दिष्ट राशि उपलभ्य करती है जिसका वितरण भिन्न-भन्न विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में किया जाता है। प्रत्येक वर्ष क्रय समिति का सदस्य-सचिव स्थानीय समाचार-पत्रों में विज्ञापन देकर प्रकाशकों तथा लेखकों से यह अपेक्षा करता है कि वे विचारार्थ अपनी पुस्तकों को प्रस्तुत करें। तत्पश्चात निर्धारण उप-समिति इस प्रकार प्रस्तुत की गई पुस्तकों पर विचार करती है और फिर पुस्तकों की एक सूची की सिफारिश करती है जो उसके कथनानुसार विद्यालय तथा महाविद्यालय के विद्यार्थियों द्वारा सामान्य परिशीलन के लिए उपयुक्त होती है। क्रय समिति निर्धारण उप-समिति द्वारा की गई सिफारिशों पर विचार करती है और वह एक अन्तिम सूची तैयार करती है। राज्य सरकार को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वह कोई भी कारण बतलाए बिना इस प्रकार प्रस्तुत की गई सूची में से किसी भी पुस्तक को रद्द कर दे और पुस्तकों के निर्धारण, चयन, क्रय तथा वितरण की बावत राज्य सरकार के विनिश्चय को अन्तिम रूप दिया जाता है। 1980, 1981 और 1982 वाले वर्षों के लिए पुस्तकों का चयन इसी रीति में किया गया था। निर्धारण उप-समिति के कुछ सदस्य स्वयं पुस्तकों के लेखक थे और उनके द्वारा लिखी गई कुछ पुस्तकों का चयन किया गया था और उनका क्रय कर लिया गया था। 1982 में अभूतपूर्व बाद और झंझावात के कारण राज्य के बहुत से विद्यालयों तथा महाविद्यालयों को क्षति पहुंची और अनेक विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के पुस्तकालय बाढ़ से बह गए। इस पर केन्द्रीय सरकार ने राज्य के लिए अपने राहत-कार्यक्रम के भागस्वरूप राज्य को गैर-सरकारी विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के पुस्तकालयों के लिए पुस्तकें खरीदने हेतु अनुदान संदत्त किए। यह एक समय-निर्बन्धित अनुदान था, इसलिए राज्य सरकार ने यह महसूस किया कि जिस प्रक्रिया का अनुसरण प्राथमिक रूप से किया जाता है, उसका अनुसरण पुस्तकों के चयन के लिए अपनाना व्यवहार्य नहीं है क्योंकि इसमें बहुत समय लग जाता है और इसलिए उसने यह विनिश्चय किया कि केन्द्रीय सरकार द्वारा संदत्त अनुदान का प्रयोग उन पुस्तकों में से पुस्तकों के क्रय के

संबंध में किया जाए जिनका चयन 1980, 1981 और 1982 वाले वर्षों के लिए पुस्तकों की सूची में से क्रय करके किया जाए। तदनुसार, पुस्तकों के चयन पर विचार करने हेतु एक बैठक आयोजित की गई। 1980, 1981 और 1982 वाले वर्षों के लिए जिन पुस्तकों का चयन किया गया था, उन्हीं का चयन इस बैठक में किया गया था। अपीलर्थियों ने जो कि प्रकाशक हैं, उड़ीसा राज्य तथा उड़ीसा के शिक्षा निदेशक के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पिटीशन फाइल किया जिसमें यह मांग की गई कि 1980, 1981 और 1982 वाले वर्षों के लिए पुस्तकों की जो चयन सूची तैयार की गई थी उसे तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा झंझावात और बाढ़ राहत अनुदान में से पुस्तकों के क्रय की बाबत विनिश्चय को अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर अभिखंडित कर दिया जाए कि निर्धारण उप-समिति के कुछेक सदस्यों के द्वारा पक्षपात किया गया था, जिनकी पुस्तकें चयन हेतु प्रस्तुत की गई थीं। इस रिट पिटीशन की सुनवाई एक समरूप रिट पिटीशन के साथ की गई जो उड़ीसा पब्लिशर्स एण्ड बुकसेलर्स एसोसिएशन द्वारा फाइल किया गया था। उच्च न्यायालय ने एक सामान्य निर्णय द्वारा इन दोनों रिट पिटीशनों को खारिज कर दिया। उड़ीसा उच्च न्यायालय के इस निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपीलार्थी विशेष इजाजत लेकर की गई अपील में उच्चतम न्यायालय में आए हैं। अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—यह एक विरोधाभास प्रतीत होता है कि जब किसी व्यक्ति ने चयन किए जाने के लिए कुछ पुस्तकें प्रस्तुत कर दी हों तो यह कहना होगा कि उसने उस आक्षेप को नकार दिया है जो कि उसने उप-समिति के गठन के संबंध में उठाया था और यह कि जब किसी व्यक्ति ने चयन किए जाने के लिए किन्हीं पुस्तकों को प्रस्तुत ही नहीं किया है, तो वह 'व्यथित व्यक्ति' नहीं है। चयन हेतु मात्र कुछ पुस्तकें प्रस्तुत करके, जिसमें से हो सकता है कि कुछ को चुन लिया गया हो, किसी व्यक्ति के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उसने उस आक्षेप की अवहेलना कर दी है जो कि उसने उस समिति के गठन के संबंध में किया था जो पुस्तकों का चयन करती है। इसी प्रकार मात्र इस कारण कि कोई व्यक्ति चयन किए जाने के लिए कोई भी पुस्तक प्रस्तुत नहीं करता है, यह नहीं कहा जा सकता कि वह व्यथित व्यक्ति नहीं है। 'सुने जाने के अधिकार' की बाबत विधि आज इस देश में तथा इंग्लैंड मे भी प्रचुर रूप से अग्रसर हो चुकी है और लोकहित मुकदमेबाजी में यह आवश्यक नहीं है कि किसी पिटीशनर का स्वयं मामले में वैयक्तिक हित हो। (पैरा 7)

'कोई भी व्यक्ति स्वयं अपने हेतुक का निर्णायक नहीं होगा' यह एक ऐसा सिद्धांत है जो कि विधि में सुस्थिर हो चुका है। न्याय न केवल किया जाना चाहिए बल्कि उसके विषय में यह सुव्यक्त रूप से दर्शित होना चाहिए कि वह किया जा रहा है। यह वही सिद्धांत है जिस पर कि न्यायालयों में कार्यवाहियां संस्थित करने की जनता को स्वतन्त्रता रहती है, सिवाय उन मामलों के जिनमें कि किसी विशेष कारणवश विधि द्वारा यह अपेक्षित अथवा प्राधिकृत है कि सुनवाई "गुप्त" रूप में की जाए। यदि कोई व्यक्ति स्वयं अपने ही हेतुक के विषय में निर्णायक बन जाता है अथवा वह अपने आप उसके परिणाम में दिलचस्पी रखता है तो न्याय के विषय में कदापि यह दर्शित नहीं होता कि वह किया जा रहा है। यह सिद्धांत न केवल न्यायिक कार्यवाहियों को लागू होता है बल्कि वह न्यायिकवत् तथा प्रशासनिक कार्यवाहियों को भी लागू होता है। (पैरा 9)

ग्रन्थकार-सदस्य के पक्ष में वास्तविक पक्षपात तात्विक नहीं है, बल्कि ऐसे पक्षपात की संभाव्यता तात्विक है। ये सभी विचार्य विषय इस बात की अपेक्षा करते हैं कि कोई भी ग्रन्थकार-सदस्य किसी भी ऐसी समिति अथवा उप-समिति का सदस्य नहीं होना चाहिए। किन्तु उपर्युक्त नियम का एक अपवाद है कि कोई भी व्यक्ति अपने हेतुक का निर्णायक नहीं होगा अर्थात् आवश्यकता के सिद्धांत का पालन किया जाएगा। कोई अधिनिर्णायक जो किसी ऐसे विषय में, जिसका कि उसे विनिश्चय करना है, पक्षपात अथवा हित के आधार पर निरर्हता के अध्यधीन है, उससे अधिनिर्णय करने की अध्यपेक्षा की जा सकती है यदि ऐसा कोई अन्य व्यक्ति विद्यमान न हो जो कि अधिनिर्णय करने के लिए सक्षम अथवा प्राधिकृत हो अथवा यदि उसके बिना कोरम गठित नहीं हो सकता हो या यदि कोई अन्य सक्षम अधिकरण गठित न किया जा सकता हो। ऐसे मामलों में नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत के स्थान पर आवश्यकता का सिद्धांत अपनाना होगा क्योंकि अन्यथा मामले का विनिश्चय कोई भी माध्यम नहीं रहेगा तथा न्याय या प्रशासनतंत्र धराशाही हो जाएगा। यह सही है कि उप-समिति के सदस्य एक सरकारी संकल्प द्वारा नियुक्त किए गए थे और उनमें से कुछ उस शासकीय हैसियत के आधार से नियुक्त किए गए थे जिसे कि वह धारण कर रहे थे, जैसे कि सचिव, उड़ीसा सरकार, शिक्षा विभाग तथा निदेशक, उच्चतर शिक्षा इत्यादि। तथापि ऐसे व्यक्तियों को निवारित करने के लिए कोई आधार नहीं है जिनकी पुस्तकें चयन के लिए प्रस्तुत की गई थीं, कि वे इस तथ्य का उल्लेख राज्य सरकार के समक्ष कर सकें ताकि वह यथास्थिति एक या अधिक प्रतिस्थापनों को नियुक्त करके अपने

संकल्प को संशोधित कर सके। समान रूप से ऐसे गैर-शासकीय ग्रन्थकार-सदस्यों को सम्बद्ध विषय में उनके हितबद्ध होने के आधार पर समिति में से त्यागपत्र देने से निवारित करने के लिए कोई आधार नहीं है। (पैरा 11 और 12)

सम्बद्ध सदस्य द्वारा विचार-विमर्श में भाग न लेना मात्र अथवा जब उसकी पुस्तक या पुस्तकों पर विचार किया जा रहा हो, उस समय उसका उठकर चला जाना पर्याप्त नहीं है क्योंकि तत्प्रतिफल का दोष इससे दूर नहीं किया जा सकता। विचार-विमर्श करने वाले सदस्य इस बात को मन में रखेंगे कि उनकी पुस्तकों के चयन की बारी भी आयेगी और सम्बद्ध सदस्य जो कि सम्मिलित नहीं हुआ था, अथवा जो विचार-विमर्श के समय उठकर चला गया था, ऐसी अवस्था में उनकी पुस्तकों का चयन करने के बारे में उनके पक्ष में प्रवृत्ति नहीं रखेगा। (पैरा 15)

प्रकाशकों को मात्र इस कारण कि उन्होंने किसी समय पुस्तकों के चयन से सम्बद्ध समिति अथवा उप-समिति के सदस्यों में से किसी एक सदस्य द्वारा लिखित पुस्तक प्रकाशित की थी, चयन हेतु पुस्तकें प्रस्तुत करने से प्रतिषिद्ध करना अनुचित है। (पैरा 16)

उच्चतम न्यायालय ने ये मार्गदर्शक सिद्धांत अधिकथित किए जिन्हें राज्य सरकार, सरकारी प्राधिकारियों यथा ऐसी सभी समितियों को अपनाना होगा जो पाठ्य पुस्तकों के तथा शिक्षा संस्थानों के पुस्तकालयों के लिए पुस्तकों के चयन के लिए गठित की गई हों—(1) ऐसी समिति में न केवल सरकारी पदधारी होने चाहिए अथवा उसमें सरकारी पदधारियों का आधिक्य होना चाहिए क्योंकि सरकारी पदधारी, किंचित अपवादों को छोड़कर, व्यापक रूप से केवल प्रशासनिक अनुभव रखते हैं। सरकारी पदधारियों के अतिरिक्त समिति को चाहिए कि वह ज्ञान के उन विशिष्ट क्षेत्रों में अग्रगण्य व्यक्तियों से गठित हो, जिसके लिए कि पुस्तकों का चयन किया जा रहा है। गैर-शासकीय सदस्यों की नियुक्ति राजनीतिक संरक्षण के रूप में अथवा राजनीतिक विचारधाराओं के आधार पर या दलों को ध्यान में रखते हुए नहीं की जानी चाहिए बल्कि वह केवल योग्यता के आधार पर की जानी चाहिए। (2) समिति का कोई भी ऐसा सदस्य जिसके द्वारा लिखित अथवा सम्पादित पुस्तक या तो स्वयं उसके द्वारा या उसके प्रकाशक के द्वारा अनुमोदन अथवा चयन के लिए प्रस्तुत की जाती है, समिति का सदस्य नहीं बना रहना चाहिए। यदि वह गैर-शासकीय सदस्य है तो उसे चाहिए कि वह इसी आधार पर समिति में

से त्यागपत्र दे दे। यदि वह सरकारी पदधारी है, तो उसे चाहिए कि वह सरकार को अथवा उस समिति पर उसे नियुक्त करने वाले प्राधिकारी को इस तथ्य से संसूचित करे कि उसके द्वारा लिखित अथवा सम्पादित पुस्तक अनुमोदन अथवा चयन के लिए प्रस्तुत की गई है और सरकार अथवा सम्बद्ध प्राधिकारी को चाहिए कि वह ऐसे सदस्य के स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को प्रतिस्थापित कर दे चाहे वह शासकीय हो अथवा गैर-शासकीय किन्तु जिसकी कोई भी पुस्तक अनुमोदन अथवा चयन के लिए प्रस्तुत न की गई हो। (3) पुस्तकों का कोई भी प्रकाशक अथवा उसका प्रतिनिधि समिति का सदस्य नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए और न ही उसे समिति में उपस्थित रहने अथवा उसके विचार-विमर्श में सम्मिलित होने के लिए अनुज्ञात किया जाना चाहिए। उड़ीसा राज्य को यह निदेश दिया जाता है कि वह सरकारी संकल्प को समुचित रूप से संशोधित करे अथवा नए सिरे से एक अधिसूचना जारी करे जिसमें उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिकथित मार्गदर्शक सिद्धांत समाविष्ट हों और किसी भी स्थिति में इसे पुस्तकों के अग्रिम चयन से पूर्व सम्पन्न कर दिया जाना चाहिए और इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि जो चयन पहले किए जा चुके हैं उन पर कोई प्रभाव न पड़े। (पैरा 17 और 19)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1970]	[1970] 2 उम० नि० प० 389=[1970] 1 एस० सी० आर० 457 : **ए० के० केराइपक और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य ;**	10,11
[1937]	(1937) 53 टॉइम्स लॉ रिपोर्ट्स 464 : **जजेज** बनाम **अटर्नी जनरल फार ससकेच्युन.**	12

सिविल अपीली अधिकारिता : 1983 की सिविल अपील सं० 10026.

1983 के ओ० जे० सी० सं० 1239 में उड़ीसा उच्च न्यायालय के तारीख 10 अगस्त, 1983 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपील।

अपीलार्थियों की ओर से	श्री वीनू भगत
प्रत्यर्थियों की ओर से	श्री के० पाराशरन, अटर्नी जनरल और श्री आर० के० मेहता
प्रत्यर्थी की ओर से	श्रीमती भारती आनन्द

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति डी० पी० मदान ने दिया।

न्यायाधिपति मदान—

किसी राष्ट्र का भाग्य उसके युवकों पर निर्भर करता है। जिस प्रकार हम उसकी विचारधारा को आकार देते हैं और उसकी प्रकृति को ढालते हैं ठीक उसी प्रकार हम अपने देश की प्रगति, गरिमा और समृद्धि को विरचित करते हैं। वर्ड्सवर्थ ने ठीक ही कहा था : "पुत्र पिता का द्योतक है" और अलैग्जेण्डर पोप ने भी अपने प्रथम 'मारल एसेज'—'एपिस्टल-I टू सर रिचर्ड टैम्पल, लार्ड कोब्हम' में समान रूप से सही विचार प्रकट किया था—

> "यह शिक्षा सामान्य बुद्धि को स्वरूप प्रदान करती है, ठीक ऐसे ही जैसे कि शाखा मुड़ी हुई होती है और वृक्ष झुका हुआ होता है।"

इसलिए किसी भी देश के लिए यह आवश्यक है कि उसकी शिक्षा प्रणाली समुचित हो। किन्तु हमारे देश में सामान्य शिक्षा पद्धति परम्परागत रूप से विहित पाठ्यपुस्तकों में से अध्ययन, ऐसी पुस्तकों पर आधारित भाषणों में उपस्थित रहने और उनमें से विरचित परीक्षाओं में प्रश्नों का उत्तर देने के रूप में है। प्रायः पाठ्य पुस्तकों के अध्ययन के साथ-साथ ऐसी पुस्तकों का भी परिशीलन किया जाता है, जो कि विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के पुस्तकालयों में रखी रहती हैं। ये पुस्तकें विभिन्न विषयों से संबंधित होती हैं जैसे कि साहित्य, इतिहास, कला, विज्ञान, भूगोल तथा उपन्यास इत्यादि। किसी विद्यार्थी के लिए सामान्य पठन उतना ही आवश्यक है जितना कि वह किसी भी व्यक्ति के लिए होता है क्योंकि यह पठन ही है जो कि मस्तिष्क को विस्तृत बनाता है और अंतरिक्ष को व्यापक रूप देता है। यही कारण था कि बेकन ने 'आफ स्टडीज' नामक अपने निबंध में यह कहा था, "परिशीलन मनुष्य को पूर्णता प्रदान करता है"। यदि आज के विद्यार्थियों को कल के मान्य नागरिक बनना है तो इसलिए सामान्य परिशीलन उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि विहित पाठ्य पुस्तकों में से अध्ययन।

2. इस प्रकार इन पुस्तकों का चयन—जिनके अंतर्गत पाठ्य पुस्तकें तथा विद्यालय और महाविद्यालय के पुस्तकालयों में रखी हुई सामान्य परिशीलन हेतु पुस्तकें शामिल हैं—समुचित शिक्षा प्रदान करने के लिए मार्मिक महत्व का विषय है। निश्चित रूप से ऐसा चयन उन व्यक्तियों की योग्यता तथा उपयुक्तता पर निर्भर करता है जिनके प्रयोजन के लिए उस उत्तरदायित्व का

निर्वहन करना होता है। अपीलार्थियों द्वारा फाइल किए गए संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस पिटीशन को खर्च के बारे में कोई आदेश दिए बिना खारिज करते हुए उड़ीसा उच्च न्यायालय के निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर यह अपील हमारे विचार के लिए प्रस्तुत की गई है।

3. उड़ीसा राज्य में ऐसा कोई कानूनी नियम अथवा विनियम विद्यमान नहीं है जिसके द्वारा विद्यालय तथा महाविद्यालय के पुस्तकालयों में रखी जाने वाली सामान्य परिशीलन हेतु पुस्तकों के चयन के लिए कोई पद्धति विहित की गई हो। तथापि राज्य सरकार समय-समय पर पुस्तकों के चयन के लिए समितियां गठित करते हुए और प्रक्रिया अधिकथित करते हुए सरकारी संकल्पों के रूप में प्रशासनिक अनुदेश जारी करती है। मोटे तौर पर तीन समिमियां गठित की गई हैं अर्थात् निर्धारण उप-समिति, वितरण उप-समिति तथा क्रय समिति। इन समितियों तथा उप-समितियों का कार्य-भार संभालने के लिए सदस्यों के रूप में सरकारी पदधारी एवं गैर-सरकारी व्यक्ति नियुक्त किए जाते हैं। प्रत्येक वर्ष राज्य सरकार पुस्तकालयों के लिए पुस्तकों का क्रय करने हेतु एक विनिर्दिष्ट राशि उपलभ्य करती है जिसका वितरण भिन्न-भिन्न विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में किया जाता है। जिस प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता है वह यह है कि प्रत्येक वर्ष क्रय समिति का सदस्य-सचिव स्थानीय समाचार पत्रों में विज्ञापन देकर प्रकाशकों तथा लेखकों से यह अपेक्षा करता है कि वे विचारार्थ अपनी पुस्तकों को प्रस्तुत करें। तत्पश्चात् निर्धारण उप-समिति इस प्रकार प्रस्तुत की गई पुस्तकों पर विचार करती है और फिर पुस्तकों की एक सूची की सिफारिश करती है जो कि उसके कथनानुसार विद्यालय तथा महाविद्यालय के विद्यार्थियों द्वारा सामान्य परिशीलन के लिए उपयुक्त होती हैं। क्रय समिति निर्धारण उप-समिति द्वारा की गई सिफारिशों पर विचार करती है और वह एक अन्तिम सूची तैयार करती है। राज्य सरकार को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वह कोई भी कारण बतलाए बिना इस प्रकार प्रस्तुत की गई सूची में से किसी भी पुस्तक को रद्द कर दे और पुस्तकों के निर्धारण, चयन, क्रय तथा वितरण की बाबत राज्य सरकार के विनिश्चय को अन्तिम रूप दिया जाता है। हालांकि प्रत्येक वर्ष एक पृथक् सरकारी संकल्प जारी किया जाता है तथापि मोटे तौर पर वही प्रणाली और प्रक्रिया बनाए रखी जाती है और केवल समिति और उप-समिति के कुछेक सदस्य बदल दिए जाते हैं और उनके स्थान पर नए सदस्य नियुक्त कर दिए जाते हैं। 1980, 1981 और 1982 वाले वर्षों के लिए पुस्तकों का चयन इसी रीति में किया गया था। यह स्वीकार किया गया है है कि "निर्धारण उप-समिति के कुछ सदस्य स्वयं

पुस्तकों के लेखक थे और उनके द्वारा लिखी गई पुस्तकों का चयन किया गया था और उनका क्रय कर लिया गया था। 1980, 1981 और 1982 वाले वर्षों के लिए इस प्रयोजनार्थ राज्य सरकार द्वारा 5,00,000 रुपये का वार्षिक अनुदान मंजूर किया गया था। जहां तक 1982 वाले वर्ष का सम्बन्ध है, यह वार्षिक अनुदान अध्यपेक्षा से लगभग 50 प्रतिशत कम पड़ गया। तदनुसार, क्रय समिति ने चयन हेतु प्रस्तुत की गई 1718 पुस्तकों में से केवल 466 पुस्तकों की सूची तक अपने आप को निर्बन्धित रखा, किन्तु जैसे-जैसे और धन उपलभ्य होने लगा, सरकार ने अधिक पुस्तकों का चयन करने का विनिश्चय किया और तदनुसार शिक्षा निदेशक (स्कूल), उड़ीसा की अध्यक्षता में एक समिति गठित की। इस समिति ने उक्त 1718 पुस्तकों में से जो कि चुने जाने के लिए प्रस्तुत की गई थीं, 105 पुस्तकों की अनुपूरक सूची का चयन किया।

4. अगस्त और सितम्बर, 1982 में अभूतपूर्व बाढ़ और झंझावात आए और इस दुर्घटना में बहुत से विद्यालयों तथा महाविद्यालयों को क्षति पहुंची तथा अनेक विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के पुस्तकालय बाढ़ में बह गए। इस पर केन्द्रीय सरकार ने राज्य के लिए अपने राहत कार्यक्रम के भागस्वरूप फरवरी और मार्च, 1983 के दौरान राज्य को गैर-सरकारी विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के पुस्तकालयों के लिए पुस्तकें खरीदने हेतु कुल मिलाकर 45,00,000 रुपए के अनुदान संदत्त किए। यह एक समय-निर्बन्धित अनुदान था जिसका उपयोग जून, 1983 पर्यन्त किया जाना था। इस कारणवश राज्य सरकार ने यह महसूस किया कि जिस प्रक्रिया का अनुसरण प्रायिक रूप से किया जाता है उसका अनुसरण पुस्तकों के चयन के लिए अपनाना व्यवहार्य नहीं है क्योंकि इसमें बहुत समय लग जाता है और इसलिए उसने 5 अप्रैल, 1983 को यह विनिश्चय किया कि केन्द्रीय सरकार द्वारा संदत्त अनुदान का प्रयोग उन पुस्तकों में से पुस्तकों के क्रय के सम्बन्ध में किया जाए जिनका चयन 1980, 1981 और 1982 वाले वर्षों के लिए एवं 105 पुस्तकों की उक्त अनुपूरक सूची में से क्रय करके किया जाए। तदनुसार, 13 अप्रैल, 1983 को खरीदी जाने वाली पुस्तकों के चयन पर विचार करने हेतु एक बैठक आयोजित की गई। इस बारे में कुछ संविवाद हैं कि इस बैठक को किसने आयोजित किया था, उस बैठक में कौन लोग उपस्थित थे और उस बैठक में क्या विचार-विमर्श किया गया था किन्तु हम यह अनावश्यक समझते हैं कि हम इस संविवाद में पड़ें। यहां इतना ही कहना काफी होगा कि 1980, 1981 और 1982

वाले वर्षों के लिए तथा उक्त अनुपूरक सूची में से जिन पुस्तकों का चयन किया गया था, उन्हीं का चयन इस बैठक में किया गया था ।

5. तत्पश्चात् अपीलार्थियों ने, जो कि प्रकाशक हैं उड़ीसा राज्य तथा उड़ीसा के शिक्षा निदेशक के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पिटीशन फाइल किया जिसमें यह मांग की गई कि 1980, 1981 और 1982 वाले वर्षों के लिए पुस्तकों की जो चयन-सूची तैयार की गई थी उसे तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा झंझावात और बाढ़ राहत अनुदान में से पुस्तकों के क्रय की बाबत विनिश्चय को अन्य बातों के साथ-साथ, इस आधार पर अभिखंडित कर दिया जाए कि निर्धारण उप-समिति के कुछेक सदस्यों के द्वारा पक्षपात किया गया था जिनकी पुस्तकें चयन हेतु प्रस्तुत की गई थीं । इस रिट पिटीशन की सुनवाई एक समरूप रिट पिटीशन के साथ की गई जो उड़ीसा पब्लिशर्स एण्ड बुकसेलर्स एसोसिएशन द्वारा फाइल किया गया था । उच्च न्यायालय ने 10 अगस्त, 1983 को सुनाए गए सामान्य निर्णय द्वारा इन दोनों रिट पिटीशनों को खारिज कर दिया और उनके खर्चे की बाबत कोई आदेश नहीं दिया । उड़ीसा उच्च न्यायालय के इस निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपीलार्थी विशेष इजाजत लेकर की गई अपील में इस न्यायालय में आए हैं ।

6. उच्च न्यायालय ने अपने विनिश्चय को निम्नलिखित पांच आधारों पर आद्धृत किया—

(1) 1980-81 वाले वर्ष के लिए प्रथम अपीलार्थी ने जो कि एक भागीदारी फर्म थी, राज्य सरकार द्वारा निकाली गई विज्ञप्ति के सम्बन्ध में कोई भी पुस्तक प्रस्तुत नहीं की थी । 1981-82 वाले वर्ष के लिए उसने 24 पुस्तकें प्रस्तुत की थीं जिनमें से केवल एक पुस्तक का चयन किया गया था । 1982-8 वाले वर्ष में उसने 29 पुस्तकें प्रस्तुत की थीं जिनमें से छह पुस्तकों का चयन किया गया था । चयन हेतु पुस्तकें प्रस्तुत करने के पश्चात् और या तो कुछ पुस्तकों का आंशिक रूप से चयन कराने में सफलता प्राप्त करने के पश्चात् अथवा अपने द्वारा प्रस्तुत की गई पुस्तकों का चयन कराने में असफल रहने के पश्चात् प्रथम अपीलार्थी निर्धारण उप-समिति के सदस्यों की ओर से पक्षपात के आधार पर पुस्तकों के चयन को आक्षेपकृत नहीं कर सकता था । द्वितीय अपीलार्थी ने प्रश्नगत वर्षों में से किसी भी वर्ष के लिए राज्य सरकार द्वारा तन्निमित्त जारी की गई विज्ञप्ति के अनुसरण में कोई भी पुस्तक चयन हेतु प्रस्तुत नहीं की थी और इसलिए वह उन वर्षों

के लिए किए गए चयनों में से किसी भी चयन द्वारा 'व्यथित व्यक्ति' नहीं था ।

(2) स्थिति की आकस्मिकता पर विचार करते हुए केन्द्रीय सरकार द्वारा दिए गए अनुदान में से पुस्तकों के क्रय के लिए चयन किए जाने के लिए समिति स्थापित करने में राज्य सरकार द्वारा जिस प्रक्रिया का अनुसरण किया गया था वह न तो मनमानी प्रक्रिया थी और न ही वह लोकहित के विरुद्ध थी क्योंकि प्रायिक रूप से जिस प्रक्रिया का अनुसरण किया गया था, वह मात्र कार्यपालक निदेशकों द्वारा निर्धारित की गई थी और वह कोई कानूनी प्रक्रिया नहीं थी और इसलिए उसमें केन्द्रीय सरकार द्वारा परिवर्तन किया जा सकता था ।

(3) पुस्तकों के चयन का अनुमोदन करने वाला अन्तिम विनिश्चय राज्य सरकार का विनिश्चय था क्योंकि उसे निर्धारण उप-समिति द्वारा सिफारिश की गई किसी भी पुस्तक को रद्द करने का अधिकार प्राप्त था और इसलिए यह तथ्य कि उप-समिति के कुछ सदस्यों ने भी अनुमोदनार्थ कतिपय पुस्तकें प्रस्तुत की थीं, कोई महत्व नहीं रखता था क्योंकि निर्धारण उप-समिति के किसी व्यक्तिगत सदस्य द्वारा जो भूमिका निभाई गई थी, वह महत्वहीन थी और वह न तो उप-समिति के और न ही राज्य सरकार के विनिश्चय पर प्रभाव डालती थी और न डाल ही सकती थी ।

(4) क्रय समिति तथा दोनों उप-समितियों के सदस्यों के रूप में सरकारी पदाधिकारियों की उपस्थिति सरकार के उस संकल्प द्वारा अपेक्षित थी जिससे कि समिति और उप-समितियों का गठन किया गया था और यह तथ्य कि सरकारी पदधारियों में से कुछ पदधारियों ने ही चयन किए जाने के लिए पुस्तकें प्रस्तुत की थीं, पक्षपात के आधार पर चयन को अविधिमान्य नहीं बना सकता था क्योंकि उनके मामलों में आवश्यकता का सिद्धान्त लागू होता था ।

(5) 1980, 1981 और 1982 वाले वर्षों के लिए चुनी गई पुस्तकों की बाबत कोई अनुतोष प्रदान नहीं किया जा सकता था क्योंकि उन वर्षों के लिए जिन पुस्तकों का चयन किया गया था वे पहले ही खरीदी जा चुकी थीं ।

7. उच्च न्यायालय ने विनिश्चय को आश्रित करने के लिए जो प्रथम आधार विरचित किया है, उसकी पृष्ठभूमि में जो तर्क दिए गए हैं, उनको

समझने में हम अपने आपको असमर्थ पाते हैं। हमें यह एक विरोधाभास प्रतीत होता है कि जब किसी व्यक्ति ने चयन किए जाने के लिए कुछ पुस्तकें प्रस्तुत कर दी हों तो यह कहना होगा कि उसने उस आक्षेप को नकार दिया है जो कि उसने उप-समिति के गठन के सम्बन्ध में उठाया था और यह कि जब किसी व्यक्ति ने चयन किए जाने के लिए किन्हीं पुस्तकों को प्रस्तुत ही नहीं किया है, तो वह 'व्यथित व्यक्ति' नहीं है। ऐसा कहना परस्पर-विरोध होगा। यदि उच्च न्यायालय की युक्तियां सही थीं, तो इसका परिणाम यह होगा कि कोई भी व्यक्ति पुस्तकों के किसी चयन पर आक्षेप करने में समर्थ नहीं होगा क्योंकि कोई व्यक्ति जो चयन पर आक्षेप करता है, वह निश्चित रूप से या तो ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसने एक या अधिक पुस्तकों को चयन किए जाने के लिए प्रस्तुत किया हो अथवा वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसने चयन हेतु किसी भी पुस्तक को प्रस्तुत न किया हो। हमारी राय में, उच्च न्यायालय ने जो दृष्टिकोण अपनाया था वह सही नहीं था। चयन हेतु मात्र कुछ पुस्तकें प्रस्तुत करके, जिनमें से हो सकता है कि कुछ को चुन लिया गया हो, किसी व्यक्ति के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उसने उस आक्षेप की अवहेलना कर दी है जो कि उसने उस समिति के गठन के सम्बन्ध में किया था जो पुस्तकों का चयन करती है। इसी प्रकार मात्र इस कारण कि कोई व्यक्ति चयन किए जाने के लिए कोई भी पुस्तक प्रस्तुत नहीं करता है, यह नहीं कहा जा सकता कि व्यथित व्यक्ति नहीं है। 'सुने जाने के अधिकार' की बाबत विधि आज इस देश में तथा इंग्लैण्ड में भी प्रचुर रूप से अग्रसर हो चुकी है और लोकहित मुकदमेबाजी में यह आवश्यक नहीं है कि किसी पिटीशनर का स्वयं मामले में वैयक्तिक हित हो। इस विषय में इस न्यायालय के विनिश्चयों के प्रति निर्देश करना अनावश्यक है और इसी प्रकार इस विषय पर आगे विचार-विमर्श करना भी अनुचित है। किन्तु हम इस बात का उल्लेख कर दें कि अपने समक्ष इस अपील की सुनवाई में प्रत्यर्थियों की ओर से यह दलील नहीं उठाई गई थी।

8 जहां तक इस विनिश्चय पर पहुंचने के लिए उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए द्वितीय आधार का संबंध है, हम उस दृष्टिकोण से सहमत हैं जो कि उसने अपनाया था। पुस्तकों के चयन की बाबत कोई कानूनी नियम अथवा विनियम विद्यमान नहीं थे और चयन प्रत्येक वर्ष प्रशासनिक अभ्युपाय के रूप में किया जाता था। इसलिए राज्य सरकार को इस बात की स्वतंत्रता थी कि वह समिति तथा उप-समितियों के गठन में परिवर्तन कर सके और इसी प्रकार उस प्रक्रिया को बदल सके जो कि पुस्तकों का चयन करने के लिए

विरचित की गई थी जबकि केन्द्रीय सरकार द्वारा दिए गए अनुदान में से पुस्तकों का क्रय किया जाना होता था। केन्द्रीय सरकार द्वारा दिया गया अनुदान एक विशिष्ट कालावधि के भीतर खर्च किया जाना अवश्यम्भावी था। राज्य सरकार द्वारा प्रसामान्य रूप से अपनाई गई प्रक्रिया में अधिक समय लग जाता जो कि केन्द्रीय सरकार के समय-निर्बन्धित अनुदान द्वारा अनुज्ञात नहीं था। इसलिए राज्य सरकार ने जिस रीति में केन्द्रीय सरकार के अनुदान में से पुस्तकों का क्रय करने में उनका चयन करने के लिए जिस प्रकार समिति स्थापित की थी, वह न्यायोचित था। तथापि इस तथ्य के बारे में किंचित संविवाद है कि क्या उस समिति की बैठक में कोई प्रकाशक उपस्थित थे। अपीलार्थियों के कथनानुसार, बैठक में कुछ प्रकाशक मौजूद थे और उन्होंने विचार-विमर्श में भाग लिया था। उड़ीसा पब्लिशर्स एण्ड बुकसैलर्स एसोसिएशन के अध्यक्ष द्वारा फाइल किए गए प्रति-शपथपत्र के अनुसार, उस बैठक के अंत में उक्त एसोसिएशन के प्रतिनिधि को बुलाया गया था ताकि इस बात का अभिनिश्चिय किया जा सके कि क्या उक्त एसोसिएशन पुस्तकों के समय पर प्रदाय का प्रबंध करने के लिए उत्तरदायित्व को संभालने के लिए तैयार थी और उक्त प्रतिनिधि ने न तो उक्त बैठक की कार्यवाहियों में भाग लिया था और न ही वह उसके विचार-विमर्श में उपस्थित था। उक्त बैठक के कार्यवृत्त की एक प्रति जो कि अपीलार्थियों द्वारा विशेष इजाजत लेकर फाइल की गई अपील के लिए पिटीशन के साथ उपाबद्ध है, इस तथ्य को सिद्ध करती है। उक्त कार्यवृत्त के अनुसार, उक्त बैठक में यह विनिश्चय किया गया था कि प्रकाशक विद्यालयों के प्रत्येक प्रवर्ग के लिए मंजूर की गई रकम के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न समूहों में विभिन्न विद्यालयों में प्रदाय की जाने वाली पुस्तकों की एक सूची तैयार करेंगे और यह कि प्रत्येक शीर्ष के लिए पुस्तकों की कुल संख्या लगभग समान होगी और यह कि प्रकाशक निदेशालय के स्तर पर अनुमोदनार्थ ऐसी पुस्तकों की सूची प्रस्तुत करेंगे। उक्त कार्यवृत्त में आगे यह अभिलिखित किया गया है कि उक्त एसोसिएशन विनिर्दिष्ट तारीखों पर्यन्त सम्बद्ध प्राधिकारियों के कार्यालय में पैकटों में पुस्तकों का प्रदाय करने का उत्तरदायित्व अपने आप लेंगे। स्थिति की आकस्मिकता इस बात की मांग करती है कि जिन पुस्तकों का चयन किया गया था वे प्रदाय हेतु उपलभ्य हों और इसलिए उक्त एसोसिएशन के किसी प्रतिनिधि से इस मांग करने में कोई अनौचित्य नहीं था कि वह उपस्थित रहे।

9. किन्तु इस संविवाद पर आगे विचार करना अनावश्यक है क्योंकि इस अपील में जो वास्तविक प्रश्न है वह कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। यह प्रश्न

निर्धारण उप-समिति के सदस्यों में से कुछ सदस्यों की ओर से पक्षपात से सम्बन्धित है। इस प्रश्न का उत्तर अपीलार्थियों के विरुद्ध दिया गया है और वह तृतीय तथा चतुर्थ आधारों की विषयवस्तु के रूप में है जिस पर कि उच्च न्यायालय ने अपने विनिश्चय को आश्रित किया था। "कोई भी व्यक्ति स्वयं अपने हेतुक का निर्णायक नहीं होगा" यह एक ऐसा सिद्धांत है जो कि विधि में सुस्थिर हो चुका है। न्याय न केवल किया जाना चाहिए बल्कि उसके विषय में यह सुव्यक्त रूप से दर्शित होना चाहिए कि वह (न्याय) किया जा रहा है। यह वही सिद्धांत है जिस पर कि न्यायालयों में कार्यवाहियां संस्थित करने की जनता को स्वतंत्रता रहती है, सिवाय उन मामलों के जिनमें कि किसी विशेष कारणवश विधि द्वारा यह अपेक्षित अथवा प्राधिकृत है कि सुनवाई 'गुप्त' रूप में की जाए। यदि कोई व्यक्ति स्वयं अपने ही हेतुक के विषय में निर्णायक बन जाता है अथवा वह अपने आप उसके परिणाम में दिलचस्पी रखता है तो न्याय के विषय में कदापि यह दर्शित नहीं होता कि वह किया जा रहा है। यह सिद्धांत न केवल न्यायिक कार्यवाहियों को लागू होता है बल्कि वह न्यायिकवत् तथा प्रशासनिक कार्यवाहियों को भी लागू होता है। विधि में जो स्थिति है, उसे हाल्सबरीज लॉज ऑफ इंग्लैण्ड, चतुर्थ संस्करण, खण्ड 1, पैरा 68 में सुस्पष्ट रूप से इस प्रकार कथित किया गया है :—

> "**वित्तीय हित के लिए निरहता**—इस बारे में उपधारणा की जाती है कि विवादग्रस्त विषय में कोई प्रत्यक्ष वित्तीय हित चाहे वह कितना भी तनिक क्यों न हो, किसी व्यक्ति को अधिनिर्णय करने से निर्रहित कर देता है। किसी कम्पनी, एसोसिएशन अथवा अन्य संगठन की सदस्यता जो कि वित्तीय रूप से हितबद्ध हो, उसके बारे यह कहना उचित होगा कि वह उसी प्रकार न्यायनिर्णयन के प्रति वर्जन के रूप में प्रवर्तित हो सकती है जैसे कि कोई दायित्व मात्र खर्चे के सम्बन्ध में ऐसी दशा में होगा जहां कि स्वयं विनिश्चय में कोई वित्तीय हानि अन्तर्वलित न हो।"

10. ए० के० क्रैपक **और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में भारतीय वन सेवा में वरिष्ठ तथा कनिष्ठ वेतनमानों में पदों पर नियुक्ति के लिए चयन बोर्ड द्वारा तैयार की गई राज्य वन अधिकारियों की सूची इस न्यायालय द्वारा इस आधार पर अपास्त कर दी गई थी कि स्थानापन्न मुख्य वन संरक्षक, जिसका नाम सूची में सबसे ऊपर रखा था,

---

[1] [1970] 2 उम० नि० प० 389=[19701] एस० सी० आर० 457.

चयन बोर्ड का सदस्य था हालांकि वह उस समय उपस्थित नहीं था जिस समय उसके नाम पर चयन के लिए विचार किया गया था और यद्यपि चयन बोर्ड मात्र सिफारिश करने वाला निकाय था और उसके द्वारा जो सूची तैयार की गई थी उस पर पहले गृह मन्त्रालय द्वारा और तत्पश्चात् संघ लोक सेवा आयोग द्वारा विचार किया गया था जिसके द्वारा अन्तिम रूप से सिफारिशें की जानी थीं। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि कोई भी व्यक्ति स्वयं अपने हेतुक में निर्णायक नहीं होना चाहिए। यह नैसर्गिक न्याय का सिद्धांत है और यह न्यायिकवत् और प्रशासनिक शक्तियों के प्रयोग को समान रूप से लागू होता है।

11. यह दर्शित करने के लिए किसी दलील की अपेक्षा नहीं है कि कोई ऐसा व्यक्ति जिसने कि कोई ऐसी पुस्तक लिखी हो जो या तो स्वयं उसके द्वारा या उसके प्रकाशक द्वारा चयन किए जाने के लिए प्रस्तुत की गई हो, उसके चयन के विषय में दिलचस्पी रखता है। ग्रन्थकार या तो प्रकाशकों द्वारा अपनी पुस्तकें प्रकाशित करा लेते हैं या फिर वे स्वयं उन्हें प्रकाशित कराते हैं। इन दोनों ही दशाओं में उन्हें वित्तीय फायदा मिलता है। इस मामले में प्रकाशकों से राजस्व प्राप्त करके और द्वितीय मामले में पुस्तकों के विक्रय पर लाभ कमाकर यदि वसूल की गई रकम प्रकाशन की लागत से अधिक बनती है अथवा यदि विक्रय उस सीमा पर्यन्त नहीं हो पाते तो पुस्तक के प्रकाशन में उपगत लागत को घटाकर पुस्तकों के विक्रय पर लाभ अर्जित किया जाता है। यहां अपीलार्थियों ने यह दर्शित करते हुए कि निर्धारण उप-समिति के उन सदस्यों को जिनकी पुस्तकों का चयन किया गया था, जो वित्तीय लाभ प्रोद्भूत हुए थे, वे कितने थे, कथन फाइल किए हैं। इन कथनों में से एक उदाहरण निर्धारण उप-समिति के एक सदस्य के मामले में दिया जा सकता है जो कि एक सरकारी पदधारी था जिसकी पुस्तकों का चयन किया गया था और 1980 वाले वर्ष में 4,000/-रुपए के सकल मूल्यों की पुस्तकों का क्रय किया गया था, 1981 वाले वर्ष में 6,500 रुपए के सकल मूल्यों की पुस्तकों का क्रय किया गया था और 1982 वाले वर्ष में 72,500 रुपए के सकल मूल्य की पुस्तकों का क्रय किया गया था। प्रत्यर्थियों की ओर से फाइल किए गए प्रति-शपथपत्र में यह दलील दी गई थी कि इन सदस्य-ग्रन्थकारों द्वारा प्राप्त राजस्व कोई विशेष राशि नहीं थी। यह तथ्य तत्वहीन है। राजस्व की रकम ग्रन्थकार और प्रकाशक के बीच किए गए करार पर एवं पुस्तक की विक्रय कीमत पर निर्भर करती है। तथापि यह तथ्य बराबर बना हुआ है कि विद्यालय और महाविद्यालय के पुस्तकालय को वितरण के लिए जिन

पुस्तकों का चयन किया गया है और जिन्हें खरीदा गया है, उसमें वृद्धि हुई थी और तत्स्थानी रूप से ग्रन्थकार-सदस्यों द्वारा प्राप्त राजस्व भी बढ़ गया था और इस प्रकार ऐसे ग्रन्थकार-सदस्यों ने वित्तीय लाभ उठाया था। इस बात का यह कोई उत्तर नहीं होगा कि कोई ग्रन्थकार सदस्य किसी निर्धारण उप-समिति के सदस्यों में से मात्र एक सदस्य होता है और यह कि अन्तिम विनिश्चय राज्य सरकार पर आश्रित होता है जो अनुमोदित पुस्तकों की सूची में से किसी भी पुस्तक को रद्द कर सकती है। इसी प्रकार की दलील इस न्यायालय द्वारा **केराइपक वाले मामले**[1] में नामंजूर कर दी गई थी। राज्य सरकार का मार्गदर्शन प्रसामान्य रूप से निर्धारण उप-समिति द्वारा अनुमोदित सूची द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त, यह कहना कि ऐसा ग्रन्थकार सदस्य निर्धारण उप-समिति के सदस्यों में से मात्र एक सदस्य है, इस तथ्य को नजरअन्दाज करना है कि ग्रन्थकार-सदस्य स्वयं अपनी पुस्तकों के मुकाबले में अन्य ग्रन्थकारों द्वारा पुस्तकों का चयन करने के विरुद्ध अन्य सदस्यों की मनः-बुद्धि पर सूक्ष्म रूप से असर डाल सकता है। यह भी हो सकता है कि कुछ अन्य सदस्यों द्वारा चयन किए जाने के लिए पुस्तकें प्रस्तुत की गई हों और उनमें परस्पर तत्प्रतिफल (क्विड प्रो क्वो) अथवा दूसरे शब्दों में यह कि आप इस बात का ध्यान रखें कि मेरी पुस्तक का चयन हो जाए और बदले में मैं भी आपके लिए वैसा ही करूंगा। इन दोनों दशाओं में से किसी भी दशा में जब किसी ग्रन्थकार सदस्य की पुस्तक विचारार्थ पेश की जाती है तो अन्य सदस्य उसके गुणागुण पर स्वतन्त्र रूप से विचार-विमर्श करने में हिचकिचाहट अनुभूत करेंगे। हो सकता है कि ऐसा ग्रन्थकार-सदस्य कोई उच्च शासकीय हैसियत धारण करता हो जिसे कि अन्य सदस्य नाराज न करना चाहते हों। यह भी हो सकता है कि अन्य सदस्यों पर इस तथ्य का कोई असर न पड़े कि जिस पुस्तक पर वे अनुमोदनार्थ विचार कर रहे हैं, वह उसके सदस्यों में से किसी एक सदस्य द्वारा लिखी हुई है। किन्तु क्या उन पर इस प्रकार असर पड़ा था या नहीं, यह एक ऐसा विषय है जिसका अभिनिश्चय करना असम्भव है। इसलिए ग्रन्थकार सदस्य के पक्ष में वास्तविक पक्षपात तात्विक नहीं है बल्कि ऐसे पक्षपात की संभाव्यता तात्विक है। ये सभी विचार्य विषय इस बात की अपेक्षा करते हैं कि कोई भी ग्रन्थकार सदस्य किसी भी ऐसी समिति अथवा उप-समिति का सदस्य नहीं होना चाहिए।

12. किन्तु उपर्युक्त नियम का एक अपवाद है कि कोई भी व्यक्ति अपने हेतुक का निर्णायक नहीं होगा अर्थात् आवश्यकता के सिद्धांत का पालन

---

[1] [1970] 2 उम० नि० प० 389=[1970] 1 एस० सी० आर० 457.

किया जाएगा । कोई अधिनिर्णायक जो किसी ऐसे विषय में जिसका कि उसे विनिश्चय करना है, पक्षपात अथवा हित के आधार पर निरर्हता के अध्यधीन है, उससे अधिनिर्णय करने की अध्यपेक्षा की जा सकती है यदि ऐसा कोई अन्य व्यक्ति विद्यमान न हो जो कि अधिनिर्णय करने के लिए सक्षम अथवा प्राधिकृत हो अथवा यदि उसके बिना कोरम गठित नहीं हो सकता हो या यदि कोई अन्य सक्षम अधिकरण गठित न किया जा सकता हो । ऐसे मामलों में नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत के स्थान पर आवश्यकता का सिद्धांत अपनाना होगा क्योंकि अन्यथा मामले का विनिश्चय कोई भी माध्यम नहीं रहेगा तथा न्याय या प्रशासनतंत्र धराशाही हो जाएगा । इस प्रकार **द जजेज** वनाम **अटर्नी जनरल फार ससकेच्युन**[1] वाले मामले में अपील न्यायालय के न्यायाधीशों को इस प्रश्न का विनिश्चय करने के लिए सक्षम माना गया था कि क्या अपील न्यायालय, किंग्स बैंच के न्यायालय तथा ससकेच्युन प्रान्त और जिला न्यायालयों के न्यायाधीश ससकेच्युन के इन्कम टैक्स ऐक्ट, 1932 के अधीन इस आधार पर कराधान के अध्यधीन थे कि वे 'आवश्यकता' के अनुसार कार्यवाही करने के लिए आबद्ध थे । आवश्यकता का सिद्धांत न केवल न्यायिक विषयों को लागू होता है वल्कि वह न्यायिकवत् तथा प्रशासनिक विषयों को भी लागू होता है । तथापि उच्च न्यायालय ने निर्धारण उप-समिति के ग्रन्थकार-सदस्यों के प्रति इस सिद्धांत को अनुचित रूप से लागू किया है। यह सही है कि इस उप-समिति के सदस्य एक सरकारी संकल्प द्वारा नियुक्त किए गए थे और उनमें से कुछ उस शासकीय हैसियत के आधार से नियुक्त किए गए थे जिसे कि वे धारण कर रहे थे, जैसे कि सचिव, उड़ीसा सरकार, शिक्षा विभाग तथा निदेशक, उच्चतर शिक्षा इत्यादि । तथापि ऐसे व्यक्तियों को निवारित करने के लिए कोई आधार नहीं है जिनकी पुस्तकें चयन के लिए प्रस्तुत की गई थीं, कि वे इस तथ्य का उल्लेख राज्य सरकार के समक्ष कर सकें ताकि वह यथास्थिति एक या अधिक प्रतिस्थापनों को नियुक्त करके अपने संकल्प को संशोधित कर सके । समान रूप से ऐसे गैर-शासकीय ग्रन्थकार सदस्यों को सम्वद्ध विषय में उनके हितवद्ध होने के आधार पर समिति में से त्यागपत्र देने से निवारित करने के लिए कोई आधार नहीं है ।

13. जहां तक पंचम एवं अन्तिम आधार का संवंध है, जिस पर कि उच्च न्यायालय ने अपने विनिश्चय को आश्रित किया था, यह अभिनिर्धारित किया जाना आवश्यक है कि उच्च न्यायालय ने 1980, 1981 और 1982 वाले वर्षों के लिए चयन की गई पुस्तकों की बावत इस आधार पर अनुतोष

[1] 53 द टाइम्स ला रिपोर्ट्स 464 (1937).

अनुदत्त करने से इनकार करके न्यायोचित निर्णय दिया था । हमारे सम्मुख भी एक समरूप सम्पन्न कार्य की स्थिति आई थी, जैसी कि उच्च न्यायालय के समक्ष थी और वह न केवल उन वर्षों के लिए चयन की गई तथा खरीदी गई पुस्तकों की बाबत थी बल्कि वह उन पुस्तकों की बाबत भी थी जिनका चयन तथा क्रय केन्द्रीय सरकार अनुदान में से किया गया था क्योंकि इन पुस्तकों का भी अब क्रय तथा वितरण विभिन्न विद्यालय तथा महाविद्यालय पुस्तकालयों में किया जा चुका है । इसलिए इस अपील में हम केवल यह कर सकते हैं कि हम ऐसे मार्गदर्शक सिद्धांत अधिकथित करें जिनका अनुसरण भविष्य में न केवल शैक्षिक संस्थाओं में पुस्तकालयों के चयन के लिए किया जाएगा बल्कि वह इन प्रयोजनों के लिए समितियां गठित करते समय तथा पाठ्य पुस्तकों को विहित करते समय भी किया जाएगा ।

14. तथापि प्रत्यर्थियों की ओर से यह दलील दी गई कि इस न्यायालय के लिए ऐसे कोई मार्गदर्शक सिद्धांत अधिकथित करना आवश्यक नहीं रह गया था क्योंकि इस मामले में विशेष इजाजत लेकर की गई अपील के पश्चात् राज्य सरकार ने तारीख 24 नवम्बर, 1983 वाला एक नवीन सरकारी संकल्प जारी किया था जिसके द्वारा उसने एक नई क्रय समिति तथा निर्धारण समिति गठित की थी जिनके अन्तर्गत सरकारी पदधारी तथा गैर-शासकीय सदस्य विद्यमान थे और जिस संकल्प का खण्ड (8) औचित्य तथा नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों को इस रूप में पूरा करता था कि समिति के किसी ग्रन्थकार-सदस्य की इस सभाव्यता को दूर कर दिया जाए जिससे कि उसकी पुस्तक का चयन करने में अन्य सदस्यों पर असर डाला जा सके । उक्त संकल्प का खण्ड (8) इस प्रकार है—

> "क्रय-निर्धारण समिति का कोई भी सदस्य ऐसे समय पर विचार-विमर्श में उपस्थित नहीं होगा जब कि किसी ऐसी पुस्तक पर विचार किया जा रहा हो जिसमें कि वह ग्रन्थकार/सम्पादक/प्रकाशक के रूप में हितबद्ध हो ।"

आनुकल्पिक रूप से यह दलील दी गई कि यदि न्यायालय कोई मार्गदर्शक सिद्धांत अधिकथित करने की वांछा करता है तो उसे तारीख 24 नवम्बर, 1983 वाले उक्त सरकारी संकल्प के खंड (8) को अपनाकर करना चाहिए ।

15. हम इन दोनों तर्कों में से किसी भी तर्क को स्वीकार करने में असमर्थ हैं । समिति के समक्ष विचारार्थ अनेक पुस्तकें प्रस्तुत की जाएंगी जिनमें से एक या अधिक पुस्तकें सदस्यों में से किसी एक सदस्य द्वारा पेश की गई होंगी

और अन्य एक या अधिक पुस्तकें अन्य सदस्यों में से कुछ सदस्यों द्वारा पेश की गई होंगी। सम्बद्ध सदस्य द्वारा विचार-विमर्श में भाग न लेना मात्र अथवा जब उसकी पुस्तक या पुस्तकों पर विचार किया जा रहा हो, उस समय उसका उठकर चला जाना पर्याप्त नहीं है क्योंकि तत्प्रतिफल का दोष इससे दूर नहीं किया जा सकता। विचार-विमर्श करने वाले सदस्य इस बात को मन में रखेंगे कि उनकी पुस्तकों के चयन की बारी भी आएगी और सम्बद्ध सदस्य जो कि सम्मिलित नहीं हुआ था, अथवा जो विचार-विमर्श के समय उठकर चला गया था, ऐसी अवस्था में उनकी पुस्तकों का चयन करने के बारे में उनके पक्ष में प्रवृत्ति नहीं रखेगा।

16. अपीलार्थियों की ओर से यह सुझाव दिया गया था कि मार्गदर्शक सिद्धांतों को अधिकथित करते समय हमें यह उपबंध करना चाहिए कि यदि किसी प्रकाशक ने पुस्तकों के चयन से सम्बद्ध किसी समिति अथवा उप-समिति के सदस्यों में से किसी एक सदस्य द्वारा लिखित कोई पुस्तक प्रकाशित की है तो ऐसे प्रकाशक को चयन किए जाने के लिए कोई पुस्तक प्रस्तुत करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाना चाहिए हालांकि उस ग्रन्थकार-सदस्य द्वारा चयन के लिए कोई पुस्तक प्रस्तुत नहीं की गई थी। यह दलील दी गई थी कि ऐसे मामले में ग्रन्थकार-सदस्य उस प्रकाशक से अच्छे संबंध बनाए रखने के लिए उसकी पुस्तक का चयन अथवा अनुमोदन करने के लिए उसके पक्ष में प्रवृत्ति धारण करेगा। हमारे विचार में यह सुझाव वास्तविक नहीं है। बहुत से व्यक्ति उस रोग के शिकार हो जाते हैं जिसे जुवेनल ने लेखक की प्रवृत्ति (राइटर्स इच) का नाम दिया था क्योंकि जैसा कि बायरन ने 'इंग्लिश बार्ड्स एण्ड स्काटिश रिव्यूअर्स' नामक अपनी पुस्तक में यह कहा था—

> "अपने नाम को मुद्रित रूप में देखना निश्चित रूप से अच्छा लगता है;
>
> पुस्तक तो पुस्तक ही है यद्यपि उसमें कोई विशेष बात न भी हो।"

इसलिए प्रकाशकों को मात्र इस कारण कि उन्होंने किसी समय पुस्तकों के चयन से सम्बद्ध समिति अथवा उप-समिति के सदस्यों में से किसी एक सदस्य द्वारा लिखित पुस्तक प्रकाशित की थी, चयन हेतु पुस्तकें प्रस्तुत करने से प्रतिषिद्ध करना अनुचित है। प्रकाशकों की विशाल संख्या है किन्तु अच्छे प्रकाशक थोड़े ही हैं और इसीलिए ऐसे प्रकाशक बहुधा पुस्तकों को प्रकाशित करते रहेंगे। ऐसे

मार्गदर्शक सिद्धान्त अधिकथित करना बड़ी संख्या में पुस्तकों को निष्कासित करना होगा जो कि चयन किए जाने योग्य हैं ।

17. उपर्युक्त विचार-विमर्श के प्रकाश में, हम निम्नलिखित मार्गदर्शक सिद्धान्तों को अधिकथित करते हैं जिन्हें राज्य सरकार, सरकारी प्राधिकारियों तथा ऐसी सभी समितियों को अपनाना होगा जो पाठ्य पुस्तकों के तथा शिक्षा संस्थानों के पुस्तकालयों के लिए पुस्तकों के चयन के लिए गठित की गई हो भले ही ऐसी समिति को समिति अथवा उप-समिति का नाम दिया गया हो या उसे किसी अन्य अभिदान से वर्णित किया गया हो—

(1) ऐसी समिति में न केवल सरकारी पदधारी होने चाहिएं अथवा उसमें सरकारी पदधारियों का आधिक्य होना चाहिए क्योंकि सरकारी पदधारी, किंचित अपवादों को छोड़कर, व्यापक रूप से केवल प्रशासनिक अनुभव रखते हैं । इसलिए सरकारी पदधारियों के अतिरिक्त समिति को चाहिए कि वह ज्ञान के उन विशिष्ट क्षेत्रों में अग्रगण्य व्यक्तियों से गठित हो जिसके लिए कि पुस्तकों का चयन किया जा रहा है । गैर-शासकीय सदस्यों की नियुक्ति राजनीतिक संरक्षण के रूप में अथवा राजनीतिक विचारधाराओं के आधार पर या दलों को ध्यान में रखते हुए नहीं की जानी चाहिए बल्कि वह केवल योग्यता के आधार पर की जानी चाहिए ।

(2) समिति का कोई भी ऐसा सदस्य जिसके द्वारा लिखित अथवा सम्पादित पुस्तक या तो स्वयं उसके द्वारा या उसके प्रकाशक के द्वारा अनुमोदन अथवा चयन के लिए प्रस्तुत की जाती है, समिति का सदस्य नहीं बना रहना चाहिए । यदि वह गैर-शासकीय सदस्य है तो उसे चाहिए कि वह इसी आधार पर समिति में से त्याग पत्र दे दे । यदि वह सरकारी पदधारी है, तो उसे चाहिए कि वह सरकार को अथवा उस समिति पर उसे नियुक्त करने वाले प्राधिकारियों के इस तथ्य से संसूचित करे कि उसके द्वारा लिखित अथवा सम्पादित पुस्तक अनुमोदन अथवा चयन के लिए प्रस्तुत की गई है और सरकार अथवा सम्बद्ध प्राधिकारी को चाहिए कि वह ऐसे सदस्य के स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को प्रतिस्थापित कर दे चाहे वह शासकीय हो अथवा गैर-शासकीय किन्तु जिसकी कोई भी पुस्तक अनुमोदन अथवा चयन के लिए प्रस्तुत न की गई हो ।

(3) पुस्तकों का कोई भी प्रकाशक अथवा उसका प्रतिनिधि समिति का सदस्य नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए और न ही उसे समिति में

उपस्थित रहने अथवा उसके विचार-विमर्श में सम्मिलित होने के लिए अनुज्ञात किया जाना चाहिए ।

18. ऊपर जो हमने मार्गदर्शक सिद्धान्त अधिकथित किए हैं वे नि:शेषक सिद्धान्तों के रूप से आशयित नहीं हैं बल्कि वे मात्र उन निपट आवश्यकताओं को अन्तर्विष्ट करते हैं जो अपेक्षित हैं । हमें इस बात का भान है कि किसी न्यायालय द्वारा अधिकथित मार्गदर्शक सिद्धान्त वस्तुत: उपर्युक्त पुस्तकों के चयन को सुनिश्चित नहीं बना सके । यह आवश्यक रूप से समिति की सामाजिक जागरूकता और सदस्यों के नैतिक विचारतंतु पर निर्भर करता है । इसी प्रकार न्यायालय का कोई भी निर्णय पृष्ठभूमि में डाले जाने वाले असर के दोष को दूर नहीं कर सकता । यहां निश्चित रूप से बलपूर्वक उस समिति के सदस्यों के उत्तरदायित्व की सूझबूझ पर उस महत्वपूर्ण कर्तव्य के निर्वहन पर विश्वास करना होगा जोकि उन्हें सौंपा गया है ।

19. ऊपर वर्णित कारणों से हम इस अपील को मंजूर करते हैं और उड़ीसा राज्य को यह निदेश देते हैं कि वह तारीख 24 नवम्बर, 1983 वाले सरकारी संकल्प को समुचित रूप से संशोधित करें अथवा उस अधिसूचना को अतिष्ठित करते हुए नए सिरे से एक अधिसूचना जारी करें जिसमें हमारे द्वारा ऊपर अधिकथित मार्गदर्शक सिद्धान्त समाविष्ट हों ; यह कार्य यथासंभव त्वरिततापूर्वक कर दिया जाना चाहिए और किसी भी स्थिति में इसे पुस्तकों के अग्रिम चयन से पूर्व सम्पन्न कर दिया जाना चाहिए और इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि जो चयन पहले किए जा चुके हैं उन पर कोई प्रभाव न पड़े ।

20. इस मामले के विशिष्ट तथ्यों और परिस्थितियों में इस अपील के विषय में खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं दिया जाएगा ।

अपील मंजूर की गई ।

भू०

ओ० पी० सिगला और एक अन्य

बनाम

भारत संघ और अन्य

और

साधुराम और अन्य

बनाम

भारत संघ और अन्य

(14 अगस्त, 1984)

(मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़, न्यायाधिपति आर० एस० पाठक और सब्यसाची मुखर्जी)

दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा नियम, 1970—नियम 7, 8, 16 और 17 (सपठित संविधान, 1950, अनुच्छेद 14 और 16)—निर्वचन और प्रभाव—दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में अपर जिला और सेशन न्यायाधीशों की ज्येष्ठता सूची—नियम 16 के अधीन नियुक्त किए गए प्रोन्नत व्यक्तियों का अनेक वर्षों से अपर जिला और सेशन न्यायाधीशों के पद पर अविछिन्न रूप से निरन्तर स्थानापन्न हैसियत में कार्य किया जाना—उनसे बाद में सीधे भर्ती किए गए कुछ व्यक्तियों को ज्येष्ठता-सूची में उनसे ऊपर पंक्ति में दिखाया जाना—नियम 7 के परन्तुक द्वारा विहित कोटा और चक्रानुक्रम का सिद्धान्त उस समय लागू नहीं रहता जब सेवा में नियुक्तियां उक्त नियम 16 और 17 के अधीन की जाती हैं—अतः अनुच्छेद 14 और 16 के उल्लघन में होने के कारण ज्येष्ठता सूची अभिखण्डित करनी होगी।

दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा नियम, 1970—नियम 2 (ख) और 2 (घ)—'काडर' पद की परिभाषा—प्रत्येक प्रोन्नत व्यक्ति जो सेवा में अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के पद पर है, काडर पद का धारक है चाहे वह पद स्थायी हो या अस्थायी।

पिटीशनरगण सुसंगत समय पर दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में अपर जिला और सेशन न्यायाधीशों के अस्थायी पदों पर काम कर रहे हैं। इन पदों

को दिल्ली प्रशासन ने अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के काडर में बनाया था। पिटीशनरों की दलील है कि प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के बीच ज्येष्ठता का अवधारण अपर जिला और सेशन न्यायाधीशों के रूप में उनकी निरन्तर स्थानापन्न की तारीखों के अनुसार किया जाएगा और यह कि जो सीधे भर्ती से अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के रूप में प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों की इस प्रकार नियुक्ति किए जाने के बाद नियुक्त किए जाते हैं, वे प्रोन्नत व्यक्तियों से ज्येष्ठ नहीं हो सकते। इस बात पर जोर दिया गया कि प्रोन्नत व्यक्ति समरूप कार्य करते हैं और उन्हीं उत्तरदायित्वों का निर्वहन करते हैं, जिनका सीधे भर्ती किए गए व्यक्ति करते हैं और नियुक्ति किए जाने पर वे एक सामान्य वर्ग गठित करते हैं। अतः बाद में नियुक्त किए गए सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों को ज्येष्ठ बनाना संविधान के अनुच्छेद 14 और 16 के उल्लंघन में है। इन दलीलों के समर्थन में प्रोन्नत व्यक्तियों ने चार्ट फाइल किए हैं। ये चार्ट निर्विवाद रूप से यह दर्शाते हैं कि जो प्रोन्नत व्यक्ति अस्थायी अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के पद पर 8 से 12 वर्ष की लगातार अवधि में काम करते रहे हैं, वे सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों से कनिष्ठ माने जाते हैं, जो बहुत बाद में अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किए गए हैं। इस प्रकार इस मामले में विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा नियम, 1970 के अनुसार प्रोन्नत व्यक्तियों और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों की पारस्परिक ज्येष्ठता सूची में रखा गया क्रम न्यायोचित है या नहीं? पिटीशन मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा नियम, 1970 के खण्ड(2) से इसमें कोई संदेह नहीं रहता कि नियमों की पूर्ण स्कीम और नियम 7 के परन्तुक का वास्तविक आशय यह है कि सेवा में 1/3 अधिष्ठायी पद सीधे भर्ती के लिए आरक्षित रखे जाएं, अन्यथा सीधे भर्ती किए गए और प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के बीच रिक्तियों के चक्रानुक्रम के लिए न कोई अवसर होगा और न ही कोई औचित्य। नियम 8(2), जो सेवा के सदस्यों में ज्येष्ठता निर्धारित करने के बारे में है, नियम 7 के परन्तुक के निर्वचन की आधारशिला प्रदान करता है। इसमें कहा गया है कि परन्तुक कोटा विहित करता है और दोनों प्रवर्गों के लिए आरक्षित रिक्तियां विहित करता है। नियम 7 के परन्तुक की भाषा निश्चय ही उपयुक्त नहीं है और अपरम्परावादी है यदि इसका आशय सीधे भर्ती वालों के लिए कोटा विहित करना है। किन्तु, परन्तुक को नियम 8(2) के साथ पढ़ा जाना चाहिए क्योंकि दोनों उपबंध एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इसके संयुक्त पठन से केवल यही परिणाम निकलता है कि यह परन्तुक सीधे भर्ती के लिए 1/3 कोटा विहित करता है। (पैरा 17)

उपरोक्त नियमों के नियम 16 और 17 के उपबंधों से यह स्थिति सामने आती है कि सेवा में अस्थायी पद सृष्ट करना अनुज्ञेय है और सेवा में अधिष्ठायी रिक्तियां भी अस्थायी नियुक्तियां करके भरी जा सकती हैं। इस दोहरी शक्ति पर दो प्रतिबंध हैं कि उच्च न्यायालय से परामर्श किया जाना चाहिए और ऐसी नियुक्तियां केवल प्रोन्नत व्यक्तियों में से की जानी चाहिएं। यदि अस्थायी पदों पर या अधिष्ठायी रिक्तियों पर सेवा में अस्थायी नियुक्तियां नियमों के ढांचे के अन्तर्गत की जा सकती हैं और केवल प्रोन्नत व्यक्तियों में से ही करनी होंगी तो नियम 7 के परन्तुक में अन्तर्विष्ट कोटा सिद्धांत उस समय अनिवार्यत: खण्डित हो जाना चाहिए जब ऐसी नियुक्तियां की जाएं। इसका एकमात्र कारण यह है कि सीधे भर्ती किए गए व्यक्ति सेवा में अस्थायी पदों पर या सेवा में अधिष्ठायी रिक्तियों पर जो कि अस्थायी नियुक्तियां करके भरी जाती हैं, नियुक्त नहीं किए जा सकते। इस प्रकार, यद्यपि नियम 7 का परन्तुक सीधे भर्ती के लिए 1/3 कोटा विहित करता है, फिर भी नियम 16 और 17 इन नियमों में उल्लिखित परिस्थितियों में कोटा सिद्धांत का पालन न करने की अनुमति देते हैं। (पैरा 18)

नियम 16 अस्थायी पदों पर प्रोन्नतों की नियुक्ति के लिए उपबंध करता है जबकि नियम 17 अस्थायी आधार पर सेवा में अधिष्ठायी रिक्तियों पर प्रोन्नत व्यक्तियों की नियुक्ति के लिए उपबन्ध करता है। जो प्रोन्नत व्यक्ति इन दो नियमों में से किसी के भी अधीन नियुक्त किया जाए उसे उसी वर्ग का माना जाएगा, जिसके नियम 5(2) के अधीन सीधे भर्ती किए गए माने जाते हैं। वे वही कार्य करते हैं, वैसे ही कर्तव्यों का निर्वहन करते हैं और उन्हीं उत्तरदायित्वों का पालन करते हैं, जिनका सीधे भर्ती किए गए करते हैं। वे सेवा में पदों पर उसी रीति से नियमित आधार पर नियुक्त किए जाते हैं, जैसे सीधे भर्ती किए गए नियुक्त किए जाते हैं। केवल एक अन्तर होता है कि जबकि पश्चात् कथित उच्च न्यायालय की सिफारिश पर नियुक्त किए जाते हैं, प्रोन्नत व्यक्ति उच्च न्यायालय के परामर्श से नियुक्त किए जाते हैं। अतः एक ओर सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के बीच तथा दूसरी ओर सेवा में नियुक्त प्रोन्नत व्यक्तियों के बीच ज्येष्ठता-सूची में, उनके स्थान के विषय में कोई अंतर नहीं किया जा सकता। ज्येष्ठता-सूची में से उन प्रोन्नत व्यक्तियों को निकालना जो सेवा में पदों पर नियुक्त किए जाएं, चाहे ऐसी नियुक्ति अस्थायी पद पर हो या अस्थायी हैसियत में अधिष्ठायी रिक्तियों पर हो, समता के सिद्धान्त के उल्लंघन के समान होगा क्योंकि इससे उन व्यक्तियों के साथ, जो एक सी

स्थिति में है, एक ऐसे विषय में जो उनके जीवन की प्रगति का एक महत्वपूर्ण पहलू है, असमान व्यवहार हो जाएगा। (पैरा 28)

दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा के इतिहास पर विचार करने के बाद यह स्पष्ट है कि "आगे आदेश होने तक" पद सेवा में अस्थायी पद उत्पन्न करने और उन्हें स्थायित्व प्रदान करने की एक जानी-पहचानी सरकारी युक्ति है, जबकि स्थायी पदों का सृजन नितान्त आवश्यक है। इस तथ्य से कि नियम 16(1) के अधीन सेवा में बनाए गए अस्थायी पद अनेक वर्षों तक चलते रहे, यह पता चलता है कि उन पदों के धारकों को सौंपा गया काम, कम से कम कुछ बाद के प्रक्रम पर, आगे अस्थायी प्रकृति का नहीं रहा, फिर भी अस्थायी पदों को स्थायी पदों में बदलने के बजाए प्राधिकारी मामले को टालते रहे और प्रोन्नत व्यक्तियों की युक्तियुक्त प्रत्याशाओं को अनजाने में संकटापन्न करते रहे। कोई भी ऐसा दिखाई नहीं पड़ता जो उन प्रोन्नत व्यक्तियों के योगदान को नगण्य समझने में हितबद्ध हो, जो सेवा में अस्थायी पदों पर थे या जानबूझकर उनकी प्रोन्नति में रोड़े अटकाना चाहते हों। नियम 7 का परन्तुक कोटा और चक्रानुक्रम पद्धति विहित करता है। जब स्थायी पदों की स्पष्ट रूप से आवश्यकता थी, तो सेवा में अस्थायी पद सृष्ट करके उस नियम को निष्क्रिय क्यों रहने दिया गया। एक और दो के अनुपात में सीधे भर्ती वालों और प्रोन्नतों में स्थायी पद आवंटित किए जा सकते थे। इन परिस्थितियों में प्राधिकारियों के विलम्बकारी और अनभिज्ञतापूर्ण दृष्टिकोण से प्रोन्नत व्यक्तियों को दण्डित करना नितान्त अन्यायपूर्ण होगा। प्रोन्नत व्यक्तियों से यह कहना उचित नहीं होगा कि वे उन सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों से कनिष्ठ हैं जो उनसे सेवा में सृष्ट पदों पर स्थानापन्न हैसियत में निरन्तर 5 से 10 वर्ष कार्य करने के बाद नियुक्त किए गए हैं और वे उन पदों पर हैं, भले ही ऐसे पद अस्थायी हों, कम से कम इस न्यायालय को उन्हें असफल नहीं करना चाहिए। (पैरा 30)

यद्यपि नियम 7 का परन्तुक सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के लिए एक-तिहाई कोटा विहित करता है तथा उनके और उन प्रोन्नत व्यक्तियों के बीच जो सेवा में नियुक्त किए गए हों, रिक्तियों के चक्रानुक्रम के लिए उपबंध करता है, फिर भी यह नियम उस समय अनिवार्यतः खण्डित कैसे हो जाता है, जब सेवा में प्रोन्नत व्यक्तियों की नियुक्तियां नियम 16 और 17 के अधीन की जाती हैं। इन दो नियमों के अधीन नियुक्तियां केवल प्रोन्नत व्यक्तियों में से ही करनी होंगी। जब कभी सेवा में नियुक्तियां इन नियमों में से किसी के अधीन की जाती हैं, तो न तो सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के लिए आरक्षित कोटा लागू होता है और न ही उनके और प्रोन्नत व्यक्तियों के बीच रिक्तियों

के चक्रानुक्रम का सिद्धान्त लागू हो सकता है, तब प्रश्न यह है कि कोटा और चक्रानुक्रम के सिद्धान्त को निलम्बित करने से उत्पन्न स्थिति में एक ओर सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों तथा दूसरी ओर, नियम 16 और 17 के अधीन नियुक्त किए गए प्रोन्नत व्यक्तियों के बीच ज्येष्ठता अवधारित करने के लिए कौन-सा साम्यिक सिद्धान्त होगा। (पैरा 31)

नियम 16 के अधीन नियुक्त प्रोन्नत व्यक्ति और नियम 17 के अधीन नियुक्त व्यक्तियों के बीच उप-वर्गीकरण करना अति तकनीकी हो जाएगा, जिसका उद्देश्य प्रोन्नत व्यक्तियों और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के साथ प्रास्थिति और अवसर की समता से पश्चात्‌कथित को वंचित करना होगा। यह सही है कि नियम 16 के अधीन प्रोन्नत व्यक्ति सेवा में अस्थायी पदों पर नियुक्त किए जाते हैं जबकि नियम 17 के अधीन वे सेवा में अधिष्ठायी रिक्तियों पर अस्थायी हैसियत में नियुक्त किए जाते हैं। किन्तु इस प्रकार के सेवा जंजाल से यह वास्तविक प्रश्न दृष्टि से ओझल हो जाएगा कि क्या विभिन्न नियमों के अधीन नियुक्त व्यक्ति आवश्यक रूप से, भिन्न-भिन्न वर्गों के होते हैं और उनसे एक-से कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों वाले पदों पर असमान लेबल लगाने की जानी पहचानी युक्ति का बजट संबंधी समीचीनता से वशीभूत होकर कृत्रिम सहारा लेकर असमताएं पैदा हो जाती हैं। उन पदों के लिए नियुक्ति से पहले एक समान परीक्षाएं ली जाती हैं। यह भी हो सकता है कि परामर्श की प्रक्रिया में उच्च न्यायालय नियम 17 के अधीन प्रस्थापित की गई नियुक्तियों की अपेक्षा नियम 16 के अधीन प्रस्थापित नियुक्तियों के बारे में अधिक सतर्कता बरते। किन्तु यह तथ्य उच्च न्यायालय अपनी मर्जी से विभिन्न नियमों के अधीन की गई नियुक्तियों के विषय में कोई विशेष दृष्टिकोण अपनाना चाहता है, इस सिद्धांत को न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता कि विभिन्न नियमों के अधीन नियुक्त किए व्यक्ति अवश्यमेव भिन्न-भिन्न वर्गों के होते हैं। दोनों नियमों के अधीन नियुक्ति के लिए समान रूप से यह अपेक्षा है कि वे उच्च न्यायालय के परामर्श से की जाए। अतः उच्च न्यायालय से यह प्रत्याशा की जाती है कि वह एक ही मापदण्ड अपनाए और एक ही दृष्टिकोण अपनाए, चाहे नियुक्तियां नियम 16 के अधीन की जानी हों या नियम 17 के अधीन। नियम 16 या नियम 17 के अधीन नियुक्त किए जाने वाले प्रोन्नत व्यक्तियों का उप-वर्गीकरण के प्रयास से एक अन्तर आ जाएगा, जहां कोई अन्तर विद्यमान नहीं है। वर्गीकरण का उद्देश्य ऐसी स्थितियों का उपचार ढूंढना होता है, न कि उन्हें उत्पन्न करना या अपनाए रखना। (पैरा 32)

(अल्पमत : न्या० सव्यसाची मुखर्जी)

उपरोक्त नियमों के नियम 7 में, जो नियमित नियुक्ति के बारे में है, उसी भर्ती की दो पद्धतियां उपबंधित की गयी हैं, अर्थात (1) चयन के आधार पर प्रोन्नति द्वारा और (2) अधिवक्ताओं में से सीधे भर्ती द्वारा। जहां तक अधिवक्ताओं में से सीधी भर्ती का संबंध है इसमें यह स्पष्ट कहा गया है कि "सेवा में अधिष्ठायी पदों के 1/3 के अनधिक पद सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों द्वारा धारित किए जाएंगे।" इसे बिना किसी और बात के मिलाए हुए और सहायता लिए हुए या सेवा संबंधी शब्दावली से बिना प्रभावित हुए और किन्हीं अन्य नियमों के संदर्भ में अन्य उपविधियों के अर्थान्वयन से प्रभावित हुए बिना साधारण रूप से पढ़ने पर यह प्रतीत होता है कि इसमें मात्र यह उपबंधित है कि ऐसी दशा में जब किसी एक ही वर्ष में अधिवक्ताओं में से सीधी भर्ती द्वारा तथा प्रोन्नति द्वारा भर्ती के लिए रिक्तियां हों तो अधिष्ठायी पदों के 1/3 से अधिक रिक्तियां सीधी भर्ती द्वारा नहीं भरी जानी चाहिएं। इसमें यही कहा गया है, इससे अधिक नहीं। यह दलील देना कठिन है कि अधिवक्ताओं की भर्ती का 1/3 कोटा है। नियम में यह नहीं कहा गया है कि प्रत्येक वर्ष सीधे भर्ती किए जाने वाले व्यक्तियों का कोटा उस वर्ष की जाने वाली भर्ती का 1/3 होना चाहिए। इसके द्वारा किसी वर्ष के लिए अधिवक्ताओं के उपलब्ध होने और नियुक्ति के लिए इच्छुक होने की दशा में अधिवक्ताओं की भर्ती की संख्या पर अधिकतम सीमा लगायी गयी है। इसमें उनके लिए कोई कोटा नियत नहीं किया गया है। (पैरा 58)

नियम 8 के उप-नियम (1) में यह अनुध्यात किया गया है कि सेवा में प्रोन्नत किए गए दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्यों की परस्पर ज्येष्ठता वही होगी जैसी उनकी दिल्ली न्यायिक सेवा में थी। वर्तमान संविवाद में इनसे कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती। तथापि, नियम 8 के उप-नियम (2) में यह अनुध्यात किया गया है कि प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के मुकाबले सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों की ज्येष्ठता सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों और प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के बीच नियम 7 द्वारा उपबंधित दोनों प्रवर्गों के लिए आरक्षित कोटे के आधार पर चक्रानुक्रम रीति में अवधारित की जाएगी और यह कि प्रथम उपलब्ध रिक्ति सीधी भर्ती द्वारा भरी जाएगी और अगली दो रिक्तियां प्रोन्नति द्वारा और आगे इसी प्रकार भरी जाएंगी। उप-नियम (2) अथवा नियम 8 के उपनियम (2) के निर्माताओं ने इस वस्तुपरक स्थिति का अनुमान और कल्पना की होगी कि नियम 7 द्वारा दोनों प्रवर्गों के लिए रिक्तियों का कोटा आरक्षित कर दिया गया है जो वस्तुतः तथ्य नहीं है।

नियम 7 दोनों ही प्रवर्गों के लिए कोई कोटा आरक्षित नहीं करता। नियम 7 यह उपबंध करते हुए केवल सीधे भर्ती किए जाने वाले व्यक्तियों की अधिकतम सीमा का उपबंध करता है कि अधिवक्ताओं और प्रोन्नति द्वारा भर्ती किए जाने की दशा में अधिवक्ताओं में से भर्ती किए गए व्यक्ति सेवा में अधिष्ठायी पदों के 1/3 से अधिक नहीं होंगे। (पैरा 59)

नियम 8(2) इस भ्रम पर आधारित है कि सीधे भर्ती किए जाने वालों के लिए कोटा नियत है जो नियम 17 में नहीं है। नियम 8(2) का सीधे सादे शाब्दिक अर्थ के अनुसार यह अर्थान्वयन या निर्वचन नहीं किया जा सकता कि विधानमंडल द्वारा या नियम बनाने वाले निकाय द्वारा कोई कोटा निहित करने का विचार था। कोई अनुमानित कोटा नहीं है। यदि ऐसा कोई आशय था तो नियमों में उसका उल्लेख किया जाना था। ऐसा नहीं किया गया। नियम 8(2) गलत धारणा पर आधारित है। इसलिए इसका ऐसा प्रभाव होना चाहिए जिससे कि इसके पढ़ने पर पश्चात्वर्ती वर्षों के लिए कोई कोटा न पढ़ा जाए। इसे कैसे पढ़ा जाना चाहिए, इसे यहीं उपदर्शित करना होगा। मामले का एक अन्य पहलू भी है। नियम 16 में अतिरिक्त नियुक्तियां किए जाने की अनुमति दी गई है। वास्तविक परिस्थिति जो नियम 7 और नियम 8(2) के समायोजन की बाबत है उससे पूर्व यह आवश्यक होगा कि अधिवक्ताओं की ओर से उद्धृत किए गए कतिपय विनिश्चयों का उल्लेख किया जाए। यद्यपि इनमें अधिकांश सुसंगत नहीं हैं। (पैरा 61)

(बहुमत—मु० न्या० चन्द्रचूड़ और न्या० पाठक)

दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा नियम, 1977 के नियम 2(ख) में उपबंधित है कि "काडर" पद से ऐसा कोई पद अभिप्रेत है, जो अनुसूची में विनिर्दिष्ट है और इसके अन्तर्गत ऐसा अस्थायी पद भी आता है जो उसी प्रकार के पद नाम पर है जैसे कि अनुसूची में विनिर्दिष्ट पदों में से कोई पद। ऊपर से देखने पर इस परिभाषा से यह धारणा बनती है कि अपर जिला और सेशन न्यायाधीश का प्रत्येक अस्थाई पद एक काडर पद है, चाहे वह पद सेवा में सम्मिलित है या नहीं। ऐसा नहीं है। परिभाषा के प्रथम भाग में कहा गया है कि "काडर पद" से ऐसा पद अभिप्रेत है, जो अनुसूची में विनिर्दिष्ट है। वे पद जो अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं, सेवा के पद हैं। अतः परिभाषा के प्रथम भाग के कारण सेवा के पद काडर पद हैं। परिभाषा के दूसरे भाग में सही स्थिति को गलत समझे जाने की संभावना है। परिभाषा के इस भाग का कहना है कि काडर पद के अन्तर्गत ऐसा अस्थायी पद भी

आता है, जिसका वही पदनाम है, जो अनुसूची में विनिर्दिष्ट पद में से किसी का है। यह उपबंध नियम 16 का पारिणामिक और के अनुरूप उपबंध है। चूंकि इस नियम के अनुसार सेवा में अस्थायी पद सृष्ट करना अनुज्ञात है, इसलिए ऐसे पदों को काडर पद भी माना जाता है। मात्र इस कारण सेवा में किसी पद को काडर-बाह्य पद मानना विसंगत होगा कि वह पद अस्थायी है। आम तौर पर, काडर-बाह्य पद से सेवा में समाविष्ट पदों के काडर से बाहर का पद अभिप्रेत होता है। अतः सेवा के सभी पद चाहे स्थायी हों या अस्थायी, आमतौर पर काडर पद माने जाते हैं। किन्तु यदि सेवा नियमों की सामान्य पद्धति पर ध्यान न दें तो यह समझना आवश्यक है कि नियम 2(ख) सेवा के प्रत्येक पद को काडर पद बनाने का सीमित प्रभाव रखता है, चाहे वह पद स्थायी हो या अस्थायी। नियम 2(ख) के दूसरे भाग में अंतर्विष्ट समावेशनकारी खण्ड को इस नियम के प्रथम भाग के संदर्भ में पढ़ना होगा और उसे अपना अर्थ अपने पूर्वगामी खण्ड से लेना होगा। अतः प्रत्येक प्रोन्नत व्यक्ति जो सेवा में अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के पद पर है, काडर पद का धारक है, चाहे वह पद स्थायी हो या अस्थायी। सीधे भर्ती किए गए व्यक्ति हर स्थिति में काडर पद धारण करते हैं, क्योंकि उन्हें स्थायी आधार पर सेवा में अधिष्ठायी पद पर ही नियुक्त किया जा सकता है। नियम 16 और 17 के अनुसार सेवा में अस्थायी पदों पर उनकी नियुक्तियां या सेवा में अधिष्ठायी पदों पर अस्थायी तौर पर उनकी नियुक्तियां निषिद्ध हैं। (पैरा 19)

यद्यपि नियम 2 (ख) की सही व्याप्ति और अर्थ यही है, फिर भी इसके बारे में रूढ़िवादी होना अनावश्यक है, जैसा कि अभी प्रतीत होगा। यदि बहस का आधार यह मान लिया जाए कि सेवा में असम्मिलित अस्थायी पद भी काडर पद हैं, तो इससे इस सिद्धांत में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, जिसके आधार पर सेवा की ज्येष्ठता-सूची तैयार की जाएगी। (पैरा 20)

किन्तु उस सिद्धांत का उल्लेख करने से पहले नियम 2(ख) पर ध्यान देना उपयोगी होगा। इसमें उपबंधित है कि "सेवा के सदस्य" से ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जो नियमों के उपबंधानुसार सेवा में अधिष्ठायी हैसियत में नियुक्त किया जाए। इस नियम से ज्ञात होता है कि कोई व्यक्ति सेवा का सदस्य तभी बन सकता है जब दो शर्तें एक साथ विद्यमान हों। पहले, उसकी नियुक्ति अधिष्ठायी हैसियत में हो और दूसरे वह नियुक्ति सेवा में यानी सेवा में किसी पद पर हो। जो व्यक्ति सेवा में समाविष्ट पदों के नामों के समान नाम वाले पद धारण करते हैं, वे मात्र इसी कारण सेवा के सदस्य नहीं हो सकते। वे तभी

सेवा के सदस्य होते हैं जब वे सेवा में किसी पद पर अधिष्ठायी हैसियत में नियुक्त किए गए हों। (पैरा 21)

नियम 7 में भर्ती के दो भिन्न-भिन्न स्रोत विहित किए गए हैं और कोई वास्तविक कोटा नियत नहीं किया गया है। किन्तु सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों द्वारा धारित किए जाने वाले अधिष्ठायी पदों के 1/3 से अनधिक की सीमा लगा दी गयी है। नियम 7 और 8 विलग होकर विद्यमान नहीं रह सकते। इन्हें अन्य नियमों के साथ पढ़ना होगा, विशेष रूप से नियम 16 के साथ सौहार्दपूर्ण अर्थान्वियन के सिद्धांत को अपनाना होगा जिससे कि समस्त नियमों को लागू किया जा सके और कोई एक नियम दूसरे को व्यर्थ न करे। नियम 16 छूट देने वाला नियम है अथवा भर्ती संबंधी एक अतिरिक्त नियम है जिसमें अधिष्ठायी पदों के अतिरिक्त स्थायी पदों के भरे जाने का उपबंध किया गया है। अस्थायी पदों के सृजन का प्रभाव यह होगा कि "सेवा के सदस्यों" की संख्या में विस्तार होगा। चूंकि नियम 16 के अधीन अस्थायी पदों को भरने के लिए दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्यों तक ही भर्ती सीमित है इसलिए अस्थायी पदों पर भर्ती के लिए नियम 7 को लागू नहीं किया जा सकता। इसलिए अस्थायी पदों की बाबत कोटा संबंधी कोई नियम लागू नहीं है। (पैरा 78)

नियम 7(ख) के परन्तुक में सीधे भर्ती किए जाने वाले व्यक्तियों के लिए 1/3 का कोई कोटा विहित नहीं किया गया है। जैसाकि उल्लेख किया जा चुका है इसमें केवल अधिकतम सीमा उपदर्शित की गयी है और सीधे भर्ती किए जाने वाले व्यक्तियों द्वारा सेवा में अधिष्ठायी पदों के 1/3 से अनधिक पद धारण नहीं किए जाएंगे। (पैरा 80)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1983]	[1983] 3 उम० नि० प० 705=(1983) 3 एस० सी० सी० 601 : **ए० जनार्दन** वनाम **भारत संघ;**	36,74,83
[1983]	[1983] 1 उम० नि० प० 413=(1981) सप्ली० एस० सी० सी० 87 : **एस० पी० गुप्ता** बनाम **भारत संघ और अन्य;**	86
[1981]	[1981] 3 उम० नि० प० 493=[1981] 1 एस० सी० आर० 449 : **बालेश्वर दास** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य;**	35,75,77

[1981] (1981) की सिविल अपील सं० 2030 :
एस० वी० वीरायन चौधरी और अन्य बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य और अन्य; 86

[1980] [1980] 3 एस० सी० आर० 450 :
राजेन्द्र नारायण सिंह और अन्य बनाम बिहार राज्य और अन्य; 73

[1979] [1979] 3 एस० सी० आर० 584 :
परमजीत सिंह संधू बनाम रामरखा; 24

[1978] [1978] 3 उम० नि० प० 609=[1977] 3 एस० सी० आर० 775 :
एस० बी० पटवर्धन बनाम महाराष्ट्र राज्य; 34,70

[1976] [1976] 2 एस० सी० सी० 901 :
वी० वी० बदामी बनाम मैसूर राज्य; 24,64

[1975] [1975] 2 एस० सी० आर० 979 :
ए० के० सुब्रमण बनाम भारत संघ; 24

[1975] [1975] 1 उम० नि० प० 1428=[1975] 2 एस० सी० आर० 553 :
जोगिन्दर नाथ बनाम भारत संघ; 38,68,90

[1975] [1975] 1 एस० सी० आर० 104 :
बिशन सरूप गुप्ता बनाम भारत संघ; 24

[1974] [1974] 4 उम० नि० प० 1128=[1975] सप्ली० एस० सी० आर० 491 :
बिशनस्वरूप गुप्ता बनाम भारत संघ और अन्य; 66

[1970] [1970] 3 उम० नि० प० 863=[1970] 2 एस० सी० आर० 666 :
चन्द्रमोलेश्वर प्रसाद बनाम पटना उच्च न्यायालय और अन्य; 64

[1967] [1967] 2 एस० सी० आर० 703 :
एस० सी० जयसिंघानी बनाम भारत संघ 24,63

[1966] [1966] 3 एस० सी० आर० 600 :
मरविन काऊटीनों बनाम सीमा-शुल्क कलक्टर, बांबे; 24,62

आरम्भिक रिट अधिकारिता : 1980 का रिट पिटीशन सं० 5669 और 1981 का रिट पिटीशन सं० 1345.

(संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट पिटीशन)

पिटीशनरों की ओर से (1981 का रिट पिटीशन सं० 1345 में)	सर्वश्री जी० एल० सांघी, एस० के० ढोलकिया, एस० सी० गुप्ता, बी० एस० गुप्ता, पी० नरसिंहन और आर० सी० भाटिया
पिटीशनरों की ओर से (1980 का रिट पिटीशन सं० 5669 में)	सर्वश्री ए० के० सेन०, अनिल कुमार गुप्त, ब्रिज भूषण और श्रीमती रेनू गुप्त
प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 की ओर से	सर्वश्री वी० सी० महाजन, एन० सी० तालुकदार, वी० बी० सहारिया और आर० एन० पोद्दार
प्रत्यर्थी (दिल्ली उच्च न्यायालय) की ओर से	सर्वश्री पी० पी० राव, गिरीश चन्द्र, ए० मरियरपुथम्, कुमारी ए० सुभाषिणी और कुमारी अरुणा माथुर
प्रत्यर्थी सं० 4 (जी० एस० दावा) की ओर से	सर्वश्री के० के० वेनुगोपाल, श्रीमती उर्मिला कपूर और के० एल० लक्ष्मी वेनुगोपाल
प्रत्यर्थी सं० 5 और 6 की ओर से	डॉ० एल० एम० सिंघवी, सर्वश्री ए० एम० सिंघवी, के० लक्ष्मी वेनुगोपाल और श्रीमती शोभा दीक्षित
प्रत्यर्थी सं० 7 की ओर से	सर्वश्री एम० सी० भण्डारे और एस० सी० श्रीवास्तव
मध्यक्षेपी (दिल्ली उच्च न्यायालय बार एसोसिएशन) की ओर से	श्री एम० सी० भण्डारे
मध्यक्षेपी (दिल्ली उच्च न्यायालय तथा दिल्ली बार एसोसिएशन) की ओर से	श्री ए० के० गांगुली
मध्यक्षेपी (दिल्ली बार कौंसिल) की ओर से	श्री वी० पी० माहेश्वरी

मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़ (बहुमत निर्णय)—

एक बार फिर हमारे सामने प्रोन्नत किए गए और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों की परस्पर ज्येष्ठता का कष्टदायक प्रश्न उठा है। इस बार मुकदमा लड़ने वाले दिल्ली न्यायिक अधिकारी हैं। हमारा काम इसलिए और भी कठिन तथा संवेदनशील हो गया है क्योंकि हम सामान्यत: उन कठिनाइयों से परिचित हैं, जो न्यायिक अधिकारियों के रास्ते में आती हैं और उनकी उचित महत्त्वाकांक्षाओं के प्रति जागरूक हैं।

2. इस निर्णय में हम जिस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं, वह विद्वान् बन्धु न्या० सव्यसाची मुखर्जी के निष्कर्ष से भिन्न नहीं है। अपने निर्णय में बन्धु मुखर्जी ने और भी विस्तार के साथ इस मामले के विभिन्न पहलुओं पर तथा उन विनिश्चयों पर भी चर्चा की है, जो हमारे समक्ष प्रोद्धृत किए गए हैं। पृथक राय लिखने के हमारे कारण हैं, इस मामले का व्यापक महत्व, यह तथ्य कि इसका संबंध उच्चतर न्यायिक सेवा से है और इन रिट पिटीशनों के लिए सुसंगत कुछ उपबंधों के निर्वचनों के बारे में बन्धु मुखर्जी से हमारी ससम्मान असहमति।

3. प्रोन्नत किए गए और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के बीच जाने-पहचाने संविवाद से संबंधित अनेक विनिश्चय हैं और यह भी उसी कड़ी का एक अंग बन जाएगा। कदाचित्, ठीक एक और। चूंकि उन विभिन्न विनिश्चयों में इस संविवाद का कोई समाधानप्रद हल नहीं निकल सका, इसलिए हम उन नियमों की भाषा और स्कीम पर अपना ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास करेंगे जो यहां विचाराधीन हैं, बजाय इसके कि हम अपने समक्ष वाले मामलों—जैसे मामलों में सार्वभौमिक रूप से लागू होने वाले सिद्धांत प्रतिपादित करें। यह ठीक है कि इस न्यायालय के पूर्ववर्ती निर्णय इस सीमा तक आबद्धकर हैं कि वे सुसंगत हैं और उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु यदि वे अपने स्वयं के तथ्यों पर विशिष्ट सेवा के साधारण स्थापन पर, उसके ऐतिहासिक विकास पर और आक्षेपित उपबंधों के शब्दों पर आधारित हैं, तो उन मामलों की विस्तारपूर्वक चर्चा करके अंत में केवल यह मत न्यायोचित ठहराने से कि वे लागू नहीं होते और प्रभेद्य हैं, कोई उपयोगी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

4. हमारे समक्ष दो रिट पिटीशन हैं। ये दिल्ली के प्रोन्नत अपर जिला और सेशन न्यायधीशों ने संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल किए हैं। हम उनका उल्लेख दिल्ली उच्चत्तर न्यायिक सेवा के सदस्य के रूप में नहीं करेंगे क्योंकि यही सुनिश्चित रूप से वह प्रश्न है, जिसका विनिश्चय किया

जाना है । यदि वे इस सेवा के सदस्य हैं, तो वे अपना मुकदमा जीत जाएंगे । सुसंगत समय पर वे अस्थायी पदों पर काम कर रहे हैं । इन पदों को दिल्ली प्रशासन ने अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के काडर में बनाया था । इस हैसियत में उनमें से कुछ दिल्ली में किसी न किसी अधिकरण के, जैसे औद्योगिक अधिकरण या विक्रय कर अधिकरण के सदस्य के रूप में प्रतिनियुक्ति पर काम कर रहे हैं । भारत संघ, दिल्ली प्रशासन, दिल्ली उच्च न्यायालय और दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में सीधे भर्ती किए गए व्यक्ति इन पिटीशनों के प्रत्यर्थी बनाए गए हैं ।

5. दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा का गठन 15 मई, 1971 को 12 पदों को भरकर किया गया था । दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा नियम, 1970, जिनकी रचना दिल्ली के उप-राज्यपाल ने दिल्ली उच्च न्यायालय के परामर्श से की थी, दिल्ली राजपत्र में 27 अगस्त, 1970 को प्रकाशित किए गए थे । ये नियम संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन बनाए गए थे ।

6. नियम 2(ख) में उपबंधित है कि "काडर" पद से अनुसूची में विनिर्दिष्ट कोई पद अभिप्रेत है और इसके अन्तर्गत ऐसा स्थाई पद जिसका पदनाम वही हो जो अनुसूची में विनिर्दिष्ट पदों में से किसी का है तथा प्रशासक द्वारा 'काडर' पद के रूप में घोषित कोई स्थायी पद भी आता है ।

2. नियम 2(घ) मे उपबंधित है कि "सेवा का सदस्य" से नियम के उपबंधों के अनुसार सेवा में अधिष्ठायी हैसियत में नियुक्त कोई व्यक्ति अभिप्रेत है । नियम 2(ङ) में "सेवा" की परिभाषा से दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा अभिप्रेत है । कोई व्यक्ति जो दिल्ली न्यायिक सेवा से प्रोन्नति द्वारा दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में नियुक्त किया जाए, प्रोन्नत अधिकारी कहलाता है, जबकि कोई व्यक्ति जो अधिवक्ताओं में से इस सेवा में नियुक्त किया जाए, सीधे भर्ती किया गया कहलाता है । नियम 4 के अनुसार, सेवा की प्राधिकृत स्थायी सदस्य संख्या और उसमें सम्मिलित पद उतने होंगे जितने अनुसूची में विनिर्दिष्ट किए जाएं ।

7. पूर्वोक्त नियमों का भाग 3 सेवा में भर्ती की पद्धति के बारे में है । प्रोन्नत व्यक्तियों की भर्ती के सम्बन्ध में नियम 5(1) लागू होता है । इस नियम के अनुसार इस सेवा में दिल्ली न्यायिक सेवा में से व्यक्तियों की भर्ती उच्च न्यायालय के परामर्श से, प्रशासक द्वारा की जाएगी । प्रशासक से दिल्ली संघ राज्यक्षेत्र के लिए संविधान के अनुच्छेद 239 के अधीन नियुक्त प्रशासक अभिप्रेत है । सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में नियम

5(2) लागू होता है। इस नियम के अनुसार जो व्यक्ति पहले से दिल्ली न्यायिक सेवा में नहीं है; उनकी इस सेवा में नियुक्ति, उच्च न्यायालय की सिफारिश पर, प्रशासक द्वारा की जाएगी। दूसरे शब्दों में, प्रोन्नत व्यक्तियों की इस सेवा में नियुक्ति उच्च न्यायालय के परामर्श से की जाती है, जबकि सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों की इस सेवा में नियुक्ति उच्च न्यायालय की सिफारिश पर की जाती है।

8. नियम 7 और 8 प्रोन्नत किए गए और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के बीच उत्पन्न संविवाद के लिए महत्वपूर्ण हैं और वे इस प्रकार हैं :—

*"नियम 7—**नियमित भर्ती**—आरम्भिक भर्ती के बाद भर्ती—

(क) दिल्ली न्यायिक सेवा के उन सदस्यों में से चयन के आधार पर प्रोन्नति द्वारा की जाएगी जो दिल्ली न्यायिक सेवा में 10 वर्ष से अन्यून सेवा पूरी कर चुके हैं।

(ख) अधिवक्ताओं में से सीधे भर्ती द्वारा की जाएगी।

परन्तु सेवा में अधिष्ठाई पदों में से 1/3 से अनधिक पद सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों द्वारा धारित किए जाएंगे।"

"नियम 8—(1) सेवा में प्रोन्नत किए गए दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्यों की परस्पर ज्येष्ठता वही होगी, जो दिल्ली न्यायिक सेवा में है।

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"Rule 7—**Regular Recruitment**—Recruitment after the initial recruitment shall be made—

(a) by promotion on the basis of selection from members of the Delhi Judicial Service, who have completed not less than ten years of service in the Delhi Judicial Service:

(b) by direct recruitment from the Bar.

Provided that not more than 1/3rd of the substan-tive posts in the service shall be held by direct recruits."

"Rule 8—(1) The inter-se seniority of members of the Delhi Judicial Service promoted to the Service shall be the same as in the Delhi Judicial Service.

(2) प्रोन्नत व्यक्तियों के मुकाबले में सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों की ज्येष्ठता नियम 7 द्वारा दोनों प्रवर्गों के लिए आरक्षित रिक्तियों के कोटे के आधार पर सीधे भर्ती किए गए और प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के बीच रिक्तियों के चक्रानुक्रम में अवधारित की जाएगी, परन्तु प्रथम उपलब्ध रिक्ति सीधे भर्ती द्वारा भरी जाएगी और अगली दो रिक्तियां प्रोन्नत व्यक्तियों द्वारा भरी जाएंगी और आगे भी यही क्रम रहेगा।"

9. नियम 9 में सीधे भर्ती के लिए अर्हताएं अधिकथित की गई हैं। इसमें उपबन्धित है कि वे भारत के नागरिक हों, उन्होंने कम से कम 7 वर्ष वकालत की हो और उन्होंने उस वर्ष की 1 जनवरी को, जिसमें उनकी नियुक्ति की जाए, 35 वर्ष की आयु प्राप्त कर ली हो किन्तु 45 वर्ष की आयु प्राप्त न की हो।

10. नियम 6 के अनुसार प्रशासक ने सेवा में आरम्भिक भर्ती जिला न्यायाधीशों और अपर जिला न्यायाधीशों में से उच्च न्यायालय के परामर्श से की थी। ये वे लोग थे जो भारत संघ राज्य क्षेत्र में दूसरे राज्यों से प्रतिनियुक्ति पर काम कर रहे थे और ऐसी नियुक्ति के लिए, जिनके नामों की सिफारिश उनके राज्यों द्वारा की गई थी, जो व्यक्ति आरम्भिक भर्ती के रूप में सेवा में नियुक्त किए गए थे, वे नियुक्त की तारीख से ही पुष्ट हो गए। यह नियम 12(1) द्वारा उपबन्धित है। नियम 12 के उपनियम (2) में उपबन्धित है कि अन्य सभी अभ्यर्थी जो सेवा में नियुक्त किए जाएं, दो वर्ष की अवधि के लिए परिवीक्षाधीन रहेंगे। नियम 13 की अपेक्षा है कि परिवीक्षा पर सेवा में नियुक्त व्यक्ति दो वर्ष की उक्त अवधि के अन्त में सीधे पुष्ट कर दिए जाएंगे परन्तु प्रशासक उच्च न्यायालय की सिफारिश पर परिवीक्षाकाल बढ़ा सकता है किन्तु कुल मिलाकर तीन वर्ष से अधिक अवधि तक नहीं बढ़ा सकता। परिवीक्षाकाल के सफलतापूर्वक पूरा होने के बाद वह अधिकारी नियम 15 के उपबन्धानुसार, उच्च न्यायालय के परामर्श से प्रशासक द्वारा सेवा में पुष्ट कर दिया जाता है।

---

(2) The seniority of direct recruits vis-a-vis promotees shall be determined in the order of rotation of vacancies between the direct recruits and promotees based on the quotas of vacancies reserved for both categories by Rule 7 provided that the first available vacancy will be filled by a direct recruit and the next two vacancies by promotees and so on."

11. नियम 16 और 17, जो नियमों के अस्थायी नियुक्तियां नामक अध्याय में हैं हमारे प्रयोजन के लिए महत्वपूर्ण हैं यद्यपि वे नियम 7 और 8 के प्रवर्ग से एक भिन्न और पृथक् प्रवर्ग में आते हैं । वे इस प्रकार हैं—

*"नियम 16—(1) प्रशासक सेवा में अस्थायी पद सृष्ट कर सकेगा ।

(2) ऐसे पद दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्यों में से, उच्च न्यायालय के परामर्श से भरे जाएंगे ।"

"नियम 17—इन नियमों में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी प्रशासक, उच्च न्यायालय के परामर्श से, दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्यों में से अस्थायी नियुक्तियां करके सेवा में अधिष्ठायी रिक्तियां भर सकेगा ।"

12. नियमों की अनुसूची से पता चलता है कि दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा की आरम्भिक प्राधिकृत स्थायी सदस्य संख्या 16 थी, जिसमें से एक जिला और सेशन न्यायाधीश था और 12 अपर जिला और सेशन न्यायाधीश । शेष तीन नियुक्तियां छुट्टी, प्रतिनियुक्ति, आरक्षित रिक्तियों पर की जाती थीं । इन 16 पदों में से एक अधिकाल-वेतनमान पद था । तीन चयन श्रेणी पद थे और 12 काल वेतनमान पद ।

13. पिटीशनरों की दलील है कि प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के बीच ज्येष्ठता का अवधारण अपर जिला और सेशन न्यायाधीशों के रूप में उनकी निरन्तर स्थानापन्न की तारीखों के अनुसार किया जाएगा और यह कि जो सीधे भर्ती से अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के रूप में प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों की इस प्रकार नियुक्ति किए

---

*अंग्रेजी में इस प्रकार है—

"Rule 16—(1) The Administrator may create temporary posts in the service.

(2) Such posts shall be filled, in consmltation with the High Court, fiom amongst the members of the Delhi Judicial Service."

"Rule 17—Notwithstanding anything contained in these rules, the administrator may, in consultation with the High Court, fill substantive vacancies in the Service by making tamporary appointments thereto from amongst memders of the Delhi Judicial Service."

जाने के बाद नियुक्त किए जाते हैं, वे प्रोन्नत व्यक्तियों से ज्येष्ठ नहीं हो सकते। इस बात पर जोर दिया गया कि प्रोन्नत व्यक्ति समरूप कार्य करते हैं और उन्हीं उत्तरदायित्वों का निर्वहन करते हैं, जिनका सीधे भर्ती किए व्यक्ति करते हैं। और नियुक्त किए जाने पर वे एक सामान्य वर्ग गठित करते हैं। अतः बाद में नियुक्त किए गए सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों को ज्येष्ठ बनाना संविधान के अनुच्छेद 14 और 16 के उल्लंघन में है।

14. इन दलीलों के समर्थन में प्रोन्नत व्यक्तियों ने चार्ट फाइल किए हैं, जिनसे पता चलता है कि ज्येष्ठता के विषय में उनके साथ कितना घोर और भारी अन्याय हुआ है। ये चार्ट निर्विवाद रूप से यह दर्शाते हैं कि जो प्रोन्नत व्यक्ति अस्थायी अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के पद पर 8 से 12 वर्ष की लगातार अवधि में काम करते रहे हैं, वे सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों से कनिष्ठ माने जाते हैं, जो बहुत बाद में अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किए गए हैं। कुछ उदाहरणों से प्रोन्नत व्यक्तियों की व्यथा को समझने में मदद मिलेगी। श्री जी० एस० ढाका, जोकि इन रिट पिटीशनों के प्रत्यर्थियों में से एक है, 27 सितम्बर, 1978 को सेवा में सीधे नियुक्त किया गया था किन्तु उसकी ज्येष्ठता श्री सी० डी० वशिष्ठ और श्री ओ० पी० सिंगला से ऊपर है, जिन्हें क्रमशः 7 जून, 1977 और 1 अप्रैल, 1978 को अस्थायी अपर जिला और सेशन न्यायाधीश नियुक्त किया गया था। कुमारी ऊषा मेहरा, जे 22 अप्रैल, 1980 को अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के पद पर सीधे नियुक्त की गई थी, उन अनेक प्रोन्नत व्यक्तियों से ज्येष्ठ मानी जाती है, जो उससे बहुत पहले अस्थायी अपर जिला और सेशन न्यायाधीश नियुक्त किए गए थे। श्री डी० सी० अग्रवाल और श्री वी० के० अग्निहोत्री, श्री महेश चन्द्र श्री एस० आर० गोयल और श्री पी० एल० सिंगला सब 24 मार्च, 1972 को अस्थायी अपर जिला और सेशन न्यायाधीश नियुक्त किए गए थे। इस प्रकार वे कुमारी ऊषा मेहरा को सीधे अधिवक्ता संघ में से नियुक्त किए जाने से 8 वर्ष पहले नियुक्त किए गए थे। दिल्ली न्यायिक सेवा के पच्चीस अन्य सदस्य 31 अगस्त, 1973 और 11 दिसम्बर, 1979 के बीच विभिन्न तारीखों को अस्थायी अपर जिला और सेशन न्यायाधीश नियुक्त किए गए थे। ये सब कुमारी ऊषा मेहरा से कनिष्ठ दिखाए गए हैं।

15. समता के सांविधानिक संरक्षण और समान अवसर के अतिलंघन से संबंधित प्रश्न का उत्तर उस अर्थ पर निर्भर करेगा जो हम ऊपर उद्धृत नियमों को युक्तियुक्त रूप से दे सकते हैं। अतः पहले तो हमें यह विनिश्चय करना होगा कि क्या नियमों के अनुसार ज्येष्ठता सूची में रखा गया क्रम न्यायोचित है। यदि नियमों की भाषा के अमुसार यह क्रम न्यायोचित है, तभी

यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि क्या ये नियम अनुच्छेद 14 और 16 के उपबंधों का उल्लंघन करते हैं।

16. तार्किक रूप से हमें सबसे पहले इस प्रश्न की छानबीन करनी होगी कि नियम 7 के परन्तुक का क्या निर्वचन किया जाए। क्या यह परन्तुक कोई कोटा विहित करता है अथवा यह केवल एक अधिकतम सीमा का उपबंध करता है ? दूसरे शब्दों में, क्या परन्तुक के अनुसार, यह अपेक्षित है कि किसी समय विशेष पर सेवा में एक तिहाई अधिष्ठायी पद सीधे भर्ती के लिए आरक्षित रखे जाएंगे अथवा क्या इसमें यह उपबंधित है कि सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों द्वारा धारित पद सेवा में अधिष्ठायी पदों की कुल संख्या के एक तिहाई से अधिक नहीं होंगे ? वह परन्तुक इस प्रकार है—

> "परन्तु सेवा में अधिष्ठायी पदों के 1/3 से अनधिक पद सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों द्वारा धारित किए जाएंगे।"

यह भाषा प्रोन्नत व्यक्तियों की दलील के अधिक अनुरूप है कि यह परन्तुक एक अधिकतम सीमा लागू करके केवल यह विहित करता है कि सीधे भर्ती किए गए व्यक्ति 1/3 अधिष्ठायी पदों से अधिक धारित नहीं करेंगे। अनुभव से पता चलता है कि कोई उपबंध, जिसका आशय कोटा विहित करना होता है, साधारणतः यह उपबंध करता है कि, उदाहरण के लिए "1/3 अधिष्ठायी पद सीधे भर्ती द्वारा भरे जाएंगे।" कोटे वाले उपबंध में निषेधात्मक भाषा का प्रयोग नहीं किया जाता, जैसा कि प्रस्तुत मामले में परन्तुक में किया गया है कि "सेवा में अधिष्ठायी पदों के 1/3 से अनधिक" पद सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों द्वारा धारित किए जाएंगे।

17. यदि यह मामला परन्तुक से निपट जाता है तो इसका निर्वचन यह होगा कि यह सीधे भर्ती के लिए कोटा विहित नहीं करता है। यह केवल अधिष्ठायी पदों पर सीधे भर्ती द्वारा नियुक्ति को समर्थ बनाता है, जिससे कि वे सेवा में कुल अधिष्ठायी पदों में से 1/3 से अधिक पद धारण नहीं करेंगे। फिर भी यह सामान्य है कि जब कोई नियम या धारा किसी अखण्ड स्कीम का अंग होती है, तो उस पर अलग से विचार या अर्थ नहीं किया जाना चाहिए। उनमें से किसी एक या अधिक का सही अर्थ अवधारित करने के लिए ही सुसंगत नियमों या धाराओं की स्कीम को ध्यान में रखना होगा। अलग से किसी उपबंध पर विचार करने से यह जोखिम उठानी पड़ती है कि कुछ अन्य परस्पर संबद्ध उपबंध निरर्थक या निष्फल हो जाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि इससे अगले नियम अर्थात् नियम 8 पर ध्यान दिया जाए। इसके खण्ड (2) में उपबंधित है कि—

*"प्रोन्नत व्यक्तियों के मुकाबले में सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों की ज्येष्ठता नियम 7 द्वारा दोनों प्रवर्गों के लिए आरक्षित रिक्तियों के कोटे के आधार पर सीधे भर्ती वालों और प्रोन्नतों के बीच रिक्तियों के चक्रानुक्रम में अवधारित की जाएगी, परन्तु प्रथम उपलभ्य रिक्ति सीधे भर्ती द्वारा भरी जाएगी और अगली दो रिक्तियां प्रोन्नत व्यक्तियों द्वारा भरी जाएंगी और आगे भी यही क्रम रहेगा।"

(यह रेखांकन हमने किया है)

इस उपबंध से इसमें कोई संदेह नहीं रहता कि नियमों की पूर्ण स्कीम और नियम 7 के परन्तुक का वास्तविक आशय यह है कि सेवा में 1/3 अधिष्ठायी पद सीधे भर्ती के लिए आरक्षित रखे जाएं, अन्यथा सीधे भर्ती किए गए और प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के बीच रिक्तियों के चक्रानुक्रम के लिए न कोई अवसर होगा और न ही कोई औचित्य। नियम 8(2), जो सेवा के सदस्यों में ज्येष्ठता निर्धारित करने के बारे में है, नियम 7 के परन्तुक के निर्वचन की आधारशिला प्रदान करता है। इसका कहना है कि परन्तुक कोटा विहित करता है और दोनों प्रवर्गों के लिए आरक्षित रिक्तियां विहित करता है। नियम 7 के परन्तुक की भाषा निश्चय ही उपयुक्त नहीं है और अपरम्परावादी है यदि इसका आशय सीधे भर्ती वालों के लिए कोटा विहित करना है। किन्तु, जैसा कि मैं पहले उल्लेख कर चुका हूं, परन्तुक को नियम 8(2) के साथ पढ़ा जाना चाहिए क्योंकि दोनों उपबंध एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इसके संयुक्त पठन से केवल यही परिणाम निकलता है कि यह परन्तुक सीधे भर्ती के लिए 1/3 कोटा विहित करता है।

18. सम्पूर्ण के एक अंश के रूप में नियमों को पढ़ने की प्रक्रिया नियम 7 और 8 के साथ समाप्त नहीं हो जाती है। नियम 16 तथा 17 भी इस प्रयोजन के लिए सुसंगत हैं और सेवा में 1/3 अधिष्ठायी पदों पर सीधे भर्ती के लिए रिक्तियों के आरक्षण के प्रश्न से महत्वपूर्ण संबंध रखते हैं। नियम 16

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"The seniority of direct recruits vis-a-vis promotees shall be determined in the order of rotation of vacancies between the direct recruits and promotees based on the quotas of vacancies reserved for both catagories by Rule 7 provided that the first available vacancy will be filled by a direct recruit and the next two vacancies by promotees and so on."

(emphasis supplied)

का खण्ड (1) सेवा में अस्थायी पद सृष्ट करने के लिए प्रशासक को शक्ति प्रदान करता है। नियम 16 के खण्ड (2) द्वारा ऐसे पद, दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्यों में से उच्च न्यायालय के परामर्श से भरे जाने चाहिए, अर्थात् प्रोन्नत व्यक्तियों में से। नियम 17, जो सर्वोपरि उपबंध की प्रकृति का है, उपबंध करता है कि नियमों में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी प्रशासक, उच्च न्यायालय के परामर्श से, दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्यों में से अस्थायी नियुक्तियां करके सेवा में अधिष्ठायी रिक्तियां भर सकेगा। इस प्रकार, नियम 16 और 17 के उपबंधों से यह स्थिति सामने आती है कि सेवा में अस्थायी पद सृष्ट करना अनुज्ञेय है और सेवा में अधिष्ठायी रिक्तियां भी अस्थायी नियुक्तियां करके भरी जा सकती हैं। इस दोहरी शक्ति पर दो प्रतिबन्ध ये हैं कि उच्च न्यायालय से परामर्श किया जाना चाहिए और ऐसी नियुक्तियां केवल प्रोन्नत व्यक्तियों में से की जानी चाहिएं। यदि अस्थायी पदों पर या अधिष्ठायी रिक्तियों पर सेवा में अस्थायी नियुक्तियां नियमों के ढांचे के अन्तर्गत की जा सकती हैं और केवल प्रोन्नत व्यक्तियों में से ही करनी होगी तो नियम 7 के परन्तुक में अंतर्विष्ट कोटा सिद्धांत उस समय अनिवार्यतः खण्डित हो जाना चाहिए जब ऐसी नियुक्तियां की जाएं। इसका एकमात्र कारण यह है कि सीधे भर्ती किए गए व्यक्ति सेवा में अस्थायी पदों पर या सेवा में अधिष्ठायी रिक्तियों पर जो कि अस्थायी नियुक्तियां करके भरी जाती हैं नियुक्त नहीं किए जा सकते। इस प्रकार, यद्यपि नियम 7 का परन्तुक सीधे भर्ती के लिए 1/3 कोटा विहित करता है, फिर भी नियम 16 और 17 इन नियमों में उल्लिखित परिस्थितियों में कोटा सिद्धांत का पालन न करने की अनुमति देते हैं।

19. इस प्रक्रम पर नियम 2(ख) में "काडर पद" की परिभाषा पर ध्यान देना और उस भ्रांति का निवारण करना आवश्यक है, जो इस परिभाषा से उत्पन्न होनी संभाव्य है। नियम 2(ख) में उपबंधित है कि "काडर" पद से ऐसा कोई पद अभिप्रेत है, जो अनुसूची में विनिर्दिष्ट है और इसके अन्तर्गत ऐसा अस्थायी पद भी आता है जो उसी प्रकार के पदनाम पर है जैसे कि अनुसूची में विनिर्दिष्ट पदों में से कोई पद। ऊपर से देखने पर इस परिभाषा से यह धारणा बनती है कि अपर जिला और सेशन न्यायाधीश का प्रत्येक अस्थायी पद एक काडर पद है, चाहे वह पद सेवा में सम्मिलित है या नहीं, ऐसा नहीं है। परिभाषा के प्रथम भाग में कहा गया है कि 'काडर पद' से ऐसा पद अभिप्रेत है, जो अनुसूची में विनिर्दिष्ट है। वे पद जो अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं, सेवा के पद हैं। अतः परिभाषा के प्रथम भाग के कारण सेवा के पद काडर पद हैं। परिभाषा के दूसरे भाग में सही स्थिति को गलत समझे जाने की संभावना

है। परिभाषा के इस भाग का कहना है कि काडर पद के अन्तर्गत ऐसा अस्थायी पद भी आता है, जिसका वही पदनाम है, जो अनुसूची में विनिर्दिष्ट पद में से किसी का है। यह उपबंध नियम 16 का पारिणामिक और के अनुरूप उपबंध है। चूंकि इस नियम के अनुसार सेवा में अस्थायी पद सृष्ट करना अनुज्ञात है, इसलिए ऐसे पदों को काडर पद भी माना जाता है। सेवा में मात्र इस कारण किसी पद को काडर-बाह्य पद मानना विसंगत होगा कि वह पद अस्थायी है। आम तौर पर काडर-बाह्य पद से सेवा में समाविष्ट पदों के काडर से बाहर का पद अभिप्रेत होता है। अतः सेवा के सभी पद चाहे स्थायी हों या अस्थायी, आमतौर पर काडर पद माने जाते हैं। किन्तु यदि सेवा नियमों की सामान्य पद्धति पर ध्यान न दें तो यह समझना आवश्यक है कि नियम 2(ख) सेवा के प्रत्येक पद को काडर पद बनाने का सीमित प्रभाव रखता है, चाहे वह पद स्थायी हो या अस्थायी। नियम 2(ख) के दूसरे भाग में अंतर्विष्ट समावेशनकारी खण्ड को इस नियम के प्रथम भाग के संदर्भ में पढ़ना होगा और उसे अपना अर्थ अपने पूर्वगामी खण्ड से लेना होगा। अतः प्रत्येक प्रोन्नत व्यक्ति जो सेवा में अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के पद पर है, काडर पद का धारक है, चाहे वह पद स्थायी हो या अस्थायी। सीधे भर्ती किए गए व्यक्ति हर स्थिति में काडर पद धारण करते हैं, क्योंकि उन्हें स्थायी आधार पर सेवा में अधिष्ठायी पद पर ही नियुक्त किया जा सकता है। नियम 16 और 17 के अनुसार सेवा में अस्थायी पदों पर उनकी नियुक्तियां या सेवा में अधिष्ठायी पदों पर अस्थायी तौर पर उनकी नियुक्तियां निषिद्ध हैं।

20. यद्यपि नियम 2(ख) की सही व्याप्ति और अर्थ यही है फिर भी इसके बारे में रूढ़िवादी होना अनावश्क है, जैसा कि अभी प्रतीत होगा। यदि बहस का आधार यह मान लिया जाए कि सेवा में असम्मिलित अस्थायी पद भी काडर पद हैं, तो इससे इस सिद्धांत में कोई अंतर नहीं पड़ेगा, जिसके आधार पर सेवा की ज्येठष्ता-सूची तैयार की जाएगी।

21. किन्तु उस सिद्धांत का उल्लेख करने से पहले नियम 2(ख) पर ध्यान देना उपयोगी होगा। इसमें उपबंधित है कि "सेवा के सदस्य" से ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जो नियमों के उपबंधानुसार सेवा में अधिष्ठायी हैसियत में नियुक्त किया जाए। इस नियम से ज्ञात होता है कि कोई व्यक्ति सेवा का सदस्य तभी बन सकता है जब दो शर्तें एक साथ विद्यमान हों। पहले उसकी नियुक्ति अधिष्ठायी हैसियत में हो और दूसरे वह नियुक्ति सेवा में यानी सेवा में किसी पद पर हो। जो व्यक्ति सेवा में समाविष्ट पदों के नामों के समान नाम वाले पद धारण करते हैं, वे मात्र इसी कारण सेवा के सदस्य नहीं हो

सकते। वे तभी सेवा के सदस्य होते हैं जब वे सेवा में किसी पद पर अधिष्ठायी हैसियत में नियुक्त किए गए हों।

22. इस आनुकल्पिक धारणा को स्वीकार करने से कि अनुसूची में विनिर्दिष्ट पदों के नाम-जैसे पदनाम वाले अस्थायी पद काडर पद होते हैं, चाहे ऐसे पद सेवा में समाविष्ट हैं या नहीं, हर दशा में यह सिद्धांत न्यायोचित हो जाएगा कि इस मामले में, नियमों की स्कीम के अनुसार सेवा काडर से छोटा निकाय है। नियम 2(घ) में अंतर्विष्ट परिभाषा के अनुसार सेवा की सदस्यता उन व्यक्तियों तक सीमित हैं, जो सेवा में अधिष्ठायी हैसियत से नियुक्त किए जाते हैं। यदि विस्तृत अर्थ में पढ़ा जाए तो नियम 2(ख) के दूसरे भाग द्वारा जो आनुकल्पिक धारणा को जन्म देता है, प्रत्येक अस्थायी पद, जिसका पदनाम अनुसूची में विनिर्दिष्ट पदों में से किसी पद के नाम जैसा है, काडर पद है चाहे ऐसा पद सेवा में समाविष्ट है या नहीं। यदि इस नियम के दूसरे भाग का विस्तृत अर्थ किया जाए तो ऐसा पद और अनुसूची में विनिर्दिष्ट पद नियम 2(ख) के अनुसार एक साथ मिलकर काडर का गठन करेंगे।

23. इस पृष्ठभूमि में नियम 2(ख), 2(घ), 7, 8, 16 और 17 के निर्वचन और प्रभाव को समझने के बाद सीधे भर्ती किए गए और प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के बीच ज्येष्ठता के प्रश्न पर विचार करना आसान होगा। हम पिटीशनरों की इस दलील पर विचार करेंगे कि नियम 8 में उपबंधित ज्येष्ठता का सिद्धांत सांविधानिक दृष्टि से अविधिमान्य है। इस मामले में हमारा संबंध नियम 8(1) के उपबंध से नहीं है, जो दिल्ली न्यायिक सेवा के उन सदस्यों की पारस्परिक ज्येष्ठता को लागू होता है, जो दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में प्रोन्नत किए जाते हैं। दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में प्रोन्नत अधीनस्थ न्यायिक सेवा के सदस्यों की पुरानी ज्येष्ठता बनी रहती है। हमारा संबंध नियम 8 के खण्ड (2) से है, जिसका सुसंगत भाग यह उपबंध करता है कि प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के मुकाबले में सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों की ज्येष्ठता नियम 7 द्वारा दोनों प्रवर्गों के लिए आरक्षित रिक्तियों के कोटे के आधार पर सीधे भर्ती किए गए और प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के बीच रिक्तियों के चक्रानुक्रम में अवधारित की जाएगी, परन्तु प्रथम उपलभ्य रिक्ति सीधे भर्ती द्वारा भरी जाएगी और अगली दो रिक्तियां प्रोन्नत व्यक्तियों द्वारा भरी जाएंगी तथा आगे भी यही क्रम रहेगा।

24. इस न्यायालय ने अनेक मामलों में यह मत अपनाया है कि जब कभी नियम विभिन्न स्रोतों से सेवा में भर्ती के लिए उपबंध करते हैं, तो उन

स्रोतों से लिए गए व्यक्तियों की नियुक्ति के लिए कोटा विहित करने में तथा एक उल्लिखित अनुपात में उनमें से रिक्तियों के चक्रानुक्रम द्वारा कोटे का नियम बनाने में कोई अन्तर्निहित दोष नहीं होता। (देखिए, उदाहरण के लिए **मरविन काऊटीनों** बनाम **सीमा-शुल्क कलक्टर, बाम्बे**[1], **एस० सी० जयसिंघानी** बनाम **भारत संघ**[2], **बिशन सरूप गुप्ता** बनाम **भारत संघ**[3], **ए० के० सुब्रमण** बनाम **भारत संघ**[4], **बी० बी० बदामी** बनाम **मैसूर राज्य**[5] और **परमजीत सिंह संधू** बनाम **रामरखा**[6])। अतः नियम 8(2) केवल इसलिए असांविधानिक नहीं माना जा सकता कि इसके अनुसार सेवा में 1/3 रिक्तियां सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के लिए आरक्षित रखी गई हैं और इसमें यह उपबंधित है कि सेवा में उपलभ्य प्रथम रिक्ति सीधे भर्ती द्वारा भरी जाएगी और अगली दो प्रोन्नत व्यक्तियों द्वारा तथा आगे भी यही क्रम रहेगा।

25. फिर भी ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं, जिनमें यद्यपि नियम या धारा का उपबंध अविधिमान्य नहीं है, फिर भी वह रीति जिसमें वह उपबंध कार्यान्वित किया जाता है, उन व्यक्तियों में असमता उत्पन्न कर देता है, जो एक-सी परिस्थितियों में होने के कारण समान व्यवहार के लिए हकदार हैं। अत: यह ध्यान रखना होगा कि नियम 8(2) के उपबंधों को इस ढंग से लागू किया जाए कि इससे संविधान के अनुच्छेद 14 और 16 में अंतर्विष्ट समता की गारंटी और समान अवसर की गारन्टी का उल्लंघन न हो। इस प्रयोजन के लिए देखना आवश्यक है कि कौन से प्रोन्नत व्यक्तियों को उसी वर्ग का माना जा सकता है, जिस वर्ग के सीधे भर्ती किए गए व्यक्ति हैं।

26. ज्येष्ठता की सामान्य सूची में सम्मिलित किए जाने के अधिकार की पूर्व-अध्यपेक्षा यह है कि जो उस अधिकार का दावा करते हैं, उसमें मोटे तौर पर एक-सी विशेषताएं होनी चाहिएं। मात्र यह परिस्थिति कि वे ऐसे पद धारण करते हैं, जिनका पदनाम वही है, यह निष्कर्ष न्यायोचित होगा कि वे एक-ही वर्ग के हैं। जो व्यक्ति तदर्थ आधार पर या आकस्मिक कारणों से या काम चलाऊ व्यवस्था के रूप में नियुक्त या प्रोन्नत किए जाते हैं, वे ज्येष्ठता के प्रयोजनों के लिए उनके समकक्ष नहीं हो सकते, जिनकी उन पदों पर नियुक्ति भर्ती के नियमों के पूर्ण अनुपालन में की गई है। चाहे

---

[1] [1966] 3 एस० सी० आर० 600.
[2] [1967] 2 एस० सी० आर० 703.
[3] [1975] 1 एस० सी० आर० 104.
[4] [1975] 2 एस० सी० आर० 979.
[5] [1976] 2 एस० सी० सी० 901.
[6] [1979] 3 एस० सी० आर० 584.

पदों का ऐसा पश्चात्‌वर्ती वर्ग स्थायी हो या अस्थायी। प्रस्तुत मामले में, नियमों के अनुसार यह अपेक्षित नहीं है कि प्रथम वर्ग के व्यक्तियों को किसी विशेष शर्त की पूर्ति करनी होगी, जैसे उच्च न्यायालय से परामर्श। हमें बताया गया कि व्यावहारिक दृष्टि से जो व्यक्ति दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में तदर्थ आधार पर या आकस्मिक कारणों से या काम चलाऊ व्यवस्था के रूप में प्रोन्नत किए जाते हैं, वे तभी नियुक्त किए जाते हैं, जब उनके नाम उच्च न्यायालय द्वारा समर्थित या अनुमोदित कर दिये जाते हैं। ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी, किन्तु मुद्दा यह है कि नियमों में ऐसा कोई उपबंध नहीं है, जिसके अनुसार यह अपेक्षित हो कि ऐसी नियुक्तियां भी निश्चित सूत्र के अनुसार की जाएं। नियुक्तियां करते समय उच्च न्यायालय के प्रति प्राधिकारियों द्वारा दर्शित सौजन्य एक बात है। यह नितान्त भिन्न है कि प्राधिकारियों पर नियमों द्वारा अधिरोपित यह बाध्यता है कि जब कुछ अन्य नियुक्तियां की जाएं तो उच्च न्यायालय से परामर्श किया जाएगा। वस्तुतः उच्च न्यायालय से परामर्श की प्रक्रिया और उच्च न्यायालय द्वारा प्रोन्नत व्यक्तियों से अनुवीक्षण के बीच अन्तर है भले ही वह प्राधिकारियों के निवेदन पर हो जब तदर्थ आधार पर आकस्मिक कारणों से या काम चलाऊ आधार पर अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए उनके नामों पर विचार किया जाएगा।

27. इस प्रकार, दिल्ली न्यायिक सेवा के वे व्यक्ति जो तदर्थ आधार पर या आकस्मिक कारणों से या काम चलाऊ व्यवस्था के रूप में अपर जिला और सेशन न्यायाधीशों के अस्थायी पदों पर नियुक्त किए जाते हैं, वे एक वर्ग गठित करते हैं जोकि उन व्यक्तियों से पृथक और सुभिन्न है जो पूर्णतः भर्ती नियमों के अनुसार सेवा में पदों पर नियुक्त किए जाते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए प्रोन्नत व्यक्तियों के पूर्ववर्ती वर्ग को सेवा के अधिकारियों की ज्येष्ठता सूची में सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

28. किन्तु फिर भी यह समझना कठिन है कि ज्येष्ठता के विषय में सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों, जो नियम 5(2) के अनुसार उच्च न्यायालय की सिफारिश पर सेवा में अधिष्ठायी रिक्तियों पर नियुक्त किए जाते हैं और उन प्रोन्नत व्यक्तियों के बीच अन्तर कैसे किया जा सकता है जो नियम 16 और 17 के अनुसार सेवा में पदों पर उच्च न्यायालय के परामर्श से नियुक्त किए जाते हैं। नियम 16 में अस्थायी पदों पर प्रोन्नतों की नियुक्ति के लिए उपबंध करता है जबकि नियम 17 अस्थायी आधार पर सेवा में अधिष्ठायी रिक्तियों पर प्रोन्नत व्यक्तियों की नियुक्ति के लिए उपबंध करता है। जो

प्रोन्नत व्यक्ति इन दो नियमों में से किसी के भी अधीन नियुक्त किया जाए उसे उसी वर्ग का माना जाएगा, जिसके नियम 5(2) के अधीन सीधे भर्ती किए गए माने जाते हैं। वे वही कार्य करते हैं, वैसे ही कर्तव्यों का निर्वहन करते हैं और उन्हीं उत्तरदायित्वों का पालन करते हैं, जिनका सीधे भर्ती किए गए करते हैं। वे सेवा में पदों पर उसी रीति से नियमित आधार पर नियुक्त किए जाते हैं, जैसे सीधे भर्ती द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। केवल एक अन्तर होता है कि जबकि पश्चात्कथित उच्च न्यायालय की सिफारिश पर नियुक्त किए जाते हैं, प्रोन्नत व्यक्ति उच्च न्यायालय के परामर्श से नियुक्त किए जाते हैं। अतः एक ओर सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के बीच तथा दूसरी ओर सेवा में नियुक्त प्रोन्नत व्यक्तियों के बीच ज्येष्ठता-सूची में उनके स्थान के विषय में कोई अंतर नहीं किया जा सकता। ज्येष्ठता-सूची में से उन प्रोन्नत व्यक्तियों को निकालना जो सेवा में पदों पर नियुक्त किए जाएं, चाहे ऐसी नियुक्ति अस्थायी पद पर हो या अस्थायी हैसियत में अधिष्ठायी रिक्तियों पर हो, समता के सिद्धांत के उल्लंघन के समान होगा क्योंकि इससे उन व्यक्तियों के साथ, जो एकसी स्थिति में हैं, एक ऐसे विषय में जो उनके जीवन की प्रगति का एक महत्वपूर्ण पहलू है, असमान व्यवहार हो जाएगा।

29. नियम 16 के अधीन नियुक्ति का एक प्रतिनिधायी आदेश जो एक रिट पिटीशन में संलग्न है, यह दर्शाता है कि इस नियम के अधीन नियुक्त प्रोन्नत व्यक्तियों को और (ऐसे कारणों से नियम 17 के अधीन नियुक्त) सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के मुकाबले में ज्येष्ठता के विषय में विभेदपूर्ण व्यवहार का शिकार नहीं बनाए जा सकते। वह आदेश इस प्रकार है—

"दिल्ली प्रशासन, दिल्ली

अधिसूचना

तारीख, 22 मार्च, 1972

सं० एफ० 1(76)/70-न्या० (i)—दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा नियम 16 के उपनियम (2) के उपबंधों के अनुसरण में, दिल्ली के प्रशासक, उच्च न्यायालय के परामर्श से, दिल्ली न्यायिक सेवा के निम्नलिखित सदस्यों को दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में अस्थायी तौर पर उस तारीख से, जिस तारीख से वे अपना कार्यभार ग्रहण करें, आगे आदेश होने तक अपनी अधिसूचना सं० एफ० 1(13)/72 न्या० तारीख 13 मार्च, 1972 के द्वारा सृष्ट अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के चार पदों पर नियुक्त करते हैं।

1. श्री दलीप चन्द अग्रवाल
2. श्री बिशमा कुमार अग्निहोत्री
3. श्री साधु राम गोयल
4. श्री प्यारे लाल सिंगला

आदेश से ।
(देश दीपक)
सचिव (विधि और न्यायिक)
दिल्ली प्रशासन, दिल्ली ।"

30. इस आदेश से मालूम होता है कि पहले तो प्रशासक ने 13 मार्च, 1972 की अधिसूचना द्वारा नियम 16(1) के अधीन सेवा में अस्थायी पद सृष्ट किए; दूसरे दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में उन पदों पर चार प्रोन्नत किए गए व्यक्ति नियुक्त किए गए और तीसरे वे आगे आदेश होने तक नियुक्त किए गए । नियुक्तियां न तो तदर्थ आधार पर थीं, न आकस्मिक कारणों से और न ही काम-चलाऊ व्यवस्था के रूप में । वस्तुतः चार प्रोन्नत व्यक्तियों और वैसी ही स्थिति वाले अन्य व्यक्तियों को अधीनस्थ दिल्ली न्यायिक सेवा में उनके मूल पदों पर वापस बुलाने के लिए आगे कोई आदेश क्यों पारित नहीं किए गए । नियम 16 के अधीन नियुक्त किए गए प्रोन्नत व्यक्ति अनेक वर्षों से अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के पद पर अविच्छिन्न रूप से निरन्तर स्थानापन्न हैसियत में कार्य कर रहे हैं, उन्हें सेवा से बाहर का इसलिए मानना कि प्राधिकारी कुछ प्रोन्नतों द्वारा उन पदों पर 5 वर्ष से लेकर 12 वर्ष तक काम किऐ जाने के बाद अस्थायी पदों को स्थायी पदों में बदलना आवश्यक नहीं समझा, अयथार्थवादी और अन्यायसंगत दोनों है । "दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा के इतिहास पर विचार करने के बाद यह स्पष्ट है कि आगे आदेश होने तक" पद सेवा में अस्थायी पद उत्पन्न करने और उन्हें स्थायित्व प्रदान करने की एक जानी-पहचानी सरकारी युक्ति है, जबकि स्थायी पदों का सृजन नितान्त आवश्यक है । इस तथ्य से कि नियम 16(1) के अधीन सेवा में बनाए गए अस्थायी पद अनेक वर्षों तक चलते रहे, यह पता चलता है कि उन पदों के धारकों को सौंपा गया काम, कम से कम कुछ बाद के प्रक्रम पर, आगे अस्थायी प्रकृति का नहीं रहा, फिर भी अस्थायी पदों को स्थायी पदों में बदलने के बजाए प्राधिकारी मामले को टालते रहे और प्रोन्नत व्यक्तियों की युक्तियुक्त प्रत्याशाओं को अनजाने में संकटापन्न करते रहे । अनजाने रूप में इसलिए कि कोई भी ऐसा दिखाई नहीं पड़ता जो उन प्रोन्नत व्यक्तियों के योगदान के नगण्य समझने में हितबद्ध हो, जो सेवा में अस्थायी पदों पर थे या जानबूझकर उनकी प्रोन्नति में रोड़े अटकाना चाहते हों । दुख की बात यह है कि कोई भी किसी बात में कतई हितबद्ध नहीं था अथवा अन्यथा

नियमित अंतरालों पर समय-समय पर सीधे भर्ती क्यों की जाती ? यदि ऐसा कर दिया जाता तो आज जो हमारे सामने अवांछित स्थिति है, उससे आसानी से बचा जा सकता था। नियम 7 का परन्तुक कोटा और चक्रानुक्रम पद्धति विहित करता है। जब स्थायी पदों की स्पष्ट रूप में आवश्यकता थी, तो सेवा में अस्थायी पद सृष्ट करके उस नियम को निष्क्रिय क्यों रहने दिया गया। एक और दो के अनुपात में सीधे भर्ती वालों और प्रोन्नतों में स्थायी पद आवंटित किए जा सकते थे। इन परिस्थितियों में प्राधिकारियों के विलम्बकारी और अनभिज्ञतापूर्ण दृष्टिकोण से प्रोन्नत व्यक्तियों को तब दण्डित करना नितान्त अन्यायपूर्ण होगा। प्रोन्नत व्यक्तियों से यह कहना उचित नहीं होगा कि वे उन सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों से कनिष्ठ हैं जो उनसे सेवा में सृष्ट पदों पर स्थानापन्न हैसियत में निरन्तर 5 से 10 वर्ष कार्य करने के बाद नियुक्त किए गए हैं और वे उन पदों पर हैं, भले ही ऐसे पद अस्थायी हों, कम से कम इस न्यायालय को उन्हें असफल नहीं करना चाहिए।

31. इस निर्णय के पूर्ववर्ती भाग से यह दिखाई देगा कि यद्यपि नियम 7 का परन्तुक सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के लिए एक-तिहाई कोटा विहित करता है तथा उनके और उन प्रोन्नत व्यक्तियों के बीच जो सेवा में नियुक्त किए गए हैं, रिक्तियों के चक्रानुक्रम के लिए उपबंध करता है, फिर भी यह नियम उस समय अनिवार्यतः खण्डित कैसे हो जाए, जब सेवा में प्रोन्नत व्यक्तियों की नियुक्तियां नियम 16 और 17 के अधीन की जाएं। इन दो नियमों के अधीन नियुक्तियां केवल प्रोन्नत व्यक्तियों से ही करनी होंगी। जब कभी सेवा में नियुक्तियां इन नियमों में से किसी के अधीन की जाती हैं, तो न तो सीधे भर्ती गए किए व्यक्तियों के लिए आरक्षित कोटा लागू होता है और न ही उनके और प्रोन्नत व्यक्तियों के बीच रिक्तियों के चक्रानुक्रम का सिद्धांत लागू हो सकता है, तब प्रश्न यह है कि कोटा और चक्रानुक्रम के सिद्धांत को निलम्बित करने से उत्पन्न स्थिति में एक ओर सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों तथा दूसरी ओर, नियम 16 और 17 के अधीन नियुक्त किए गए प्रोन्नत व्यक्तियों के बीच ज्येष्ठता अवधारित करने के लिए कौन-सा सामयिक सिद्धांत होगा। ऐसा नियम खोजना कठिन है, जो सेवा के किसी भी सदस्य को किसी भी प्रकार की दिक्कत पैदा न करें। अतः जहां तक संभव हो, इस पद्धति में जो एक से अधिक स्रोतों से सेवा में भर्ती के लिए उपबंध करती है, अन्तर्निहित असमताओं और विषमताओं को अधिकाधिक कम करने का प्रयास करना होगा। ऐसा करते समय एक निदेशक सिद्धांत यह ध्यान में रहना चाहिए कि

वर्गीकरण समता के अधिकार पर एक मुलम्मा है। यह उन व्यक्तियों में, जो समान व्यवहार के लिए हकदार हैं, समता लाने की प्रक्रिया में केवल एक कदम है। अत यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि वर्गीकरण एक व्यापक और तार्किक आधार पर किया जाए जिससे कि उन लोगों को समता से वंचित न होना पड़े, जो सारतः, एक-सी स्थिति में हैं।

32. इस प्रकार, यह नियम 16 के अधीन नियुक्त प्रोन्नत व्यक्ति और नियम 17 के अधीन नियुक्त व्यक्तियों के बीच उप-वर्गीकरण करना अति तकनीकी हो जाएगा, जिसका उद्देश्य प्रोन्नत व्यक्तियों और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के साथ प्रास्थिति और अवसर की समता से पश्चात्कथित को वंचित करना होगा। यह सही है कि नियम 16 के अधीन प्रोन्नत व्यक्ति सेवा में अस्थायी पदों पर नियुक्त किए जाते हैं जबकि नियम 17 के अधीन वे सेवा में अधिष्ठायी रिक्तियों पर अस्थायी हैसियत में नियुक्त किए जाते हैं। किन्तु इस प्रकार के सेवा जंजाल से यह वास्तविक प्रश्न दृष्टि से ओझल हो जाएगा कि क्या विभिन्न नियमों के अधीन नियुक्त व्यक्ति, आवश्यक रूप से, भिन्न-भिन्न वर्गों के होते हैं और उनसे एक-ऐसे कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों वाले पदों पर असमान लेबल लगाने की जानी-पहचानी युक्ति का बजट संबंधी समीचीनता से वशीभूत होकर कृत्रिम सहारा लेकर असमताएं पैदा हो जाती हैं। उन पदों के लिए नियुक्ति से पहले एक समान परीक्षाएं ली जाती हैं। यह भी हो सकता है कि परामर्श की प्रक्रिया में उच्च न्यायालय नियम 17 के अधीन प्रस्थापित की गई नियुक्तियों की अपेक्षा नियम 16 के अधीन प्रस्थापित नियुक्तियों के बारे में अधिक सतर्कता बरते। किन्तु यह तथ्य कि उच्च न्यायालय अपनी मर्जी से विभिन्न नियमों के अधीन की गई नियुक्तियों के विषय में कोई विशेष दृष्टिकोण अपनाना चाहता है, इस सिद्धांत को न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता कि विभिन्न नियमों के अधीन नियुक्त किए गए व्यक्ति अवश्मेव भिन्न-भिन्न वर्गों के होते हैं। दोनों नियमों के अधीन नियुक्ति के लिए समान रूप से यह अपेक्षा है कि वे उच्च न्यायालय के परामर्श से की गई हो। अतः उच्च न्यायालय से यह प्रत्याशा की जाती है कि वह एक ही मापदण्ड अपनाए और एक ही दृष्टिकोण अपनाए, चाहे नियुक्तियां नियम 16 के अधीन की जानी हों या नियम 17 के अधीन। नियम 16 या नियम 17 के अधीन नियुक्त किए जाने वाले प्रोन्नत व्यक्तियों का उप वर्गीकरण करने के प्रयास से एक भिन्नता आ जाएगी, जहां कोई अन्तर विद्यमान नहीं है। वर्गीकरण का उद्देश्य ऐसी स्थितियों का उपचार ढूंढ़ना है न कि उन्हें उत्पन्न करना या अपनाए रखना।

33. इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उच्चतर न्यायिक सेवा में नियम 16 और 17 के अधीन नियुक्त प्रोन्नत व्यक्ति सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के साथ-साथ तभी ज्येष्ठता सूची में आ सकते हैं, जब वे इन नियमों द्वारा यथापेक्षित उच्च न्यायालय के परामर्श से नियुक्त किए जाएं और जब वे नियम 7(क) में अधिकथित यह अपेक्षा पूरी करते हों कि उन्होंने दिल्ली न्यायिक सेवा में कम से कम 10 वर्ष की सेवा पूरी कर ली है।

34. हमारे समक्ष जो स्थिति है, उसका सर्वोत्तम समाधान वह नियम लागू करके निकाला जा सकता है जो **एस० बी० पटवर्धन** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[1] वाले मामले में अपनाया गया था। उस मामले में इस न्यायालय ने यह मत अपनाया था कि इन सब बातों के समान होते हुए निरन्तर आकस्मिक रिक्ति पर स्थानापन्न रूप से कार्य करने से उन रिक्तियों के बीच जो विभिन्न स्रोतों से नियुक्त किए जाए, ज्येष्ठता नियत करने के लिए सम्यक् मान्यता मिलनी चाहिए, जब तक वे एक ही काडर के हैं, एक-से कार्य करते हैं और एक-से उत्तरदायित्वों का निर्वहन करते हैं। जब नियुक्तियां नियम 16 और 17 के अधीन की जाती हैं तो कोटा और चक्रानुक्रम का सिद्धांत लागू नहीं रहता इसलिए इन नियमों के अधीन सीधे भर्ती वालों की और प्रोन्नतों की ज्येष्ठता उन तारीखों के अनुसार अवधारित की जानी चाहिए, जिनको सीधे भर्ती किए गए व्यक्ति अपने-अपने पदों पर नियुक्त किए गए थे और वे तारीखें जिनसे प्रोन्नत सृष्ट अस्थायी पदों पर या उन अधिष्ठायी रिक्तियों पर, जिनपर वे अस्थायी हैसियत में नियुक्त किए गए थे, निरन्तर स्थानापन्न रूप में काम कर रहे हैं।

35. हमारा ध्यान अनेक विनिश्चयों की ओर आकर्षित किया गया किन्तु उनमें से अधिकांश अपने तथ्यों पर आधारित थे। उदाहरण के लिए, प्रोन्नतों ने **बालेश्वर दास** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[2] वाले मामले के विनिश्चय का प्रबल अवलम्ब लिया। उस मामले में काडर के स्थाई और अस्थाई दोनों पदों पर भर्ती के लिए एक ही नियम था। इसके अतिरिक्त, ज्येष्ठता नियत करने के लिए रिक्तियों का कोई चक्रानुक्रम विहित नहीं किया गया था इसलिए हमारे समक्ष जो स्थिति है, वह उस मामले में उत्पन्न नहीं हुई थी किन्तु फिर भी उस मामले में न्या० कृष्ण अय्यर ने जो मत व्यक्त किया था

---

1 [1978] 3 उम० नि० प० 609=[1977] 3 एस० सी० आर० 775.

2 [1981] 3 उम० नि० प० 493=[1981] 1 एस० सी० आर० 449.

वह वर्तमान प्रयोजन के लिए असंगत नहीं है। विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया था—

"हमें इस बात पर जोर देना है कि सरकारी सेवकों के कैरियर में अस्थायी और स्थायी पदों का बड़ा महत्त्व होता है, इसलिए बहुत समय तक किसी पद को अस्थायी रखना और वर्षानुवर्ष कई वर्षों तक उसका नवीकरण करते जाना तथा इस आधार पर मूल पदधारी को उसके दावे से वंचित रखना कि पद अस्थायी है, हमें उपयुक्त नहीं लगता और हमें ऐसा लगता है कि ऐसा करना मनमानापन है, खासतौर से तब जब कि अस्थायी और स्थायी रूप से नियुक्त किए गए व्यक्तियों को कार्य की दृष्टि से अलग-अलग कर दिया गया हो। यदि सामान्य अनुक्रम में कोई पद वस्तुतः अस्थायी है और नियुक्त व्यक्ति यह जानता है कि उसकी पदावधि जब तक के लिए वह पद है उससे अधिक अवधि तक नहीं बढ़ाई जा सकती तो उसे कोई अधिकार न देने का तात्पर्य यह नहीं होगा कि उसके साथ अन्याय या मनमाना व्यवहार किया गया है। यदि पद किन्हीं विभागीय या ऐसे ही समान प्रयोजनों के लिए अस्थायी घोषित किया गया है किन्तु इसकी जानकारी सरकार और नियुक्त व्यक्ति दोनों को है कि अस्थायी पद वस्तुतः लम्बी अवधि तक चलने वाला है वहां ऐसी स्थिति नहीं होती। अस्थायी रूप से नियुक्त व्यक्ति के दावे को पद के लिए प्रयुक्त शब्दावली के आधार पर नामंजूर कर देना अनुचित है। हम इस बात को भी स्पष्टतः जोर देकर प्रकट कर देना चाहते हैं कि वह सिद्धान्त जिसे इस न्यायालय के निर्णयों द्वारा स्वीकृति मिल चुकी है यह है कि ज्येष्ठता के समस्त प्रयोजनों के लिए व्यावहारिक रूप से किसी पद पर की गई तदर्थ नियुक्ति वैसी ही है मानो वह नियमित आधार पर की गई नियुक्ति हो। कुछ सीमाओं के भीतर रहते हुए सरकार को इस बात की अनुज्ञा दी जा सकती है कि यदि उसके समक्ष ज्येष्ठता का दावा किया जाता है तो वह तदर्थ सेवा की उपेक्षा कर सकती है और केवल नियमित सेवा को ही हिसाब में ले सकती है परन्तु तब जब कि उस सम्बन्ध में नियम स्पष्ट और वर्गीकृत किए गए हों और उनमें किसी भी तरह की संदिग्धता या क्रूरतापूर्ण मनमानापन न हो जिससे कि वर्षों तक की गई सेवा नजरअंदाज कर दिया जाए या जब कि दोनों तरह के पदों पर की गई सेवा में कृत्य और गुणागुण के आधार पर पर्याप्त अन्तर न हो, जब कि सेवा की शर्तों को विनियमित करने वाले नियम सरकार की कार्यपालक या उसकी विधायी शक्तियां अनुच्छेद 309 के परन्तुक के अधीन है। तथापि इन

नियमों को अनुच्छेद 14 और 16 की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए युक्तियुक्त और निष्पक्ष होना चाहिए तथा इनमें घोर अन्याय नहीं होना चाहिए।"

36. **ए० जनार्दन बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में न्यायालय ने ज्येष्ठता के नियमों की विधिमान्यता पर विचार किया था। ये नियम सैनिक इंजीनियरी सेवा को लागू होते थे। सेवा में भर्ती दो स्रोतों से, सीधे और प्रोन्नति द्वारा की गई थी। अपीलार्थी 1962 का प्रोन्नत था, और उस मामले में यह तर्क दिया गया था कि उसे 1989 में ज्येष्ठता का स्थान मिलेगा जब वह सेवानिवृत्त होने वाला होगा। उस मामले में न्या० डी० ए० देसाई ने यह मत व्यक्त किया था—

> "....दूसरे शब्दों में, सेवा में सम्मिलित पद सेवा करने के पश्चात् भी वह सेवा में कोई स्थान पाए बिना सेवा से बाहर लटका हुआ है, जबकि सन् 1976 की सीधी भर्ती वाले व्यक्तियों को स्थान प्राप्त हो चुका है। यह स्थिति ऐसी है कि जिसका कोटा चक्रानुक्रम नियम और किसी व्यक्ति की सेवा पर उसके प्रभाव का निर्वचन करते समय सामना करना पड़ेगा। किन्तु इस समस्या के प्रति किसी भी मानवीय निष्कर्ष को टालते हुए हम सुसंगत नियमों और पूर्वोदाहरणों तथा सेवा के सदस्यों पर नियमों के प्रभाव के आधार पर ही यथावत विचार करेंगे और इस बात का अवधारण करेंगे कि क्या आक्षेपित ज्येष्ठता सूची विधिमान्य है अथवा नहीं। किन्तु यह करने के बाद हम इस पूर्वोदाहरण से सेवा विधि-शास्त्र में उद्भूत होने वाली बहुत ही अवांछनीय, अन्यायोचित और असाम्य स्थिति का विवेचन करने का प्रस्ताव करते हैं कि प्रोन्नत व्यक्ति के रूप में पहले से ही सेवा करने वाले व्यक्ति को ऐसे व्यक्ति से नीचे होना होगा जो प्रोन्नत व्यक्ति के सेवा में प्रवेश करने के कई दशाब्दी पश्चात् सेवा में प्रवेश करता है और अपरिपक्व नहीं नौसिखिया हो सकता है जबकि प्रोन्नत व्यक्ति सरकार की अपेक्षानुसार सेवा की आवश्यकता के कारण प्रोन्नत किए जाने पर सेवा करना प्रारम्भ करता है। अब समय आ गया है जबकि हमें इस स्थिति को सुधारने के लिए विषय से सम्बन्धित सब पूर्वोदाहरण की जांच पड़ताल करके बहुत ही निष्पक्ष और न्यायोचित आधार पर सेवा विधि-शास्त्र की पुनः रचना करनी है।"

---

[1] [1983] 3 उम० नि० प० 705=(1983) 3 एस० सी० सी० 601.

37. कोई भी दो मामले एक से नहीं होते। अतः इस निर्णय में उन नियमों की भाषा और तात्पर्य पर विचार करने का प्रयास किया गया है जो दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में नियुक्तियों के सम्बन्ध में लागू होते हैं। किन्तु हमने ऊपर जो मत व्यक्त किया है, वह भी हमारे समक्ष वाले मामले के विनिश्चय के लिए सुसंगत है। हमने इस निर्णय में जो निष्कर्ष निकाला है, उसे भी इसका काफी समर्थन मिला है।

38. **जोगिन्दर नाथ** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा किए गए विनिश्चय से इस प्रश्न के सम्बन्ध में कोई सहायता नहीं मिलती, जो हमारे समक्ष है। वह मामला प्रोन्नत व्यक्तियों में आपस में विवाद से उत्पन्न हुआ था न कि प्रोन्नत व्यक्तियों और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के बीच।

39. इस मामले में आक्षेपित ज्येष्ठता सूची इस आधार पर तैयार की गई है कि कोटा और चक्रानुक्रम का सिद्धान्त इस तथ्य के बावजूद लागू रहेगा कि सेवा में नियुक्तियां नियम 16 और 17 के अनुसार की जाती हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कोटा और चक्रानुक्रम का सिद्धान्त जो नियम 7 के परन्तुक द्वारा विहित किया गया है, उस समय लागू नहीं रहेगा जब सेवा में नियुक्तियां नियम 16 और 17 के अधीन की जाएं। अतः ज्येष्ठता सूची को अभिखण्डित करना होगा।

40. प्राधिकारियों को इस निर्णय में अपनाए गए मत के आधार पर एक नई ज्येष्ठता सूची तैयार करनी होगी। नई ज्येष्ठता सूची में नियम 16 और 16 के अनुसार नियुक्त (i) सीधे भर्ती वाले और (ii) प्रोन्नत शामिल होंगे। उनकी ज्येष्ठता ऊपर वताए गए क्रम में होगी।

41. प्रत्यर्थी 4, श्री जी॰ एस॰ डाखा की ज्येष्ठता का प्रश्न भिन्न आधार पर हल करना होगा। अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के पद पर उनकी नियुक्ति अनुसूचित जाति के सदस्यों के लिए आरक्षित रिक्ति पर की गई है। ज्येष्ठता सूची में जो उनका स्थान है, वही रहेगा क्योंकि यह स्थान उन्हें अनुसूचित जाति का सदस्य होने के नाते प्राप्त है।

42. कुमारी ऊषा मेहरा के मामले में कुछ व्याकुलता पैदा हुई है। वह सीधे भर्ती द्वारा 22 अप्रैल, 1980 को नियुक्त की गई थीं। दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा शुरु होने के समय से कोटा और चक्रानुक्रम का सिद्धांत प्रवर्तित

---

[1] [1975] 1 उम॰ नि॰ प॰ 1428=[1975] 2 एस॰ सी॰ आर॰ 553.

था और निश्चय ही उन्होंने ज्येष्ठ स्थिति से उद्भूत कुछ युक्तियुक्त प्रत्याशाओं के आधार पर ही सेवा में कार्यभार संभाला होगा। हालांकि वह अपेक्षाकृत कम आयु की हैं, फिर भी अधिवक्ता के रूप में उनकी वकालत काफी लम्बी थी, जब वह अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के रूप में नियुक्त की गई थीं। उनकी ओर से यह जोरदार अपील की गई थी कि ज्येष्ठता सूची में उनका स्थान न छेड़ा जाए। काश ऐसा सम्भव होता। ऐसा करना अन्यायपूर्ण होगा, क्योंकि जब नियम 16 और 17 के अनुसार सेवा में नियुक्तियां की गई थीं तो कोटा और चक्रानुक्रम का सिद्धांत लागू नहीं रहा था इसलिए ज्येष्ठता सूची में उनका वर्तमान स्थान कायम नहीं रखा जा सकता, जो उसे उस सिद्धांत के आधार पर दिया गया था। इस परिणाम के लिए प्रोन्नत व्यक्ति दोषी नहीं हैं और निश्चय ही कोई सीधे भर्ती किया गया व्यक्ति भी नहीं। प्रोन्नत व्यक्तियों ने बहुत पहले सन् 1977 में उच्च न्यायालय में अभ्यावेदन किया था किन्तु पता नहीं किस कारण से उच्च न्यायालय ने तीन वर्ष से भी अधिक समय से उस अभ्यावेदन का निपटारा नहीं किया। वस्तुतः हमारे समक्ष उच्च न्यायालय की दलीलों में से एक दलील यह है कि यह रिट पिटीशन समय-पूर्व है क्योंकि प्रोन्नतों के अभ्यावेदन उसके समक्ष अभी तक लम्बित हैं। कुमारी मेहरा की नियुक्ति प्रोन्नत व्यक्तियों द्वारा उच्च न्यायालय में अभ्यावेदन किए जाने के तीन वर्ष बाद की गई थी। प्रोन्नतों के लिए उच्च न्यायालय ही सर्वाधिक उचित प्राधिकारी था। उच्च न्यायालय द्वारा अभ्यावेदन का समय से निपटारा करने से वह दुखद स्थिति न आती, जिसमें कुमारी मेहरा जैसे कुछ सीधे भर्ती किए गए लोग अब अपने आपको पाएंगे। इस बात पर जोर दिया गया कि प्रोन्नत व्यक्तियों को कुमारी मेहरा के पक्ष में किन्चित भी अपवाद की शिकायत नहीं होनी चाहिए क्योंकि उन्होंने नियम 16 और 17 के प्रवर्तन से बहुत कुछ फायदा उठाया है। यह सच है कि प्रोन्नत व्यक्तियों ने नियम 16 और 17 के प्रवर्तन से सारवान फायदा उठाया है। अस्थायी पदों की सभी नियुक्तियों पर एवं सेवा में अधिष्ठायी रिक्तियों पर अस्थायी नियुक्तियों पर उनका ही प्रभुत्व रहा है। साथ ही उन्होंने कोटा और चक्रानुक्रम के सिद्धांत का भी फायदा उठाया है। उदाहरण के लिए श्री एन० एल० कक्कड़ और श्री आर० के० सिन्हा सन् 1972 में सेवा में प्रोन्नत किए गए थे, फिर भी वे ज्येष्ठता सूची में श्री एन० सी० कोचर से ऊपर रखे गए थे, जो 1971 में सीधे भर्ती किया गया था। ऐसा 1:2 के कोटा और चक्रानुक्रम के सिद्धान्त के अनुरूप किया गया था। यदि कम से कम कुछ अस्थायी पद स्थायी पदों में परिवर्तित कर दिए जाते, जैसे कि किए जाने चाहिए थे, तो प्रत्येक तीन में से एक पद सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों को जाता किन्तु जैसा कि हम उल्लेख

कर चुके हैं, ज्येष्ठता सूची में कुमारी मेहरा का वर्तमान स्थान बनाए रखने में एक कठिनाई है कि ऐसा करना उस मत के अनुरूप नहीं होगा, जो हमने इस निर्णय में अपनाया है। अतः हम सीधे भर्ती किए गए किसी व्यक्ति विशेष के मामले में अपवाद नहीं कर सकते।

43. यह प्रकट है कि इस निर्णय से दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों और प्रोन्नत व्यक्तियो में संतुलन बिगड़ जाएगा। यदि प्राधिकारीगण उस संतुलन को कायम रखना चाहते हैं तो भविष्य में लागू करने के लिए समुचित नियम बनाने होंगे। किन्तु नियम बनाने मात्र से भी अधिक नियमों को शब्दशः और सारतः लागू करने का ध्यान रखना होगा। फलस्वरूप ऐसी प्रणाली के भविष्य के लिए, जिसके बारे में विश्वास किया जाता है कि लोगों की उसमें श्रद्धा है, प्राधिकारियों को अधिक चिन्ता और समझदारी से काम लेना होगा।

44. परिणामस्वरूप, नियम 7 के परन्तुक और नियम 8(2) का वही अर्थ और निर्वचन है, जो निर्णय में किया गया है। इन उपबन्धों में किसी भी प्रकार की सांविधानिक आवश्यकता नहीं है। किन्तु वह ज्येष्ठता सूची जिसे प्रोन्नतों ने इन रिट पिटीशनों में चुनौती दी है, संविधान के अनुच्छेद 14 और 16 के उपबन्धों का उल्लंघन करती है। वह सूची अभिखण्डित की जाती है और रिट पिटीशन ऊपर इंगित सीमा तक मंजूर किए जाते हैं खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं होगा।

न्या० सब्यसाची मुखर्जी (अल्पमत निर्णय)—

45. इस मामले में सुसंगत नियमों के कतिपय पहलुओं पर मैं विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति से पूर्ण सम्मान के साथ असहमत हूं। इसलिए, ऐसे सुसंगत नियमों के साथ अपने कारणों का मैं उल्लेख करना चाहूंगा जो आवश्यक हैं।

46. संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल किए गए इन दोनों रिट पिटीशनों में दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा नियम, 1970 जिसे इसमें इसके आगे 'उक्त नियम' कहा गया है, के नियम 8 (2) तथा दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में प्रोन्नत किए गए और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों की नियत की गयी परस्पर ज्येष्ठता को प्रश्नगत किया गया है।

47. प्रथम पिटीशन अर्थात् 1980 के रिट पिटीशन सं० 5669 में एक पिटीशनर श्री ओ० पी० सिंगला, जो सुसंगत समय पर अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के पद पर कार्य कर रहे थे तथा पिटीशन संस्थित करने के समय

पीठासीन अधिकारी औद्योगिक अधिकरण, तीस हजारी, दिल्ली के रूप में कार्य कर रहे थे जिनके साथ दूसरे पिटीशनर श्री डी० सी० अग्रवाल, अपर जिला और सेशन न्यायाधीश, दिल्ली भी थे। इस आवेदन के प्रत्यर्थियों में भारत संघ, दिल्ली प्रशासन, दिल्ली उच्च न्यायालय, प्रत्यर्थी सं० 4 श्री जी ० एस० डाखा, अपर जिला और सेशन न्यायाधीश तीस हजारी, दिल्ली और प्रत्यर्थी सं० 5 कुमारी ऊषा मेहरा अपर जिला और सेशन न्यायाधीश तीस हजारी, दिल्ली सम्मिलित हैं।

48. दूसरे पिटीशनर में 32 पिटीशनर हैं जो दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में अपर जिला और सेशन न्यायाधीश हैं और उनके साथ दिल्ली न्यायिक सेवा संघ भी है। उक्त पिटीशन के प्रत्यर्थियों में भारत संघ, दिल्ली प्रशासन, दिल्ली उच्च न्यायालय, श्री जी० एस० डाखा के अतिरिक्त जो दूसरे पिटीशन में भी प्रत्यर्थी हैं ऊषा मेहरा (जो अन्य पिटीशन में भी प्रत्यर्थी हैं) के अतिरिक्त अन्य दो प्रत्यर्थी अर्थात् सी० डी० वशिष्ट, अपर जिला और सेशन न्यायाधीश तीस हजारी, दिल्ली और श्री एस० पी० सिंह चौधरी अपर जिला और सेशन न्यायाधीश तीस हजारी, दिल्ली भी हैं।

49. पिटीशनरों के अनुसार वह अनिवार्य कारण जिसके परिणामस्वरूप द्वितीय पिटीशन फाइल करना पड़ा 'इंडियन एक्सप्रेस' में तारीख 30 जनवरी, 1981 को प्रकाशित किया गया एक विज्ञापन था जिसमें दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा संवर्ग में 3 स्थायी पद भरने के लिए आवेदन मांगे गए थे। पिटीशनरों का पक्षकथन है कि इस दोनों पिटीशनों के पिटीशनर दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में प्रोन्नति प्राप्त अपर जिला और सेशन न्यायाधीश हैं और वे सेवा में बहुत पहले सम्मिलित हुए थे। प्रथम पिटीशन अर्थात् 1980 के रिट पिटीशन सं० 5669 वाले पिटीशनर दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में 1972 के आरम्भ में सम्मिलित हुए और उसी समय से योग्यतापूर्वक सेवारत हैं।

50. अन्य सुसंगत तथ्यों का विवरण मेरे विद्वान् बन्धु मुख्य न्यायाधिपति द्वारा अपने निर्णय में दिया गया है। इसलिए मेरे लिए आवश्यक नहीं है कि उनका दुबारा उल्लेख करूं।

51. इन दोनों पिटीशनों में संविवाद प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों की परस्पर ज्येष्ठता को लेकर है और इसके लिए यह आवश्यक है कि उक्त नियमों के कुछ अन्य सुसंगत उपबन्धों के प्रति निर्देश किया जाए और मुख्य रूप से उक्त नियमों के नियम 16 और 17 के साथ नियम 7 और 8 के प्रति निर्देश किया जाए। नियम इस प्रकार हैं—

*"नियम 7. नियमित भर्ती—

प्रारम्भिक भर्ती के पश्चात् निम्नलिखित रूप में भर्ती की जाएगी—

(क) दिल्ली न्यायिक सेवा के उन सदस्यों में से चयन के आधार पर प्रोन्नति द्वारा, जिन्होंने दिल्ली न्यायिक सेवा में 10 वर्ष से अन्यून सेवा पूरी कर ली हो,

(ख) अधिवक्ताओं में से सीधी भर्ती द्वारा,

परन्तु सेवा में अधिष्ठायी पदों में से 1/3 से अनधिक पद ही सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों द्वारा धारित किए जाएंगे।"

52. इसके आगे एक परन्तुक और है जो वस्तुतः वर्तमान संविवाद से सुसंगत नहीं है और जिसमें यह उपबन्ध किया गया है कि जहां दिल्ली न्यायिक सेवा के किसी सदस्य की खण्ड(क) के अधीन नियुक्ति की बावत विचार किया जाता है वहां इस तथ्य पर ध्यान दिए बिना उस व्यक्ति से सेवा में ज्येष्ठ सभी व्यक्तियों पर भी विचार किया जाएगा कि वे न्यूनतम 10 वर्ष की सेवा की अपेक्षा को पूरा करते हैं या नहीं। 20 वर्ष की अवधि की संगणना करने की बावत भी एक स्पष्टीकरण दिया गया है जो वर्तमान प्रयोजन से सुसंगत नहीं है।

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

***"Rule 7. REGULAR RECRUITMENT—**

Recruitment after the initial recruitment shall be made—

(a) by promotion on the basis of selection from members of Delhi Judicial Service, who have completed not less than 10 years of service in the Delhi Judicial Service,

(b) by direct recruitment from the Bar,

provided that not more than 1/3rd of the substantive posts in the service shall be held by direct recruits."

नियम 8 इस प्रकार है :—

*"8 (1) सेवा में प्रोन्नत किए गए दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्यों की परस्पर ज्येष्ठता वही होगी जो दिल्ली न्यायिक सेवा में है।

(2) प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के मुकाबले सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों की ज्येष्ठता नियम 7 द्वारा दोनों प्रवर्गों के लिए आरक्षित रिक्तियों के कोटे के आधार पर भर्ती किए गए और प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के बीच रिक्तियों के चक्रानुक्रम रीति में अवधारित की जाएगी। परन्तु यह कि प्रथम उपलब्ध रिक्ति सीधी भर्ती द्वारा भरी जाएगी और अगली दो रिक्तियां प्रोन्नति द्वारा भरी जाएंगी और इसी क्रम में आगे भरी जाएंगी।"

53. नियम 9 सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों की अर्हताओं की बाबत है और उसमें यह उपबन्ध किया गया है कि वह (1) भारत का नागरिक हो, (2) अधिवक्ता के रूप में 7 वर्ष से अन्यून व्यावसायिक कार्य किया हो, (3) नियुक्त किए जाने वाले वर्ष की पहली जनवरी को 35 वर्ष की आयु पूरी कर ली हो और 45 वर्ष की आयु पूरी न की हो।

54. पिटीशनरों की ओर से निवेदन किया गया कि जिला न्यायाधीश के पद धारण करने के प्रत्याशी अधिकारियों को कृत्रिम ढंग से ऐसे पदों को अधिष्ठायी रूप से धारण करने से प्रवारित नहीं किया जा सकता। अर्थात् पदों को स्थायी बनाने में विलम्ब करके या सेवा में सीधे भर्ती किए गए ऐसे व्यक्तियों के मुकाबले उनके संवर्ग में ज्येष्ठता नियत करने में भेदभाव करके, जिन्होंने

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"8. (1) The inter-se seniority of members of the Delhi Judicial Service promoted to the service shall be the same as in the Delhi Judicial Service.

(2) The seniority of direct recruits vis-a-vis promotees shall be determined in the order of rotation of vacancies between the direct recruits and promotees based on the quotas of vacancies reserved for both categories by rule 7—provided that the first available vacancy will be filled by a direct recruitment and the next two vacancies by promotees and so on."

प्रोन्नत किए गए अधिकारियों की न्यायिक सेवा की अवधि और अधिवक्ता के रूप में उनके द्वारा किए गए व्यवसाय, यदि कोई है, दोनों को जोड़ने पर उनके मुकाबले अधिवक्ता के रूप में कम अवधि तक व्यवसाय किया है। पिटीशनरों ने असंगतियों के उदाहरण दिए हैं। उनके अनुसार यदि वर्तमान पद्धति को जारी रखा गया तो असंगतियां होंगी। पिटीशनरों ने अपने आप और अपनी एसोसिएशन के माध्यम से कतिपय अभ्यावेदन जनवरी, 1978, जुलाई, 1978 और दिसम्बर, 1978 में किए और उन्होंने कथित अन्याय के प्रति उपचार की मांग की और यह भी निवेदन किया कि जब तक इस प्रश्न का समाधान न हो जाय उच्च न्यायालय द्वारा दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में अधिवक्ताओं में से सीधे भर्ती न की जाए। पिटीशनरों ने दलील दी कि वर्तमान अर्थान्वयन से और वर्तमान ज्येष्ठता सूची से विसंगत स्थितियां पैदा हो गई हैं।

55. पिटीशन फाइल किए जाने के पश्चात् प्रारम्भिक आदेश जारी किए गए और कतिपय अंतरिम आदेश पारित किए गए। इस न्यायालय द्वारा समय-समय पर किए गए उक्त आदेशों का विवरण देने की आवश्यकता नहीं है।

56. तथापि, यह उल्लेख किया जा सकता है कि इस न्यायालय ने 29 सितम्बर, 1981 को इन दोनों मामलों में प्रारम्भिक आदेश जारी किया और आगे यह आदेश किया कि अब आगे न तो प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के प्रवर्ग से जो जिला और सेशन न्यायाधीश के रूप में कार्य कर रहे हैं और न ही सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के प्रवर्ग में से जो उसी हैसियत में कार्य कर रहे हैं कोई प्रतिवर्तन नहीं किया जाएगा। कतिपय मध्यक्षेपी आवेदन मंजूर किए गए। 27 अप्रैल, 1982 को इस न्यायालय ने आगे निदेश किया कि यदि कोई अधिकारी जो उस समय प्रतिनियुक्ति पर कार्य कर रहा था, अपने पैतृक संवर्ग में वापस आ जाता है तो कनिष्ठतम अधिकारी को, जो वर्तमान में जिला और सेशन न्यायाधीश का पद धारण कर रहा है प्रत्यावर्तित करना आवश्यक हो सकता है किन्तु इस न्यायालय ने कहा कि यथासम्भव ऐसे प्रत्यावर्तन से भी बचना चाहिए।

57. इन पिटीशनों के साथ पद क्रम सूची का चार्ट उपाबद्ध किया गया है। सूची के अनुसार श्री डाखा प्रत्यर्थी सं० 4 को छठे स्थान पर और कुमारी ऊषा मेहरा प्रत्यर्थी सं० 5 को नवें स्थान पर दर्शित किया गया है। पिटीशनरों के अनुसार ऐसा इसलिए किया गया है क्योंकि उक्त नियमों के नियम 7 और 8 को बनावटी रूप से पढ़ा गया है। यह उपदर्शित किया गया है कि उसी प्रक्रिया

द्वारा कुमारी ऊषा मेहरा जिन्होंने अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के रूप में 24 अप्रैल, 1980 को परिवीक्षा पर कार्यभार ग्रहण किया था के मामले में नियम 7 और नियम 8 को अवैध रूप से लागू करते हुए 22 अधिकारियों को अतिष्ठित कर दिया जिनके अन्तर्गत श्री महेश चन्द्र भी हैं जिनकी जन्मतिथि 12 अक्तूबर, 1928 है और जिनकी अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति की तारीख कुमारी मेहरा से 8 वर्ष पूर्व थी। उसने श्री एस० पी० गोयल को भी अतिष्ठित किया जिनका जन्म 12 अक्तूबर, 1929 को हुआ था और जिन्होंने 24 मार्च, 1972 को अर्थात् कुमारी मेहरा द्वारा अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के रूप में नियुक्त होने से 8 वर्ष पूर्व कार्य भार ग्रहण किया था। कुल मिलाकर यही स्थिति वाई० बी० गुप्ता, श्री पी० के० बाहरी, श्री एच० पी० बागची और श्रीमती सन्तोष दुग्गल जिनका जन्म 21 मार्च, 1931 को हुआ था और अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के रूप में 29 सितम्बर, 1975 को सेवा में कार्यभार ग्रहण किया और अन्य अनेक अधिकारियों की भी है जिनमें से सबसे अन्तिम अधिकारी 23 अगस्त, 1979 को कार्य भार सम्भाला था और जिनमें से अधिकांशतः प्रत्यर्थी सं० 5 कुमारी मेहरा से कम से कम आयु में 10 वर्ष बड़े हैं। इसी प्रकार श्री डाखा ने जो 1978 में अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के रूप में सेवा में सम्मिलित हुए 16 अधिकारियों को अतिष्ठित किया और अतिष्ठित होने वाले अधिकारी सेवा में 1972, 1973, 1974 और 1975 में सम्मिलित हुए और उनमें से अधिकांश आयु में भी उनसे बहुत बड़े हैं। श्री जे० बी० गोयल कुछ अधिकारियों को भी जिनका नाम चार्ट में उपदर्शित किया गया है अतिष्ठित करेंगे।

58. यह विसंगति उक्त नियमों के नियम 8 के उप-नियम (2) के साथ पठित नियम 7 (ख) को लागू करने से उत्पन्न हुई है। नियम 7 में, जो नियमित नियुक्ति के बारे में है, उसी भर्ती की दो पद्धतियां उपबन्धित की गयी हैं अर्थात् (1) चयन के आधार पर प्रोन्नति द्वारा और (2) अधिवक्ताओं में से सीधे भर्ती द्वारा। जहां तक अधिवक्ताओं में से सीधी भर्ती का सम्बन्ध है इसमें यह स्पष्ट कहा गया है कि "सेवा में अधिष्ठायी पदों के 1/3 से अनधिक पद सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों द्वारा धारित किए जाएंगे।" इसे बिना किसी और बात के मिलाए हुए और सहायता लिए हुए या सेवा सम्बन्धी शब्दावली से बिना प्रभावित हुए और किन्हीं अन्य नियमों के सन्दर्भ में अन्य उपविधियों के अर्थान्वयन से प्रभावित हुए बिना साधारण रूप से पढ़ने पर यह प्रतीत होता है कि इसमें मात्र यह उपबन्धित किया गया है कि ऐसी दशा में जब किसी एक ही वर्ष में अधिवक्ताओं में से सीधी भर्ती द्वारा तथा प्रोन्नति द्वारा भर्ती के लिए

रिक्तियां हों तो अधिष्ठायी पदों के 1/3 से अधिक रिक्तियां सीधी भर्ती द्वारा नहीं भरी जानी चाहिएं। इसमें यही कहा गया है, इससे अधिक नहीं। यह दलील देना कठिन है कि अधिवक्ताओं की भर्ती का 1/3 कोटा है। नियम में यह नहीं कहा गया है कि प्रत्येक वर्ष सीधे भर्ती किए जाने वाले व्यक्तियों का 1/3 उस वर्ष की जाने वाली भर्ती का 1/3 होना चाहिए। इसके द्वारा किसी वर्ष के लिए अधिवक्ताओं के उपलब्ध होने और नियुक्ति के लिए इच्छुक होने की दशा में अधिवक्ताओं की भर्ती की संख्या पर अधिकतम सीमा लगायी गयी है। इसमें उनके लिए कोई कोटा नियत नहीं किया गया है। जैसा कि नियम को लागू करने से उपदर्शित होगा कि यह ऐसी अनावश्यक और अप्रत्याशित स्थिति पैदा हो गयी थी जो नियम विरचित किए जाने के बाद के वर्षों में कभी उत्पन्न नहीं हुई। सम्भवतः नियमों की सूचना करने वालों ने यह सोचा और अनुमान लगाया कि अधिवक्ताओं में से बहुत से व्यक्ति सेवा में सम्मिलित होने के इच्छुक होंगे और अधिवक्ताओं में से चयन नियमित रूप से और समय से किया जाएगा जिसके फलस्वरूप प्रोन्नत किए जाने वाले व्यक्तियों के अवसर समाप्त हो गए जिनकी जानकारी और अनुभव को न्यायिक सेवा के बेहतर प्रशासन के लिए अनुरक्षित किया जाना आवश्यक था। अनेक तथ्य सामने आये और जिस धारणा को लेकर यह नियम बनाए गए थे वह सही साबित नहीं हो पाई।

59. यदि नियम 7 अपने आप स्वतंत्र होता तो कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती। तथापि समस्या नियम 8 के उप-नियम (2) से उद्भूत होती है। नियम 8 के उप-नियम (1) में यह अनुध्यात किया गया है कि सेवा में प्रोन्नत किए गए दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्यों की परस्पर ज्येष्ठता वही होगी जैसी उनकी दिल्ली न्यायिक सेवा में थी। वर्तमान संविवाद में इससे कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती। तथापि, नियम 8 के उप-नियम (2) में यह अनुध्यात किया गया है कि प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के मुकाबले सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों की ज्येष्ठता सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों और प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के बीच नियम 7 द्वारा उपबन्धित दोनों प्रवर्गों के लिए आरक्षित कोटे के आधार पर चक्रानुक्रम रीति में अवधारित की जाएगी और यह कि प्रथम उपलब्ध रिक्ति सीधी भर्ती द्वारा भरी जाएगी और अगली दो रिक्तियां प्रोन्नति द्वारा और आगे इसी प्रकार भरी जाएंगी। उप-नियम (2) अथवा नियम 8 के उप-नियम (2) के निर्माताओं ने इस वस्तुपरक स्थिति का अनुमान और कल्पना की होगी कि नियम 7 द्वारा दोनों प्रवर्गों के लिए रिक्तियों का कोटा आरक्षित कर दिया गया है जो वस्तुतः तथ्य नहीं है। नियम 7 दोनों ही प्रवर्गों के लिए कोई कोटा आरक्षित नहीं करता। नियम 7 यह उपबन्धित करते हुए केवल सीधे भर्ती किए

जाने वाले व्यक्तियों की अधिकतम सीमा उपबन्धित करता है कि अधिवक्ताओं और प्रोन्नति द्वारा भर्ती किए जाने की दशा में अधिवक्ताओं में से भर्ती किए गए व्यक्ति सेवा में अधिष्ठायी पदों के 1/3 से अधिक नहीं होंगे। इसके कारण नियमों का अर्थान्वयन इस रूप में करने की समस्या आ गई जिससे कि जहां तक सम्भव हो किसी भी वर्ग के प्रति किसी अन्याय को रोका जा सके, यदि सम्भव हो।

60. वर्तमान मामले में इस कार्य के सम्बन्ध में एक लाभ यह है कि यद्यपि सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के मुकाबले प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के अधिकारों और विशेषाधिकारों की बावत अनेक विनिश्चय हुए हैं किन्तु ऐसा कोई मामला नहीं है जिसकी ओर इस मामले में ध्यान आकर्षित किया गया हो जिसमें भिन्न्-भिन्न रीति से गठित सेवा अर्थात् सीधे भर्ती किए गए और प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों की सेवा से सम्बन्धित नियम को ऐसे शब्दों में और ऐसी रीति में बनाया गया हो जिन शब्दों और जिस रीति में वर्तमान मामले के नियम बनाए गए हैं। यह सुस्थापित है कि किसी बात के अभाव में जहां दो भिन्न-भिन्न स्रोतों से भर्ती किए गए व्यक्तियों द्वारा किसी सेवा का गठन होता है और उनकी भर्ती तथा उनके परस्पर अधिकारों को नियमों और विनियमों में उपबंधित किया गया हो वहां प्रधानतः और आवश्यक रूप से उन अधिकारों को उन नियमों की स्कीम के भीतर समायोजित करना पड़ता है। भले ही कुछ मामलों में इनसे कुछ सीमा तक असंतुलन अथवा अन्याय भी हो सकता है क्योंकि किसी सेवा का निर्माण विभिन्न बातों को ध्यान में रखकर किया जाता है और विभिन्न बातें विधानमण्डल या नियम बनाने वाले प्राधिकारी को सेवा को चलाने के लिए आवश्यक विभिन्न और विविध जानकारी विविध योग्यताएं और अन्य अपेक्षाएं प्रवृत्त करने के लिए प्रेरित करती है। विधानमण्डल या नियम बनाने वाले प्राधिकारियों को उन तथ्यों के बारे में बेहतर जानकारी होती है और उनका समायोजन करने की उनकी क्षमता भी अधिक होती है। यह सभी जानते हैं कि हमारे जैसे विशाल देश में जहां नई-नई समस्याओं सहित विचारों के विस्फोट के साथ-साथ प्रत्याशाएं बढ़ती जा रही हैं वहां न्याय-प्रशासन के लिए विभिन्न चरित्र-बल, प्रतिभा और योग्यता के समेकन की आवश्यकता है। न्याय प्रशासन के लिए स्वतंत्र विचार, नए दृष्टिकोण की आवश्यकता है जो सामान्य सेवा-जीवन और दैनिक जीवन से अप्रभावित रहे। इसके लिए निर्णय लिखने का अनुभव तथा निचले स्तर से मामलों के संचालन से प्राप्त ज्ञान होना चाहिए तथा उससे अनुभव प्राप्त होना चाहिए और इसके लिए आदर्श पद्धति वही होगी जहां ज्ञान के इन दोनों स्रोतों और शाखाओं का पूर्ण समेकन हो जिससे न्याय प्रशासन-तन्त्र समृद्ध हो सके। किन्तु न्याय प्रशासन तन्त्र को जो इस रीति

में समेकित किया जाए उसे अपने आप में न्यायिक चेतना से कार्य करना चाहिए क्योंकि इस देश में भी बहुधा ऐसे मामले आते रहते हैं जिनमें विभिन्न स्रोतों से की जाने वाली भर्ती से सामंजस्य पैदा होने की बजाय तथा संस्था के प्रयोजनों के लिए उस सामंजस्य का समर्पण भाव से उपयोग किए जाने की बजाय संस्था के विभिन्न अंगों में असामंजस्य और असन्तोष उत्पन्न हो जाता है जिससे अनेक व्यक्तियों के मन में अन्याय की चिन्ता-भावना घर कर जाती है चाहे वे वास्तविक हों या काल्पनिक । सम्पूर्ण विधि का लक्ष्य न्याय होना चाहिए। किन्तु, तब प्रश्न यह उठता है कि न्याय क्या है ? क्या यह मात्र ऐसी स्थिति का निर्माण करना है जिसमें हर कोई अपनी न्यायोचित प्रत्याशाओं का अनुभव कर सके अथवा यह प्रशासन से सम्बद्ध अनेक व्यक्तियों के अधिकारों और प्रत्याशाओं के बीच न्यायिक चेतना के साथ सामंजस्य स्थापित करना है जो प्रतिभाओं को आकर्षित करने के लिए बनाए गए नियमों के अनुसार न्याय प्रशासन तंत्र के भीतर हो ? उनकी शर्तों को विनियमित करने के लिए बनाए जाने वाले नियमों का लक्ष्य और प्रयोजन निष्पक्षता, अनुभव और ज्ञान होना चाहिए और यदि ये नियम स्पष्ट न हों तो जहां न्यायालय पूर्व-न्याय द्वारा वर्जित या बाध्य न हो वहां इस प्रकार निर्वचन किया जाना चाहिए जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि उससे न्याय प्रवाहित होता है, समाज के अस्तित्व के लिए ऐसा न्याय आवश्यक है । इसलिए यह आवश्यक है क्योंकि इससे न्याय प्रशासन से सम्बद्ध व्यक्ति न्याय की सेवा करने में समर्थ होते हैं और उस प्रक्रिया के साथ अपना तादात्मय बना लेते हैं किन्तु उनके द्वारा हम इस अनिश्चितता के युग में न्याय को निश्चित नहीं बना सकते । हम इतना ही सुनिश्चित कर सकते हैं कि अन्याय को रोकने का प्रयास किया जाए । इस प्रकार की स्कीमों और नियमों को कार्यरूप देने में आने वाली अधिकांश समस्याएं स्पष्टतः वास्तविकता को देखने की असफलता में और तदर्थ आधार पर काम चलाने की इच्छा के कारण आती हैं ।

61. वर्तमान मामले में प्रश्नगत नियमों का सविस्तार उल्लेख किया गया है । कोटे जैसी कोई चीज नहीं है । नियम 8(2) इस भ्रम पर आधारित है कि सीधे भर्ती किए जाने वालों के लिए कोटा नियत है जो नियम 17 में नहीं है । नियम 8(2) का सीधे सादे शाब्दिक अर्थ के अनुसार यह अर्थान्वयन या निर्वचन नहीं किया जा सकता कि विधान मण्डल द्वारा या नियम बनाने वाले निकाय द्वारा कोई कोटा निहित करने का विचार था । कोई अनुमानित कोटा नहीं है । यदि ऐसा कोई आशय था तो नियमों में उसका उल्लेख किया जाना था । ऐसा नहीं किया गया । नियम 8(2) गलत धारणा पर आधारित है । इसलिए इसका ऐसा प्रभाव होना चाहिए जिससे कि इसको पढ़ने पर पश्चातवर्ती

वर्षों के लिए कोई कोटा न पढ़ा जाए। इसे कैसे पढ़ा जाना चाहिए, इसे यही उपदर्शित करना होगा। मामले का एक अन्य पहलू भी है। नियम 16 में अतिरिक्त नियुक्तियां किए जाने की अनुमति दी गयी है। वास्तविक परिस्थिति जो नियम 7 और 8(2) के समायोजन की बाबत है उससे पूर्व यह आवश्यक होगा कि अधिवक्ताओं की ओर से उद्धृत किए गए कतिपय विनिश्चयों का उल्लेख किया जाए। यद्यपि इनमें अधिकांश सुसंगत नहीं हैं। नियम 8(2) के साथ मिलाकर नियम 7 को पढ़ने में हमें एक ठीक आधार मिल जाता है।

62. **मेरवियन काशिन्डो और अन्य बनाम सीमा शुल्क कलैक्टर, बम्बई और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने उल्लेख किया कि ऐसे मामलों में जहां सेवा सीधे-भर्ती किए जाने वाले और प्रोन्नत किए जाने वाले व्यक्तियों के नियत अनुपात में गठित की जाती है वहां चक्रानुक्रम रीति में ज्येष्ठता नियत करने के सिद्धांत में कोई कमी अन्तर्निहित नहीं है (जोर देने के लिए रेखांकित) जैसा जोर देने के लिए रेखांकित किए गए अंश से उपदर्शित किया गया है नियम विभिन्न आधारों पर न कि वर्तमान आधार पर बनाया गया है। वर्तमान मामले में नियम 8 के साथ पठित नियम 7 का परन्तुक कि विनिर्दिष्ट और स्पष्ट भाषा के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि सेवा में भर्ती 'नियत अनुपात में' की जानी थी। मामले को इस दृष्टि से देखते हुए उक्त विनिश्चय में इस न्यायालय द्वारा किए गए अवलोकन से वर्तमान विवाद का समाधान करने के लिए पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ता।

63. **एस० जी० जयसिंघानी** बनाम **भारत संघ और अन्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने आयकर सेवा की ज्येष्ठता के नियम पर विचार किया था। उस मामले में जिस सन्दर्भ में विवाद उत्पन्न हुआ था उस पर नियमों के सन्दर्भ में विचार किया जाना चाहिए। इस न्यायालय ने यह उल्लेख किया कि आयकर प्रशासन को सुधारने के लिए भारत सरकार ने 29-9-1944 को वर्तमान आयकर सेवा को पुनर्गठित किया और उसे वर्ग 1 और वर्ग 2 में वर्गीकृत कर दिया। पुनर्गठित की गयी पद्धति में आयकर अधिकारी वर्ग 1 श्रेणी 2 सेवा में भर्ती का उपबन्ध भागतः प्रोन्नति द्वारा और भागतः सीधी भर्ती द्वारा किया गया था। पुनर्गठन पद्धति को कतिपय संसूचनाओं में अधिकथित किया गया था। नियमों को पढ़ने से यह उपदर्शित होगा कि उसमें एक नियत अनुपात था और वर्तमान मामले में ऐसा कोई अनुपात नहीं है। इसके प्रकाश में उक्त नियमों के

---

1 [1969] 3 एस० सी० आर० 600.

2 [1967] 2 एस० सी० आर० 703.

सन्दर्भ में इस न्यायालय द्वारा किए गए अवलोकनों पर विचार करना आवश्यक नहीं है।

64. **चन्द्र मोलेश्वर प्रसाद** बनाम **पटना उच्च न्यायालय और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के समक्ष ऐसी स्थिति और नियमों पर विचार करना था जो वर्तमान नियमों के नियम 7 के परन्तुक में प्रयोग की गई शब्दावली से सर्वथा भिन्न थी। इसलिए उस विनिश्चय पर आगे जोर देना आवश्यक नहीं है। **वी० बी० बदामी आदि** बनाम **मैसूर राज्य और अन्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय पर कुछ सीमा तक आश्रय लिया गया था। उस मामले में इस न्यायालय के समक्ष विचाराधीन नियमों के सन्दर्भ में न्यायालय ने यह अवोलकन किया कि जब तक कोटा सम्बन्धी नियम बना रहता है तब तक न तो प्रोन्नत व्यक्तियों को सीधे भर्ती किए जाने वाले व्यक्तियों के कोटा से कोई अधिष्ठायी रिक्ति आवंटित की जाएगी और न ही सीधे भर्ती किए जाने वाले व्यक्तियों को प्रोन्नति वाली कोई रिक्ति आवंटित की जाएगी। दो सिद्धांत और प्रतिपादित किए गए थे, इनमें से एक यह था कि जो कोटा नियत किया गया था उसमें वह अपरिवर्तनीय था। जो कोटे नियत किए गए थे उन्हें सुसंगत नियमों के अधीन नए सिरे से कोटा अवधारित करने के पश्चात ही परिवर्तित किया जा सकता है। दूसरा सिद्धान्त यह था कि एक समूह के लिए नियत कोटे का दूसरे समूह द्वारा न तो इस आधार पर दावा किया जा सकता है कि कोटा भरा नहीं गया है और न ही इस आधार पर कि चूंकि कोटे से अधिक संख्या है इसलिए दूसरे समूह को कोटे से वंचित करके उन्हें सेवा में खपाया जाए।

65. यदि यह पता चल सकता कि इस मामले में भी उस मामले की तरह सीधे भर्ती किए जाने वाले व्यक्तियों के लिए कोई नियत या अपरिवर्तनीय कोटा विद्यमान था तो उस विनिश्चय में व्यक्त किए गए मत बहुत अनुकूल होते और प्रत्यर्थियों को मदद मिल सकती थी और आगे यह कि सेवा की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए की गई तदर्थ व्यवस्था नियमों और वर्तमान मामले में नियम 16 में उल्लिखित प्रक्रिया के अनुसार नहीं की गई।

66. **बिशनस्वरूप गुप्ता** व नाम **भारत संघ और अन्य**[3] वाले मामले में भी आयकर अधिकारियों की बावत कोटा सम्बन्धी नियमों पर विचार किया गया था। वर्तमान मामले के वर्तमान नियमों को ध्यान में रखते हुए उक्त विनिश्चय पर विचार किया जाना भी आवश्यक नहीं है।

---

[1] [1970] 3 उम० नि० प० 863=[1970] 2 एस० सी० आर० 666
[2] [1976] 2 उम० नि० प० 692=[1976] 1 एस० सी० आर० 815.
[3] [1974] 4 उम० नि० प० 1128=[1975] सप्ली० एस० सी० आर० 491.

67. इस मामले के तथ्य और नियम जिन के अधीन समस्या का समायोजन किया जाना है इससे पूर्व दिए जा चुके हैं । इस मामले में उत्पन्न दुर्भाग्यपूर्ण विवाद को सुलझाने के लिए इस न्यायालय के कतिपय विनिश्चयों में प्रतिपादित सामान्य सिद्धांतों का उल्लेख किया जा सकता है ।

68. **जोगिन्दर नाथ और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने ज्येष्ठता और पुष्टिकरण के सन्दर्भ में दिल्ली न्यायिक सेवा नियम, 1970 का अर्थान्वयन किया था। किन्तु यह अर्थान्वयन प्रोन्नत किए गए और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के बीच उनकी परस्पर ज्येष्ठता के सन्दर्भ में नहीं था । उस मामले में प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों की जो दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्य थे और जिन्हें दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में आमेलित कर लिया गया था कि परस्पर ज्येष्ठता का प्रश्न था । इस मामले में मुख्य विवाद को ध्यान में रखते हुए जो एक मात्र आनुषंगिक मुद्दा है, किन्तु जहां तक उस विवाद का सम्बन्ध है अर्थात् दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा के अधिकारियों की परस्पर ज्येष्ठता का प्रश्न है इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उस विवाद से वर्तमान मामले की कोई स्थिति प्रवाहित होती है तो उसका मार्गदर्शन **जोगिन्दर नाथ और अन्य**[1] वाले पूर्वोक्त मामले के विनिश्चय के निर्णयाधार से होगा, किन्तु जहां तक प्रोन्नत किए गए और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के बीच ज्येष्ठता सूची में ज्येष्ठता नियत करने के विवाद का प्रश्न है, जो इस मामले में मुख्य मुद्दा है, उस पर अलग से विचार किया जाएगा ।

69. वर्तमान विवाद पर आते हुए यह आवश्यक है कि कतिपय आधारभूत सिद्धांतों को ध्यान में रखा जाए जो सेवा सम्बन्धी न्यायशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । इस देश में सेवा सम्बन्धी न्याय-शास्त्र का विकास एक विशेष रीति में हुआ है । इसमें नए लोगों और पुराने अनुभवी दोनों ही प्रकार के लोगों को संगठित करने का आशय था किन्तु किसी प्रकार हमारे प्रशासक, विकासमान प्रशासनिक आवश्यकताओं और इस विस्तार के लिए आवश्यक कार्मिक अपेक्षाओं का अनुमान नहीं लगा सके जिसके परिणामस्वरूप नियुक्तियां करते समय और इतना ही नहीं प्रोन्नति देते समय बड़ी संख्या में तदर्थ व्यवस्था की गई जिसका परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक रूप से हमारे प्रशासन की प्रत्येक शाखा में प्रोन्नत किए गए और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के बीच असंतोष और गलतफहमी का वातावरण उत्पन्न हो गया और इसने बड़ी सीमा तक उस मित्रतापूर्ण वातावरण को चोट पहुंचाई जो ऐसी दशा में जब कि प्रशासन को सामाजिक विकास को आगे बढ़ाने और काया बदलने वाले

1 [1975] 1 उम० नि० प० 1428=[1975] 2 एम० सी० आर० 553.

यान के रूप में कार्य करना है। प्रशासन के सदस्यों के बीच होना चाहिए और जो प्रशासन के सदस्यों द्वारा झेली जा रही गम्भीर व्यक्तिगत और आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद इस बड़ो सम्भावना और उसकी अल्पकालिक प्रकृति को देखते हुए जिसके बीच से होकर उसे गुजरना पड़ता है भारतीय प्रशासन के लिए आवश्यक है।

70. वर्तमान विवाद का समाधान करने के लिए **एस० बी० पटवर्धन और अन्य बनाम महाराष्ट्र राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में किए गए विनिश्चय का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि उस मामले में दिया गया विनिश्चय इंजीनियरी से सम्बन्धित विवाद के सन्दर्भ में था उस मामले में इस न्यायालय के समक्ष सुसंगत नियमों के नियम 8(1) वर्ग 2 उपमंडलीय पदों के विभिन्न प्रवर्गों की बावत था जिन्हें दो सूचियों में संयोजित किया गया था जिनमें से एक सूची बम्बई इंजीनियरी सेवा वर्ग (2) के स्थायी उप इंजीनियरों के संवर्ग की थी और दूसरी सूची स्थानापन्न उप-इंजीनियरों की थी। वर्तमान विवाद के लिए उसके विवरण उपवर्णित करने की आवश्यकता नहीं है। विवादास्पद उपबंध नियम 8 (iii) था जो निम्नलिखित रूप में था—

> "किसी वर्ष में मुम्बई इंजीनियरी सेवा वर्ग 2 के संवर्ग में सीधे भर्ती किए गए परिवीक्षाधीन व्यक्तियों को उस वर्ष के दौरान सेवा में पुष्ट किए गए प्रोन्नत व्यक्तियों से सामूहिक रूप से ज्येष्ठ स्थान दिया जाएगा।"

71. विद्वान मुख्य न्यायमूर्ति ने यह मत व्यक्त किया था कि यह नियम प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के साथ भेद-भाव बरतने वाला है और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के प्रति पक्षपातपूर्ण रुख अपनाता है। इसको न्यायोचित बताने के लिए मुख्य रूप से यह कहा गया है कि जिन व्यक्तियों को स्थानापन्न उप-इंजीनियरों के पद पर प्रोन्नत किया गया था वे तब तक उस संवर्ग से सम्बद्ध नहीं हो सकते जब तक उन्हें उप-इंजीनियरों के रूप में पुष्ट नहीं किया जाता। जबकि परिवीक्षा पर उप-इंजीनियरों के रूप में सीधे भर्ती किए गए व्यक्ति चाहे वह उसी वर्ग के हों या संवर्ग से अपनी नियुक्ति की तारीख से ही समाधानपरक रूप से परिवीक्षा की अवधि पूरी कर लेने के पश्चात् उस हैसियत में उनको पुष्ट किया जाना गारन्टीशुदा था। विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति ने यह अनुभव किया कि इसकी सावधानी पूर्वक परीक्षा करने की आवश्यकता है। वर्तमान रिट पिटीशनों में भी कुल मिलाकर ऐसे ही अनुरोध किए गए। इस न्यायालय ने आगे यह उल्लेख किया कि ऐसा कोई सार्वभौम नियम नहीं है कि

1 [1978] 3 उम० नि० प० 609=[1977] 3 एस० सी० आर० 775.

कोई संवर्ग स्थायी और अस्थायी दोनों ही प्रकार के कर्मचारियों से या दोनों से मिलकर बना हो । आरम्भतः यह विषय है सेवा विशेष को नियंत्रित करने वाले नियम और विनियमों का जिसकी बाबत संवर्ग के गठन की बाबत प्रश्न उत्पन्न हुआ है । न्यायालय ने इस मुद्दे पर कतिपय विनिश्चयों का उल्लेख किया। रिपोर्ट के पृष्ठ 800 पर विद्वान् न्यायमूर्ति ने निम्नलिखित अवलोकन किया—

> "हम ज्येष्ठता की ऐसी संहिता तैयार करने में प्रशासनिक कठिनाइयों से अनभिज्ञ नहीं हैं जिसमें सब परस्पर विरोधी दावे संतुष्ट हो जाएंगे । किन्तु संविधान के समता विषयक खण्डों के स्पष्ट अतिक्रमण को रोकने का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए । राज्य सरकार द्वारा बनाए गए नियम सांविधानिक दृष्टि से इतने आलोच्य थे कि प्रशासन समय-समय पर विरोधी स्थितियां अपनाने के लिए विवश हो गया था और कर्मचारियों के लिए अपने अधिकारों के प्रति समर्थन के लिए न्यायालयों की शरण लेने के सिवाय कोई अन्य विकल्प नहीं रह गया था । इस प्रक्रिया में न्यायालयों को चाहे वे बड़े हों या छोटे, वे कृत्य करने पड़ते हैं जिनका सरकार के समुचित विभागों की विज्ञता पर छोड़ देना ज्यादा उचित होता है । हमने कतिपय नियम अभिखण्डित कर दिए हैं । अब हम ज्येष्ठता विषयक नियम बनाने का काम अपने जिम्मे नहीं लेते हैं । वह इस न्यायालय का काम नहीं है और स्पष्ट रूप से इस न्यायालय के पास ऐसा करने के विशेष ज्ञान और विवरण का अभाव है । तथापि, हम यह आशा करते हैं कि यदि किसी संवर्ग में स्थायी और अस्थायी दोनों कर्मचारी हैं तो पुष्टीकरण की घटना सीधे भर्ती किए गए और प्रोन्नत व्यक्तियों के बीच ज्येष्ठता अवधारित करने के लिए बोधगम्य कसौटी नहीं हो सकती है । जब विभिन्न स्रोतों से भर्ती किए गए व्यक्ति एक ही संवर्ग के हों, वे एक जैसे ही कार्य करते हों और उनके एक जैसे ही उत्तरदायित्व हों तब उनके बीच ज्येष्ठता के नियम अवधारित करते समय अन्य बातों के समान होने पर किसी अनाकस्मिक रीति में निरन्तर स्थानापन्न कार्य करने को सम्यक रूप से मान्यता दी जानी चाहिए । इससे अधिक कुछ कहना उस क्षेत्र में हस्तक्षेप करना होगा जो कि न्यायालयों का नहीं है ।"

(जोर देने के लिए रेखांकित)

72. वर्तमान विवाद का विनिश्चय करने के लिए पूर्वोक्त मतों को ध्यान में रखना होगा।

प्रोन्नत किए गए अधिकारियों की न्यायिक सेवा की अवधि और अधिवक्ता के रूप में उनके द्वारा किए गए व्यवसाय, यदि कोई है, दोनों को जोड़ने पर उनके मुकाबले अधिवक्ता के रूप में कम अवधि तक व्यवसाय किया है। पिटीशनरों ने असंगतियों के उदाहरण दिए हैं। उनके अनुसार यदि वर्तमान पद्धति को जारी रखा गया तो असंगतियां होंगी। पिटीशनरों ने अपने आप और अपनी एसोसिएशन के माध्यम से कतिपय अभ्यावेदन जनवरी, 1978, जुलाई, 1978 और दिसम्बर, 1978 में किए और उन्होंने कथित अन्याय के प्रति उपचार की मांग की और यह भी निवेदन किया कि जब तक इस प्रश्न का समाधान न हो जाय उच्च न्यायालय द्वारा दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में अधिवक्ताओं में से सीधे भर्ती न की जाए। पिटीशनरों ने दलील दी कि वर्तमान अर्थान्वयन से और वर्तमान ज्येष्ठता सूची से विसंगत स्थितियां पैदा हो गई हैं।

55. पिटीशन फाइल किए जाने के पश्चात् प्रारम्भिक आदेश जारी किए गए और कतिपय अंतरिम आदेश पारित किए गए। इस न्यायालय द्वारा समय-समय पर किए गए उक्त आदेशों का विवरण देने की आवश्यकता नहीं है।

56. तथापि, यह उल्लेख किया जा सकता है कि इस न्यायालय ने 29 सितम्बर, 1981 को इन दोनों मामलों में प्रारम्भिक आदेश जारी किया और आगे यह आदेश किया कि अब आगे न तो प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों के प्रवर्ग से जो जिला और सेशन न्यायाधीश के रूप में कार्य कर रहे हैं और न ही सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के प्रवर्ग में से जो उसी हैसियत में कार्य कर रहे हैं कोई प्रतिवर्तन नहीं किया जाएगा। कतिपय मध्यक्षेपी आवेदन मंजूर किए गए। 27 अप्रैल, 1982 को इस न्यायालय ने आगे निदेश किया कि यदि कोई अधिकारी जो उस समय प्रतिनियुक्ति पर कार्य कर रहा था, अपने पैतृक संवर्ग में वापस आ जाता है तो कनिष्ठतम अधिकारी को, जो वर्तमान में जिला और सेशन न्यायाधीश का पद धारण कर रहा है प्रत्यावर्तित करना आवश्यक हो सकता है किन्तु इस न्यायालय ने कहा कि यथासम्भव ऐसे प्रत्यावर्तन से भी बचना चाहिए।

57. इन पिटीशनों के साथ पद क्रम सूची का चार्ट उपाबद्ध किया गया है। सूची के अनुसार श्री डाखा प्रत्यर्थी सं० 4 को छठे स्थान पर और कुमारी ऊषा मेहरा प्रत्यर्थी सं० 5 को नवें स्थान पर दर्शित किया गया है। पिटीशनरों के अनुसार ऐसा इसलिए किया गया है क्योंकि उक्त नियमों के नियम 7 और 8 को बनावटी रूप से पढ़ा गया है। यह उपदर्शित किया गया है कि उसी प्रक्रिया

कोई संवर्ग स्थायी और अस्थायी दोनों ही प्रकार के कर्मचारियों से या दोनों से मिलकर बना हो। आरम्भतः यह विषय है सेवा विशेष को नियंत्रित करने वाले नियम और विनियमों का जिसकी बाबत संवर्ग के गठन की बाबत प्रश्न उत्पन्न हुआ है। न्यायालय ने इस मुद्दे पर कतिपय विनिश्चयों का उल्लेख किया। रिपोर्ट के पृष्ठ 800 पर विद्वान् न्यायमूर्ति ने निम्नलिखित अवलोकन किया—

> "हम ज्येष्ठता की ऐसी संहिता तैयार करने में प्रशासनिक कठिनाइयों से अनभिज्ञ नहीं हैं जिसमें सब परस्पर विरोधी दावे संतुष्ट हो जाएंगे। किन्तु संविधान के समता विषयक खण्डों के स्पष्ट अतिक्रमण को रोकने का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए। राज्य सरकार द्वारा बनाए गए नियम सांविधानिक दृष्टि से इतने आलोच्य थे कि प्रशासन समय-समय पर विरोधी स्थितियां अपनाने के लिए विवश हो गया था और कर्मचारियों के लिए अपने अधिकारों के प्रति समर्थन के लिए न्यायालयों की शरण लेने के सिवाय कोई अन्य विकल्प नहीं रह गया था। इस प्रक्रिया में न्यायालयों को चाहे वे बड़े हों या छोटे, वे कृत्य करने पड़ते हैं जिनका सरकार के समुचित विभागों की विज्ञता पर छोड़ देना ज्यादा उचित होता है। हमने कतिपय नियम अभिखण्डित कर दिए हैं। अब हम ज्येष्ठता विषयक नियम बनाने का काम अपने जिम्मे नहीं लेते हैं। वह इस न्यायालय का काम नहीं है और स्पष्ट रूप से इस न्यायालय के पास ऐसा करने के विशेष ज्ञान और विवरण का अभाव है। तथापि, हम यह आशा करते हैं कि यदि किसी संवर्ग में स्थायी और अस्थायी दोनों कर्मचारी हैं तो पुष्टीकरण की घटना सीधे भर्ती किए गए और प्रोन्नत व्यक्तियों के बीच ज्येष्ठता अवधारित करने के लिए बोधगम्य कसौटी नहीं हो सकती है। जब विभिन्न स्रोतों से भर्ती किए गए व्यक्ति एक ही संवर्ग के हों, वे एक जैसे ही कार्य करते हों और उनके एक जैसे ही उत्तरदायित्व हों तब उनके बीच ज्येष्ठता के नियम अवधारित करते समय अन्य बातों के समान होने पर किसी अनाकस्मिक रीति में निरन्तर स्थानापन्न कार्य करने को सम्यक रूप से मान्यता दी जानी चाहिए। इससे अधिक कुछ कहना उस क्षेत्र में हस्तक्षेप करना होगा जो कि न्यायालयों का नहीं है।"

(जोर देने के लिए रेखांकित)

72. वर्तमान विवाद का विनिश्चय करने के लिए पूर्वोक्त मतों को ध्यान में रखना होगा।

73. **राजेन्द्र नारायण सिंह और अन्य** बनाम **बिहार राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में बिहार पुलिस सेवा (भर्ती) नियम, 1953 के अर्थान्वयन का प्रश्न उठाया गया था उस मामले में सुसंगत नियमों का नियम 3 इस प्रकार था—

> *"राज्यपाल प्रत्येक वर्ष उस वर्ष भरी जाने वाली रिक्तियों की संख्या निश्चित करेंगे।
>
> परन्तु किसी एक वर्ष में सेवा में प्रोन्नति द्वारा भरी जाने वाली रिक्तियों की संख्या तब तक ऐसे वर्ष में भरी जाने वाली रिक्तियों की कुल संख्या के आधे से कम नहीं होगी जब तक कि राज्यपाल का यह समाधान नहीं हो जाता कि प्रोन्नति के लिए पर्याप्त संख्या में अधिकारी उपयुक्त नहीं हैं।"

न्यायालय ने आगे यह मत व्यक्त किया कि बिहार पुलिस सेवा (भर्ती) नियमों का नियम 3 वस्तुतः कोटा सम्बन्धी नियम नहीं था और इसमें कोई अनुपात भी अधिकथित नहीं किया गया है। इसमें केवल इस बात पर जोर दिया गया है कि प्रोन्नति द्वारा भरी जाने वाली रिक्तियों की संख्या में वृद्धि किए जाने और प्रोन्नति द्वारा उनके भरे जाने से यह अपेक्षा करने वाले नियम का निश्चित रूप से उल्लंघन होता है कि प्रोन्नत व्यक्तियों द्वारा किसी वर्ष भरी जाने वाली रिक्तियों की संख्या आधी से कम नहीं होनी चाहिए। रिक्तियों की संख्या में वृद्धि करना और प्रोन्नति द्वारा उनको भरा जाना यह अपेक्षा करने वाले नियम का उल्लंघन नहीं होता कि प्रोन्नति द्वारा आधी से कम रिक्तियां नहीं भरी जाएंगी।

74. इस न्यायालय द्वारा **ए० जर्नादन** बनाम **भारत संघ और अन्य**[2]

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

> "The Governor shall decide in each year the number of vacancies to be filled in that year.
>
> Provided that the numbeı of vacancies to be filled by promotion in the service in any one year shall not unless the Governor is satisfied that three is not a sufficient number of officers fit for promotion, be less that half the total number of vacancies to be filled in any such year."

---

1 [980] 3 एस० सी० आर० 450.

2 [1984] उम० नि० प० = [1983] 3 एस० सी० आर० 601.

वाले मामले में किए गए अवलोकन के प्रति भी निर्देश किया जा सकता है। इस न्यायालय ने वर्तमान मामले के तथ्यों से मिलती-जुलती असंगतियों का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित कथन किया—

> "इसलिए स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादना प्रारम्भ करने का समय है कि सीधी भर्ती वाले व्यक्ति को, जो ऐसे प्रोन्नत व्यक्ति के पश्चात् सेवा में आता है जो पहले से ही बिना किसी शर्त और आरक्षण के प्रोन्नत किया गया था और जिसकी प्रोन्नति को सुसंगत कानूनी या गैर-कानूनी नियमों के अनुसार अवैध या अविधिमान्य नहीं दर्शाया गया है, ज्येष्ठता के किसी भी सिद्धांत के आधार पर प्रोन्नत व्यक्ति के ऊपर स्थान प्राप्त करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि यह बात स्वयं में मनमानी होने से अनुच्छेद 14 और 16 की उल्लंघनकारी होगी। कुछ सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों की ओर से विद्वान् काउन्सेल श्री राममूर्ति ने इस सम्बन्ध में यह दलील दी है कि यदि उस समय, जबकि प्रोन्नत व्यक्ति को प्रोन्नति द्वारा भर्ती किया गया था, उसकी नियुक्ति, प्रोन्नति अनियमित या अवैध थी और उसे नियमित किया जाना आवश्यक था तो किसी पश्चात्वर्ती तारीख को आने वाला पश्चात्वर्ती सीधे भर्ती किया गया व्यक्ति अनुतोष प्राप्त कर सकता है तथा ऐसे अनियमित या अवैध प्रवेशार्थी के ऊपर स्थान प्राप्त कर सकता है। हम इस बात से सहमति व्यक्त करने में असमर्थ हैं। यद्यपि हमने इस पहलू पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। हमारे द्वारा उपदर्शित सिद्धांतों पर किसी सामान्य सिद्धांत की किसी प्रतिपादना से इस न्यायालय के विनिश्चयों में से कुछ पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता होगी। इसके सिवाय कुछ और अधिक नहीं कहते हैं कि हमने इस न्यायालय के विनिश्चयों और सुसंगत नियमों के निर्वचन के अनुसार इस मामले की समस्या को हल कर लिया है।"

75. **बालेश्वर दास और अन्य** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले के विनिश्चय के प्रति भी निर्देश किया गया। उस मामले में एक भिन्न नियम अर्थात् उत्तर प्रदेश इंजीनियरी सेवा (कनिष्ठ और ज्येष्ठ वेतनमान) सिंचाई शाखा नियमों के सन्दर्भ में इस न्यायालय में यह मत व्यक्त किया गया कि किसी पद पर स्थानापन्न रूप में की गई सेवा ज्येष्ठता के समस्त व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए उसी प्रकार की सेवा है जैसी नियमित आधार पर की गई सेवा। सरकार को जब उसके समक्ष ज्येष्ठता का प्रश्न आए एक सीमा तक

---

1 [1981] 3 उम० नि०प० 493 = 1981] 1 एस० सी० आर० 449.

स्थानापन्न रूप में की गई सेवा की उपेक्षा करने की और केवल नियमित आधार पर की गई सेवा को गणना में लेने की छूट दी जा सकती है, परन्तु यह तब जबकि इस सम्बन्ध में नियम स्पष्ट और सुभिन्न हों और उनमें किसी तरह की संदिग्धता की गुंजाइश न हो और उनके द्वारा अनेक वर्षों तक की गई सेवा को मनमाने ढंग से काटा न गया हो। जबकि सेवा की शर्तों को विनियमित करने वाले नियम राज्य की कार्यपालक शक्तियों के भीतर आते हैं या अनुच्छेद 309 के परन्तुक के अधीन उसकी विधायी शक्ति के अधीन आते हैं ऐसे नियमों को युक्तियुक्त और निष्पक्ष होना चाहिए तथा पूर्णतः अन्यायपूर्ण नहीं होना चाहिए जिससे कि यदि उन्हें संविधान के अनुच्छेद 14 और 16 की कसौटी पर कसा जाए तो वे खरे उतरें। इस न्यायालय ने आगे यह उल्लेख किया कि ज्येष्ठता के प्रयोजनों के लिए सामान्यतः सेवा में अधिष्ठायी हैसियत में नियुक्ति के आदेश का अनुसरण करना पड़ता है। किन्तु 'अधिष्ठायी हैसियत', 'सेवा' 'संवर्ग' और ऐसी ही अन्य अभिव्यक्तियों के लिए कोई नियत अर्थ नहीं दिया जा सकता। क्योंकि नियमों में अस्थायी नियुक्ति के लिए भी विहित की गई परिवीक्षावधि का अर्थ यह लगाया जा सकता है कि अस्थायी नियुक्ति भी अधिष्ठायी हो सकती है। क्योंकि किसी ऐसे सरकारी सेवक के लिए परिवीक्षावधि नहीं हो सकती जिसे उसके पूरा होने पर सेवा में अधिष्ठायी रूप में आमेलित नहीं किया जाना है। स्थायित्वकरण के साथ ही साथ ज्येष्ठता और प्रोन्नति से भिन्न कुछ और भी अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। शासकीय भाषा में स्थायी पद और अस्थायी पदों के बीच बहुत तीव्र अंतर है किन्तु उस मामले में न्यायालय ने यह भी उल्लेख किया कि मात्र इतने से ही उत्तर प्रदेश इंजीनियरी सेवा के ऐतिहासिक संदर्भ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। न्यायालय ने यह उल्लेख किया कि अस्थायी इंजीनियरों के मामले में भी लोक सेवा आयोग से परामर्श की अपेक्षा होती है। नियमों के नियम 16 के संदर्भ में वर्तमान मामले में उच्च न्यायालय से परामर्श की अपेक्षा का उल्लेख किया जा सकता है।

76. पूर्वोक्त विनिश्चय में इस न्यायालय ने यह उल्लेख किया कि किसी व्यक्ति के बारे में उस समय यह कहा जाता है कि वह अधिष्ठायी हैसियत में है जब वह उसे अनिश्चितकाल तक धारण करता है और विशेष रूप से उस समय जब वह उस व्यक्ति के मुकाबले सुभिन्नतः जो किसी निश्चित या अस्थायी अवधि तक पद धारण करता है वह दीर्घकाल तक पद धारण करता है या पुष्टिकरण के अधीन रहते हुए पद धारण करता है। यदि नियुक्ति ऐसे पद और हैसियत में की गई है जिसमें की गई नियुक्ति अनिश्चित काल के लिए थी तो यदि समुचित प्राधिकारी से परामर्श कर लिया गया है और उसने अनुमोदन कर

दिया है, यदि विहित परीक्षण ले लिया गया है और उन्हें उत्तीर्ण कर लिया गया है, यदि परिवीक्षा अवधि विहित की गई है और अनुमोदन हो गया है तो यह कहा जा सकता है कि मूल पदधारी द्वारा वह पद अधिष्ठायी हैसियत में धारण किया गया था। इन परीक्षणों को इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में लागू करते हुए जो ऐसे अधिकारियों की बाबत है जो लम्बी अवधि से पद पर बने हुए थे इस बात में कोई संदेह नहीं है कि पिटीशनर अधिकारियों ने अपने पद अधिष्ठायी हैसियत से धारण किए थे।

77. इसे एक अन्य दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। पिटीशनरों में से बहुत से पिटीशनर अधिष्ठायी हैसियत में अस्थायी पद धारण करने वाले हैं। इन पदों का सृजन प्रशासक द्वारा नियम 16 के अधीन किया गया है। नियम 17 भी देखिए जो अध्यारोही खण्ड से आरम्भ होता है। नियम 2 (ख) और नियम 2 (घ) द्वारा पिटीशनर जो अधिष्ठायी हैसियत में अस्थायी पद धारण कर रहे हैं वे "संवर्ग" पद धारण कर रहे हैं और वे सेवा के सदस्य भी हैं। अधिष्ठायी हैसियत में की गई नियुक्ति अधिष्ठायी पद पर की गई नियुक्ति से भिन्न है। **बालेश्वर दास**[1] वाले मामले में (पृष्ठ 449, 467-469) पैरा 23 पृष्ठ 779 में यही अभिनिर्धारित किया गया है कि जैसाकि उच्च न्यायालय की ओर से दलील दी गई थी सुसंगत नियमों का सन्दर्भ वर्तमान मामले से कुछ भिन्न था किन्तु यह सैद्धान्तिक रूप से महत्वपूर्ण भिन्नता नहीं है। इसलिए यह दलील देना गलत है कि अधिष्ठायी पद धारण करने वाले अर्थात् मूलतः सेवा के प्रारम्भ पर 12 पद और अब 22 पद धारण करने वाले व्यक्ति ही सेवा के सदस्य हैं। सभी मूल पदधारी चाहे वे अधिष्ठायी पद धारण कर रहे हों या अधिष्ठायी हैसियत में अस्थायी पद धारण कर रहे हों वर्तमान नियम के सन्दर्भ में सेवा के सदस्य हैं।

78. नियम 7 की वास्तविक शब्दावली का उल्लेख किया जा चुका है। किन्तु यह स्पष्ट है कि वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में नियम 7 सेवा में अधिष्ठायी पदों पर की गयी भर्ती को ही लागू हो सकता है। इसमें भर्ती के दो भिन्न-भिन्न स्रोत विहित किए गए हैं और कोई वास्तविक कोटा नियत नहीं किया गया है। किन्तु सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों द्वारा धारित किए जाने वाले अधिष्ठायी पदों के 1/3 से अनधिक की सीमा लगा दी गई है। नियम 7 और 8 विलग होकर विद्यमान नहीं रह सकते। इन्हें अन्य नियमों के साथ पढ़ना होगा, विशेष रूप से नियम 16 के साथ सौहार्दपूर्ण अर्थान्वयन के सिद्धान्त को अपनाना होगा जिससे कि समस्त नियमों को लागू किया जा सके और कोई

1 [1981] 3 उम० नि० प० 493 = (1983) ए० आई० आर० एस० सी० 769.

एक नियम दूसरे को व्यर्थ न कर दे । नियम 16 छूट देने वाला नियम है अथवा भर्ती सम्बन्धी एक अतिरिक्त नियम है जिसमें अधिष्ठायी पदों के अतिरिक्त स्थायी पदों के भरे जाने का उपबन्ध किया गया है । अस्थायी पदों के सृजन का प्रभाव यह होगा कि "सेवा के सदस्यों" की संख्या में विस्तार होगा । क्योंकि नियम 16 के अधीन अस्थायी पदों को भरने के लिए दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्यों तक ही भर्ती सीमित है इसलिए अस्थायी पदों पर भर्ती के लिए नियम 7 को लागू नहीं किया जा सकता । इसलिए अस्थायी पदों की बाबत कोटा सम्बन्धी कोई नियम लागू नहीं है ।

79. मामले को पूर्वोक्त दृष्टिकोण से देखते हुए परिभाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि जिला और सेशन न्यायाधीशों के अस्थायी पद "संवर्ग पद" है । इस सम्बन्ध में उक्त नियमों का नियम 2 (ख) देखिए । ऐसे अस्थायी पदों को धारण करने वाले यदि उक्त नियमों के नियम 2 (घ) और नियम 2 (ङ) के अधीन उन्हें ऐसे पदों पर अधिष्ठायी हैसियत में नियुक्त किया जाता है तो वे दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा के सदस्य हो जाते हैं । किसी व्यक्ति को तभी अधिष्ठायी हैसियत में स्थायी या अस्थायी पद धारण करने वाला कहा जा सकता है जब उस पर की गई उसकी नियुक्ति आकस्मिक या तदर्थ नहीं है । अन्तरकालीन व्यवस्था के दौरान किसी पद पर नियुक्त किए गए किसी व्यक्ति की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वह अधिष्ठायी हैसियत में पद धारण कर रहा है । इस अपेक्षा के अतिरिक्त कि नियुक्ति आकस्मिक, अन्तरकालीन या तदर्थ प्रकृति की नहीं होनी चाहिए किसी अस्थायी पद पर की गयी किसी नियुक्ति को तब तक अधिष्ठायी नहीं समझा जा सकता जब तक उसे ऐसे नियमों या विनियमों का अनुपालन करते हुए नहीं भरा गया है जिनका स्थायी पद पर नियुक्ति करते समय अनुपालन करना था । वर्तमान मामले में, उदाहरण के लिए, अपर जिला और सेशन न्यायाधीश के पद पर अस्थायी रूप में नियुक्त किया गया कोई व्यक्ति उस पद को तभी अधिष्ठायी हैसियत में धारण कर सकता है जब उसने नियम 7 (क) की अपेक्षानुसार दिल्ली न्यायिक सेवा में 10 वर्ष से अन्यून सेवा पूरी कर ली हो और जब उसे उक्त नियमों के नियम 5 (1) के अनुसार उच्च न्यायालय के परामर्श से दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्यों में से चयन द्वारा नियुक्त किया गया है ।

80. नियम 7 (ख) के परन्तुक में सीधे भर्ती किए जाने वाले व्यक्तियों के लिए 1/3 का कोई कोटा विहित नहीं किया गया है । जैसाकि उल्लेख किया जा चुका है इसमें केवल अधिकतम सीमा उपदर्शित की गई है और सीधे भर्ती किए

जाने वाले व्यक्तियों द्वारा सेवा में अधिष्ठायी पदों के 1/3 से अन अधिक पद धारण किए जाएंगे।

81. यदि यह भी मान लिया जाए कि नियम 7(ख) के परन्तुक में सीधे भर्ती किए जाने वालों के लिए 1/3 कोटा विहित किया गया है तो नियम 16 (1) जिसके द्वारा प्रशासक को सेवा में नए पदों का सृजन करने की शक्ति दी गई है, नियम 16 (2) के साथ पढ़ने पर, जिसमें यह उपबन्ध किया गया है कि अस्थायी पदों को उच्च न्यायालय के परामर्श से, दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्यों में से भरा जाएगा या तो कोटा नियम का एक अपवाद है या वैकल्पिक रूप से, कोटा नियम में छूट देते हुए या उसका निराकरण करते हुए प्रवर्तित होता है। नियम 16 (2) द्वारा किसी सीधे भर्ती किए गए व्यक्ति को अस्थायी पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, अस्थायी पदों पर केवल प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों को ही नियुक्त किया जा सकता है। यदि अस्थायी पदों पर भर्ती का स्रोत केवल एक और मात्र एक ही है और वह है दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्य, तो कोटा नियम लागू करने का प्रश्न सम्भवतः नहीं उठ सकता। कोटा नियम तभी लागू हो सकता है जब भर्ती के स्रोत एक से अधिक हों। यदि सेवा में अस्थायी पदों का सृजन किया गया है जैसाकि इस मामले में नियम 16(1) के अधीन प्रशासक द्वारा किया गया है और यदि ऐसे पदों को भर लिया गया है जैसा कि इस मामले में प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय के परामर्श से नियमों के नियम 16(2) की अपेक्षानुसार दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्यों में से किया गया है तो यह मानते हुए भी कि कोई नियम है ऐसी नियुक्तियों के सम्बन्ध में कोई कोटा नियम लागू नहीं होगा। ऐसी नियुक्तियों की विधिमान्यता के बारे में यह आपत्ति नहीं की जा सकती कि उनसे किसी कोटा नियम का, यदि कोई है, उल्लंघन होता है जैसा कि इसमें इससे पूर्व उल्लेख किया जा चुका है, नियम 7 में मात्र इसलिए कोई कोटा सम्बन्धी नियम पाना असम्भव है कि नियम 8 में यह धारणा है कि नियम 7 में कोई कोटा नियम दिया गया है और इसके बाद उसमें चक्रानुक्रम पद्धति दी गई है। इस स्थिति को स्वीकार करना उचित नहीं होगा कि कोई कोटा नियम विद्यमान है विशेष रूप से इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि इन तमाम वर्षों के दौरान इस नियम को कार्यरूप देने से यह उपदर्शित होता है कि उस नियम का पालन नहीं किया गया और इस नियम की पूर्ति नहीं की जा सकती यदि नियम 16 के अधीन की गई नियुक्तियों को कार्यरूप दिया गया और इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भी कि यदि कोटा नियम को नियम 8 (2) के संयोजन में भी लागू किया जाता है तो भी उसके परिणामस्वरूप स्पष्टतः अन्याय होगा।

एक ओर सीधे भर्ती किये जाने वाले व्यक्तियों के और दूसरी ओर दिल्ली न्यायिक सेवा के सदस्यों के बीच जो अपर जिला और सेशन न्यायाधीशों के अस्थायी पदों पर अधिष्ठायी हैसियत में नियुक्त किये गये थे ज्येष्ठता काडर-पद पर निरन्तर स्थानापन्न-सेवा के नियम से नियन्त्रित होगी अर्थात् सीधे भर्ती किये गये व्यक्ति जिनकी नियुक्ति दिल्ली न्यायिक सेवा के किसी सदस्य के प्रति जिला और सेशन न्यायाधीश के अस्थायी पद पर अधिष्ठायी हैसित में नियुक्ति के बाद की जाती है वे ज्येष्ठता सूची में पश्चातवर्ती की अपेक्षा उच्चतर रैंक प्राप्त नहीं कर सके और न ही प्राप्त करनी चाहिए। यदि सीधे भर्ती किये गये किसी व्यक्ति की दिल्ली न्यायिक सेवा के किसी सदस्य की प्रोन्नति के पश्चात् नियुक्ति की जाती है तो वह पश्चातवर्ती से ज्येष्ठता में निचले रैंक पर होगा। इससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

1. नियम 7(2) कोटा नियम की प्रकृति का नहीं है;

2. अस्थायी पदों को अधिष्ठायी हैसियत में धारण किया जा सकता है;

3. ऐसे अस्थायी पद धारण करने वाले दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा के सदस्य हैं;

4. नियम 8 (2) जिसमें सीधे भर्ती किये गये और प्रोन्नत व्यक्तियों के बीच "नियम 7 द्वारा दोनों प्रवर्गों के लिए आरक्षित रिक्तियों के कोटे के आधार पर" रिक्तियों के चक्रानुक्रम का उपबन्ध किया गया है; इस प्रकार पढ़ना होगा जिससे कि सीधे भर्ती किये गये या प्रोन्नत व्यक्तियों के सम्बन्ध में या प्रथम और आरम्भिक नियुक्ति की दशा में साथ-साथ लागू किया जाना सीमित हो सके। कोई अन्य अर्थान्वयन करने से नियम असंगत और अविधिमान्य हो जायेगा जिससे संविधान के अनुच्छेद 14 और 16 का अतिवर्तन हो जाएगा।

82. दिल्ली न्यायिक सेवा के इतिहास से यह दर्शित होता है कि प्रोन्नत किये गये व्यक्तियों को परिवीक्षा पर रखा जाना कोरी जिज्ञासा मात्र है। प्रोन्नत किया गया व्यक्ति जैसा कि अभी निकट भविष्य के उदाहरणों से दर्शित होता है जो रिट पिटीशनों के लम्बित रहने के दौरान सामने आये हैं प्रोन्नत व्यक्तियों को भूतलक्षी प्रभाव से परिवीक्षा पर रखा गया था 6 सितम्बर, 1983 वाले आदेश के द्वारा सचिव (विधि और न्यायिक), दिल्ली प्रशासन ने यह अधिसूचित किया कि प्रोन्नत किये गये 5 व्यक्तियों को 1-10-1981 से

10-5-1983 के बीच विभिन्न तारीखों से परिवीक्षा पर रखा गया था। क्रम संख्या 1 पर प्रोन्नत श्रीमती सन्तोष दुग्गल को 1 अक्तूबर, 1981 से भूतलक्षी प्रभाव से परिवीक्षा पर रखा गया जिसका तात्पर्य यह है कि उनकी दो वर्ष की परिवीक्षा अवधि 5 सितम्बर, 1983 वाले पत्र की तारीख से 3 सप्ताह के भीतर ही समाप्त हो जाएगी। यह उल्लेख करना भी बहुत दिलचस्प होगा कि श्रीमती दुग्गल अक्तूबर, 1982 से स्वर्ण नियन्त्रण अपील बोर्ड के न्यायिक सदस्य के रूप में भी कार्य करती रही हैं। इसलिए ऐसी परिवीक्षा निरर्थक औपचारिकता मात्र है, इसलिए ऐसे प्रोन्नत किये गये व्यक्ति जो ऊपर उपदर्शित अर्थ में अधिष्ठायी हैसियत में नियुक्त किए गए हैं, उन्हें यदि इससे पूर्व परिवीक्षा पर रखा गया था अब परिवीक्षा पर रखा जा सकता है।

83. जैसाकि **ए० जनार्दन** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले विनिश्चय में रिपोर्ट के पृष्ठ 608 पर उल्लेख किया गया है, यदि नियम 7 (ख) के परन्तुक को और जिस रीति में प्रत्यर्थी ने दलील दी है उस रीति में नियम 8(2) के साथ पढ़ा जाए तब ऐसा हो सकता है कि उसे विधिक कल्पना द्वारा ऐसा स्थान दिया जा सकता है जिसके द्वारा काल्पनिक व्यवस्था द्वारा जिला और सेशन न्यायाधीश के रूप में किसी ऐसे व्यक्ति से उस समय ज्येष्ठ स्थान दिया जा सकता है जब उसने वह आयु भी पूरी नहीं की है कि वह नियुक्ति के लिए पात्र हो सके। ऐसी स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण होगी और उससे असंगत परिणाम निकलेगा। वस्तुतः ऐसा ही परिणाम **ए० जनार्दन**[1] वाले मामले में निकाला था।

84. प्रत्यर्थियों की ओर से एक तर्क यह रखा गया कि उक्त नियमों के नियम 16 और 17 के अधीन की जाने वाली नियुक्तियों के लिए परिवीक्षा का कोई उपबन्ध नहीं किया गया है, किन्तु नियम 12 के उपनियम (2) द्वारा यह अपेक्षा की गई है कि समस्त अभ्यर्थी 2 वर्ष की परिवीक्षा अवधि पर रहेंगे। परिवीक्षा पर की गई नियुक्ति के लिए न्याय-शास्त्र सम्मत रूप से यह अनिवार्य नहीं है कि उसे सेवा में आमेलित कर लिया जाए। यद्यपि सामान्यतः और आमतौर पर सेवा सम्बन्धी विभिन्न नियमों में ऐसे उपबन्ध किए गए हैं जैसे नियम 12(2) में हैं किन्तु जैसाकि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, दिल्ली न्यायिक सेवा में प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों को परिवीक्षा पर रखते समय उस पद्धति का बहुत कठोरतापूर्वक पालन नहीं किया गया है। इसलिए प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों का अहित नहीं होना चाहिए। इसके बाद यह अनुरोध किया गया कि चयन की कोई प्रक्रिया नहीं अपनायी गयी है। यह उल्लेख किया जा

---

1 [1983] 3 एस० सी० आर० 601.

सकता है कि नियम 7 (क) में दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा में भर्ती करने का उपबन्ध किया गया है जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ दिल्ली न्यायिक सेवा के ऐसे सदस्यों में से चयन द्वारा प्रोन्नति भी है जिन्होंने दिल्ली न्यायिक सेवा में 10 वर्ष से अन्यून सेवा पूरी कर ली है। यहीं यह उल्लेख किया जा सकता है कि वस्तुतः व्यावहारिक रूप से समस्त नियुक्तियां दिल्ली न्यायिक सेवा से व्यक्तियों का चयन करके की गई हैं और यदा-कदा तुलनात्मक गुणागुण के मूल्यांकन के आधार पर अधिकारियों को आगे बढ़ाया गया है।

85. इस प्रश्न की बावत कि पिटीशनरों को नियमित आधार पर नियुक्त किया गया था या नहीं यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि नियुक्त किए गए समस्त व्यक्तियों को नियम 7(क) के अधीन तथाकथित अर्हता के अनुसार स्थायी रूप में नियुक्त किया गया था अर्थात् चयन द्वारा और न्यायिक सेवा में कम से कम 10 वर्ष की न्यूनतम सेवा पूर्ण करने पर नियुक्त किया गया था। चयन उच्च न्यायालय के पूर्ण प्राधिकार के अधीन किया गया था और नियुक्तियां गुणागुण एवं ज्येष्ठता के आधार पर इस प्रकार की गई थीं कि जिन व्यक्तियों को प्रोन्नति के लिए ठीक नहीं पाया गया उनकी उपेक्षा कर दी गयी थी जैसा कि श्री सी० डी० वशिष्ठ और एस० पी० सिंह चौधरी के मामले में किया गया।

86. प्रत्यर्थियों की ओर से इस न्यायालय के **एम० बी० विरायन चौधरी और अन्य** बनाम **आन्ध्र प्रदेश** राज्य और अन्य[1] और इसी न्यायालय के **एस० डी० गुप्ता** बनाम **भारत संघ** और अन्य[2] वाले मामले के विनिश्चय की ओर ध्यान आकर्षित किया गया था। जहां तक इन दोनों विनिश्चयों में अन्तर्वलित उपबन्धों का सम्बन्ध है वे वर्तमान मामले के नियमों से सर्वथा भिन्न हैं इसलिए, प्रत्यर्थियों को पूर्वोक्त दोनों विनिश्चयों से कोई सहायता नहीं मिल सकती।

87. जो अन्य तर्क पेश किया गया वह यह था कि कुछ अधिवक्ताओं ने भी सेवा में प्रवेश लिया था जिनमें से कुछ का व्यवसाय बहुत अच्छा था। हमें इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वह ऐसा रहा होगा और उन्हें सेवा में सम्मिलित होने के लिए बहुत त्याग करना पड़ा होगा और यदि अब ज्येष्ठता सूची में परिवर्तन किया जाता है तो उन्हें नुकसान उठाना पड़ सकता है। यह निवेदन किया गया कि यदि आवश्यक हो तो भविष्यलक्षी प्रभाव से ऐसा किया जाए। यदि ज्येष्ठता सूची का पुनर्गठन किया जाता है तो भूतलक्षी प्रभाव से ऐसा

---

1 1981 की सिविल अ० सं० 2030.

2 [1981] 1 उम० नि० प० 413=(1981) सप्ली० एस० सी० सी० 87.

किया जाना चाहिए जिससे कि अधिवक्ताओं में से भर्ती किए गए व्यक्तियों की स्थिति पर प्रभाव न पड़े जिनके मामले में उच्च न्यायालय के परामर्श से और इन पिटीशनों के फाइल किए जाने से पूर्व पुराने आधार पर ज्येष्ठता विद्यमान रही है ।

88. मामले के इस पहलू पर गहन विचार किया जाना चाहिए । विधिक-वृत्ति के सदस्य जो सेवा में सम्मिलित होते हैं उनकी न्यायोचित आकांक्षाओं को धूमिल करने में हिचक और अनिच्छा होनी चाहिए और उसके प्रति दुखद अनुभूति होनी चाहिए । न्यायिक नियुक्तियां किसी भी वकील के लिए किसी प्रकार की सफलता का आकर्षण केन्द्र नहीं रही है । वृत्तिक अनुभव वाले व्यक्तियों को न्यायिक सेवा में सम्मिलित होने के लिए उन्हें और अधिक हतोत्साह करने में संकोच होना चाहिए । इसलिए विधिक वृत्ति से प्रवेश लेने वाले व्यक्तियों की जिन्होंने पर्याप्त धन और हैसियत के लोभ का त्याग कर सेवा में प्रवेश लिया है, न्यायोचित प्रत्याशाओं में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए । किन्तु नियम तथा संविधान के उपबन्धों को भी प्रभावी किया जाना चाहिए । वर्तमान मामले में न्यायिक सेवा के सदस्य पिटीशनरों ने उच्च न्यायालय में 1977 में अभ्यावेदन किया था । सूची के पुनर्समायोजन से जो दो प्रवेश पाने वाले व्यक्ति प्रभावित होंगे वे है : श्री जी० एस० दाखा जिन्होंने 27 सितम्बर, 1978 को सेवा में प्रवेश लिया और कुमारी ऊषा 24 अप्रैल, 1980 को सेवा में परिवीक्षा पर प्रवेश लिया । उस बार तत्समय विद्यमान ज्येष्ठता को उच्च न्यायालय के समक्ष अभ्यावेदन के रूप में चुनौती दी गई थी । श्री जी० बी० गोयल 10 नवम्बर, 1980 को सेवा में सम्मिलित हुए थे और श्री बी० एस० चौधरी 10 नवम्बर, 1982 को सेवा में सम्मिलित हुए थे । जहां तक श्री दाखा का प्रश्न है अनुसूचित जाति का सदस्य होने के नाते अन्य आधारों पर उनकी स्थिति प्रभावित नहीं हो सकती । इस पहलू पर हम और अधिक नहीं कहना चाहते । जहां तक कुमारी मेहरा का सम्बन्ध है उन्हें अप्रैल, 1980 में परिवीक्षा पर नियुक्त किया गया था और वर्तमान पिटीशन लम्बित रहने के दौरान ही उन्हें पुष्ट कर दिया गया । कुमारी मेहरा अभी आयु में कम हैं और अभी उनकी पदावधि पर्याप्त है । आशा की जाती है कि वह ज्येष्ठता सम्बन्धी कोई अस्थायी या क्षणिक क्षति पूरी कर लेंगी और न्याय प्रशासन के लिए अपनी बहुमूल्य सेवा जारी रखेंगी । न्यायिक जीवन में बहुत सारी न्यायसंगत आकांक्षाएं जैसाकि अभी हाल के अनुभवों से उपदर्शित होता है, धूमिल हो जाती हैं ।

89. वर्तमान मामले में लागू होने वाले नियमों की पृष्ठभूमि में प्रोन्नत किए गए व्यक्तियों और सीधे भर्ती किए गए व्यक्तियों के अधिकारियों के

समायोजन में इससे पूर्व ऊपर उपदर्शित निर्वचन और इसमें इससे पूर्व वर्णित सिद्धान्त समुचित और औचित्यपूर्ण हैं। इस वात पर जोर दिया जाना चाहिए कि सरकार को दो भिन्न-भिन्न स्रोतों से तदर्थ रीति में नियुक्ति करने की पद्धति समाप्त कर देनी चाहिए। यदि दो भिन्न-भिन्न स्रोतों से नियुक्तियां की जानी हों तो प्राधिकारियों को चाहिए कि वे भर्ती की ऐसी योजना तैयार करें कि दो भिन्न-भिन्न स्रोतों से एक ही समय में भर्ती की जाए और एक स्रोत से आने वाले अधिकारियों से अधिष्ठायी रूप से और प्रभावी रूप से ऐसा कृत्य करने की अपेक्षा न की जाए जो दूसरे स्रोत से भर्ती किए गए व्यक्तियों से किया जाना अपेक्षित है और इस प्रकार उन्हें पीछे ढकेलने की संभावना का सामना न करना पड़े। इस बारे में और अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

90. आरंभिक आदेश को आत्यन्तिक बनाया जाता है। दिल्ली प्रशासन न्यायिक विभाग की ज्येष्ठता सूची को प्रत्यर्थी सं० 4 और 5 के प्रति विशेष निर्देश में इस निदेश के साथ अभिखण्ति किया जाता है कि प्रत्यर्थी सं० 1 से 3 दिल्ली न्यायिक सेवा की ज्येष्ठता सूची इस निर्णय में उपदर्शित सिद्धान्तों के आधार पर तैयार करेंगे। तथापि प्रत्यर्थी सं० 4 श्री जी० एस० दाखा के ज्येष्ठता के दावे पर इस आधार पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा कि वे अनुसूचित जाति अनुसूचित जनजाति के सदस्य हैं। इस निर्देश का दिल्ली उच्चतर न्यायिक सेवा के प्रोन्नत किए गए अधिकारियों की परस्पर ज्येष्ठता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। उनकी स्थिति इस न्यायालय के **जोगिन्द्र नाथ और अन्य**[1] वाले मामले में अधिकथित सिद्धान्तों से मार्गदर्शित होगी।

91. मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को देखते हुए पक्षकार अपने-अपने खर्चे स्वयं देंगे।

पिटीशन भागतः मंजूर किए गये।

द्वि०/क्रु०

---

[1] [1975] 1 उम० नि० प० 1428 = [1975] 2 एस० सी० आर० 55.

चन्द्रबंसी सिंह और अन्य
बनाम
बिहार राज्य और अन्य

जवाहर लाल मेहता और अन्य
बनाम
बिहार राज्य और अन्य

कपिल मुनि सिंह
बनाम
बिहार राज्य

सेदाभूशण कुमार सिंह और अन्य
बनाम
बिहार राज्य और अन्य

(22 अगस्त, 1984)

(न्यायाधिपति एस० मुर्तजा फजल अली, ए० वरदराजन
और सव्यसाची मुखर्जी)

भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 (1894 का 1)—धारा 48—अर्जन से प्रत्याहरण—निम्न और मध्यम आय वर्ग के व्यक्तियों के लिए गृह निर्माण करने और इसे उन्हें आवंटित करने हेतु राज्य द्वारा अनेक व्यक्तियों की भूमि अर्जित करने के लिए अधिसूचना जारी की जानी—अर्जन के 6 वर्ष पश्चात् किंतु वास्तविक कब्जा लेने के पूर्व किसी विष्टि कुटुम्ब की अर्जित भूमि का कतिपय भाग सरकार द्वारा निर्मुक्त करने का आदेश दिया जाना—विशिष्ट स्वामी की भूमि अर्जन से पृथक रखने के लिए विधिमान्य कारण न दिए जाने—निर्मुक्त का आदेश अनुच्छेद 14 का अतिक्रामक है किंतु इससे धारा 4 के अधीन जारी की गई अधिसूचना शून्य नहीं होगी क्योंकि इसे जारी करते समय कोई प्रभेदक कार्रवाई नहीं की गई थी और निर्मुक्त भूमि भी अर्जन का भाग होगी ।

भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 (1894 का 1) धारा 23—प्रश्नगत भूमि का कब्जा लेने में विलम्ब—निम्न और मध्यम आय वर्ग के व्यक्तियों के लिए गृह निर्माण हेतु भूमि अर्जित करने के लिए धारा 4 के अधीन अधिसूचना जारी करने के पश्चात कब्जा लेने में विलम्ब के कारण भूमि की कीमत में वृद्धि—भूस्वामी द्वारा वास्तविक कब्जा लेने के समय भूमि की विद्यमान कीमत के अनुसार प्रतिकर की मांग की जानी—जहां भूमि का कब्जा लेने में विलम्ब का कारण कलक्टर की त्रुटि नहीं है बल्कि भूस्वामी द्वारा सरकार के और न्यायालयों के समक्ष अर्जन से सम्बन्धित की गई चुनौतियां हैं और भूस्वामी के निरन्तर कब्जा के कारण उस पर उसका अधिकार बना रहता है वहां भूमि की वास्तविक कब्जा की तारीख से विद्यमान उसकी वास्तविक कीमत के अनुसार प्रतिकर नहीं दिया जा सकता और धारा 4 के अधीन अधिसूचना की तारीख को प्रचलित मूल्य ही सुसंगत है ।

प्रस्तुत मामला भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 के अधीन की गई कार्रवाई का ठोस उदाहरण है । बिहार सरकार द्वारा निम्न और मध्यम आय वर्ग के लोगों के लिए गृह निर्माण करने तथा उसे उन्हें आवंटित करने के लिए बहुत बड़ा भूभाग अर्जित किया गया था किंतु बिल्कुल अयुक्तियुक्त और भ्रामक आधारों पर कानूनी कार्यवाही करके कतिपय व्यक्तियों को अपवर्जित किया गया था । ऐसे अपवर्जित किए गए बहुत थोड़े व्यक्ति थे जिनकी भूमि कुल अर्जित भूमि का मामूली भाग है । अधिनियम की धारा 4 के अधीन बिहार सरकार द्वारा अधिसूचना जारी की गई थी जिसमें बिहार राज्य आवास बोर्ड द्वारा मकानों के निर्माण के लिए दीघा ग्राम में 1034.94 एकड़ भूमि अर्जित करने की ईप्सा की गई थी । उक्त अधिसूचना के आधार पर आक्षेपों की मांग की गई और 12 फरवरी, 1976 को सभी आक्षेपों का निपटारा कर दिया गया । अधिनियम की धारा 6 के अधीन घोषणा जारी की गई थी और दावे फाइल करने के लिए अधिनियम की धारा 7 के अधीन नोटिस जारी की गई थी । अधिनियम की धारा 9 के अधीन अधिसूचना जारी की गई । इसके विरुद्ध आक्षेप फाइल किए गये जो पर्याप्त थे । अर्जन सम्बन्धी कार्यवाहियों को वापस लेने के लिए संसद सदस्य द्वारा अभ्यावेदन किया गया था जिसे खारिज कर दिया गया । इसके पश्चात दर की संपूर्ण रिपोर्ट तैयार की गई जो कलक्टर द्वारा स्वीकार की गई थी और इस बारे में अन्तिम प्राकलन करने के पश्चात उसे राज्य सरकार को भेज दिया गया था । प्राकलन के अनुसार 8.30 करोड़ रुपये की राशि ऐसे अनेक स्वामियों को संवितरित की जानी थी जिनकी भूमि अर्जित करने की ईप्सा की गई थी । इसी बीच जबकि मामला पूरा ही होने वाला था

कि 1977 के साधारण निर्वाचन की तैयारी की गई जिसके परिणामस्वरूप संपूर्ण मामला आस्थगित कर दिया गया था। मई, 1980 में जो कि निर्णायक तारीख है कतिपय प्रभावशाली व्यक्तियों की भूमि का कुछ भाग निर्मुक्त किया गया था। जुलाई, 1977 में राजस्व और उद्योग मन्त्रालय द्वारा अर्जन की पुष्टि की गई थी। अन्ततः 12 दिसम्बर, 1977 को प्रश्नगत भूमि के अर्जन के लिए मार्ग सुगम करने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा नगर भूमि अधिकतम सीमा अधिनियम (अरबन लैंड सीलिंग ऐक्ट) के अधीन शुद्धतः कृषि भूमि अर्जन से अपवर्जित की गई थी। उसके पश्चात् 1978 में अर्जन के बारे में मुख्यमंत्री को अभ्यावेदन किया गया जिनके द्वारा मामले से सम्बन्धित कार्यवाहियां रोक दी गईं। इसी बीच उच्च न्यायालय में रिट पिटीशन फाइल किया गया जिसे पिटीशनरों द्वारा प्रत्याहृत किया गया और 1980 में सरकार द्वारा रोक प्रभावोन्मुक्त कर दी गई। मई, 1981 में मुख्यतया पांडे कुटुम्ब के पक्ष में भूमि निर्मुक्त करने को चुनौती देते हुए उच्च न्यायालय में एक अन्य पिटीशन फाइल किया गया कि भूमि का पांडे कुटुम्ब के पक्ष में निर्मुक्त किया जाना अनुच्छेद 14 के अतिक्रामक था और इसलिए संपूर्ण अधिसूचना दोषपूर्ण और बिना अधिकारिता थी। अपीलार्थियों, पिटीशनरों द्वारा क्रमशः अपीलें विशेष इजाजत पिटीशन और रिट पिटीशन पटना उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध फाइल किए गए। अपीलें, विशेष इजाजत के पिटीशन और रिट पिटीशनों को मंजूर करते हुए।

अभिनिर्धारित—जहां निम्न और मध्यम आय वर्ग के लोगों के लिए मकान बनाने और उसे उन्हें आवंटित करने हेतु भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 की धारा 4 के अधीन अधिसूचना जारी करके अनेक व्यक्तियों की विस्तृत भूमि अर्जित करने की ईप्सा की गई है किंतु इसके 6 वर्ष पश्चात् सरकार द्वारा किसी विशिष्ट कुटुम्ब की भूमि सरकार द्वारा पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाते हुए निर्मुक्त कर दी जाती है वहां निर्मुक्ति त्रुटिपूर्ण और नास्ति तथ्य होगी जिसके परिणामस्वरूप धारा 4 के अधीन जारी की गई संपूर्ण अधिसूचना अविधिमान्य समझी जायेगी और विशिष्ट कुटुम्ब के पक्ष में निर्मुक्त की गई भूमि अर्जन का भाग होगी। चूंकि निर्मुक्ति कलक्टर की पृथक और पश्चात्वर्ती कार्रवाई है इसलिए उससे संपूर्ण अधिसूचना अविधिमान्य नहीं हो जाती, परिणामस्वरूप मूल अधिसूचना अपनी स्थिति में पुनः स्थापित हो जायेगी। यदि विशिष्ट कुटुम्ब की भूमि धारा 4 के अधीन अधिसूचना के प्रारम्भ में ही अपवर्जित कर दी गई होती तो स्थिति बिल्कुल भिन्न होती। (पैरा 10 और 11)

कब्जा लेने में विलम्बकारित करने के लिए कलक्टर की त्रुटि नहीं थी क्योंकि इस विषय में न्यायालय में तथा सरकार के समक्ष कार्यवाही की गई थी

और कार्यवाहियां आस्थगित करनी पड़ी थीं जिसके परिणामस्वरूप कलक्टर को कब्जा लेने से या अपना अधिनिर्णय देने से निवारित किया गया था यद्यपि अन्य सभी कार्यवाहियां की गई थीं और चूंकि भू-स्वामियों का भूमि पर निरंतर कब्जा बना हुआ था और उनके द्वारा उस (भूमि के भोगाधिकार) का उपभोग किया गया था। इसलिए धारा 4 के अधीन अधिसूचना की तारीख और कब्जा लेने की तारीख के बीच विलम्ब के होते हुए वास्तविक कब्जा लेने की तारीख को भूमि के विद्यमान मूल्य के अनुसार प्रतिकर नहीं दिया जा सकता बल्कि धारा 4 के अधीन अधिसूचना की तारीख को प्रचलित मूल्य के अनुसार दिया जा सकता है। (पैरा 15)

प्रस्तुत मामले में धारा 4 के अधीन अधिसूचना जारी करने और कब्जा लेने के बीच लगभग 2 वर्ष का विलम्ब हुआ था। ऐसी स्थिति में जहां तक विलम्ब का संबंध था, भू-स्वामी साम्या के अधीन कतिपय अतिरिक्त प्रतिकर के लिए हकदार थे यद्यपि विधि के अधीन ऐसे प्रतिकर के लिए हकदार नहीं थे। इस लिए इस मामले के विभिन्न पहलुओं को विचार में लेते हुए भूमि के मूल्य पर 2 वर्ष के लिए $7\frac{1}{2}$ प्रतिशत प्रति वर्ष की दर पर संगणित ब्याज के रूप में साम्यापूर्ण प्रतिकर प्रदान किया जायेगा। यह उस प्रतिकर के अतिरिक्त होगा जो कलक्टर द्वारा अधिनिर्णीत किया जा सकता है। (पैरा 16)

प्रभेदित निर्णय

पैरा

[1976] [1976] 1 उम० नि० प० 655=[1976] 1 एस० सी० आर० 341 :
लीला राम और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य. 12

सिविल अपीली अधिकारिता : 1983 की सिविल अपील सं० 9973 से 9977.

1982 के सिविल रिट अधिकारिता मामला सं० 2170, 3435, 3879, 3436 और 3561 में पटना उच्च न्यायालय के तारीख 31 जनवरी, 1983 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर की गई अपीलें।

इसके साथ

1983 का विशेष इजाजत पिटीशन (सिविल) सं० 3098.

1982 के सिविल रिट अधिकारिता मामला सं० 3556 में पटना उच्च न्यायालय के तारीख 31 जनवरी, 1983 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपील।

और

1983 का विशेष इजाजत पिटीशन (सिविल) सं० 4428.

1982 के सिविल रिट अधिकारिता मामला सं० 2104 में पटना उच्च न्यायालय के तारीख 31 जनवरी, 1983 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई अपील।

तथा

1983 के रिट पिटीशन (सिविल) सं० 13306-21, 13346 और 1984 के 13229 तथा 1324-42.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन पिटीशन।

अपीलार्थियों की ओर से (सिविल अपील 9973/83 में)	सर्वश्री आर० पी० भट्ट और ए० के० श्रीवास्तव
अपीलार्थियों की ओर से (सविल अपील 9974/83 में)	सर्वश्री के० के० सेन और एम० पी० झा
अपीलार्थियों की ओर से (सिविल अपील 9975/83 में)	सर्वश्री डी० पी० सिंह और बी० बी० सिंह
अपीलार्थियों की ओर से	डाक्टर वाई० एस० चितले, सर्वश्री एल० आर० सिंह और गोपाल सिंह
पिटीशनर की ओर से (1983 के विशेष इजाजत पिटीशन सं० 4428 में)	सर्वश्री एस० एस० जौहर और एस० एन० मिश्र
प्रत्यर्थियों की ओर से (सिविल अपील 9972/83 में)	सर्वश्री एफ० एस० नरीमन, राम बालक महतो, महाधिवक्ता, बी० पी० सिंह और रंजीत कुमार
प्रत्यर्थियों की ओर से (रिट पिटीशन सं० 13306-21 और 13346 में)	सर्वश्री एल० एन० सिन्हा, के० पी० वर्मा, महाधिवक्ता, जया नारायण और आर० पी० सिंह
प्रत्यर्थियों की ओर से	सर्वश्री के० पी० वर्मा, महाधिवक्ता और आर० पी० सिंह

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति एस० मुर्तजा फजल अली ने दिया।

न्यायाधिपति फजल अली :

कभी-कभी ऐसे जनसाधारण के हित में कानून के अधीन एक व्यवहारिक और प्रगतिशील कार्रवाई करते हुए जो कि सही दिशा में निस्सन्देह एक कदम है, सरकार नागरिक या नागरिकों के किसी समूह के आंतरिक या वाह्य दवाव से हार मानी जाती है जिससे कि उनके प्रति ऐसा विशेष अनुग्रह दर्शित कर सके जो उस कार्रवाई की प्रकृति के मुख्य उद्देश्य को नष्ट कर देता है। ऐसा अनुक्रम जनसाधारण को नुकसान पहुंचा कर कुछ चुने हुये मित्रों की सहायता करने के लिए अपनाया जाता है और राज्य की अर्थपूर्ण कार्रवाई के उद्देश्यों को ही विफल कर देता है। इसके अतिरिक्त राज्य की कार्रवाई के कारण उसकी भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 के साथ प्रत्यक्ष विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

2. प्रस्तुत मामला हमें भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 (जिसे संक्षेप में अधिनियम कहा गया है) के अधीन की गई राज्य की ऐसी कार्रवाई का एक ठोस उदाहरण प्रतीत होता है। यहां जो कुछ हुआ वह यह है कि जब कि बिहार सरकार ने निम्न और मध्यम आय वर्ग के लोगों के लिए गृह निर्माण करने तथा उन्हें उन्हीं को आवंटित करने के लिए बहुत बड़ा भूभाग अर्जित किया किंतु कुछ व्यक्तियों को बिलकुल आयुक्तियुक्त और भ्रामक आधारों पर उस कानूनी कार्रवाई से अपवर्जित करने के लिए चुना। सौभाग्यवश चुने हुए वर्ग में बहुत थोड़े व्यक्ति थे जिनकी भूमि कुल अर्जित भूमि का मामूली भाग थी।

3. इस प्रकार अब हम इस मामले के महत्वपूर्ण तथ्यों पर विचार करने के लिए अग्रसर होते हैं। अधिनियम की धारा 4 के अधीन 19 अगस्त, 1974 को बिहार सरकार द्वारा एक अधिसूचना जारी की गई थी जिसमें बिहार राज्य आवास बोर्ड (बिहार स्टेट हाउसिंग बोर्ड) द्वारा मकानों के निर्माण के प्रयोजन के लिए दीघा ग्राम में 1034.94 एकड़ भूमि अर्जित करने की ईप्सा की गई थी जिसमें (अधिसूचना में) यह कहा गया था कि अर्जित भूमि के लिए कीमत या प्रतिकर आवास बोर्ड द्वारा संदाय की जानी थी न कि स्वयं राज्य द्वारा उसकी निधियों से। उक्त अधिसूचना के आधार पर आक्षेपों की मांग की गई थी और 12 फरवरी, 1976 को सभी आक्षेपों का निपटारा कर दिया गया था। अधिनियम की धारा 6 के अधीन एक घोषणा जारी की गई थी जो 20 फरवरी, 1976 को प्रकाशित हुई थी। विभाग द्वारा 25-3-1976 को वह प्रकाशन प्राप्त किया गया था और दावे फाइल करने के लिए अधिनियम की धारा 7 के अधीन नोटिस जारी किए गये थे। अधिनियम की धारा 9 के अधीन 14 अप्रैल, 1976 को अधिसूचना जारी की गई थी। 19 मई, 1976 को

लगभग 500 आक्षेप फाइल किये गये जो पर्याप्त थे। दुर्भाग्यवश उसके पश्चात् 8 नवम्बर, 1976 को राम अवतार शास्त्री, संसद सदस्य द्वारा अर्जन कार्यवाहियों को वापस लेने के लिए अभ्यावेदन किया गया था जिसका निपटारा किया गया था और दिसम्बर, 1976 में खारिज कर दिया गया था।

4. इसके पश्चात् दर से संबंधित रिपोर्ट तैयार की गई जिसे कलक्टर द्वारा स्वीकार किया गया था और उसने इस बारे में अपना अंतिम प्राक्कलन दिया था और उसे जनवरी, 1977 में राज्य सरकार को भेज दिया। प्राक्कलन के अनुसार 8.30 करोड़ रुपए की राशि ऐसे अनेक स्वामियों को संवितरित की जानी थी जिनकी भूमि अर्जित करने की ईप्सा की गई थी। जब कि मामला पूरा ही होने वाला था कि 1977 का साधारण निर्वाचन के लिए तैयारी की गई थी जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण मामला आस्थगित कर दिया गया और उसे दबा दिया गया। 24 मई, 1980 जो कि निर्णायक तारीख है क्योंकि यह प्रस्तुत मामले और रिट पिटीशनों की विषय-वस्तु प्रतीत होता है कतिपय प्रभावशाली व्यक्ति अर्थात बद्री शाहू, पी० एस० पांडे और उसके नातेदार (जिसे इसमें इसके पश्चात "पांडे कुटुम्ब" कहा गया है) की भूमि का कुछ भाग, जो 4.03 एकड़ है, निर्मुक्त किया गया था। यह स्पष्ट नहीं है कि वे कौन से कारण थे जिससे सरकार ने पांडे कुटुम्ब को अलग किया था। जुलाई 1977 में किसी समय राजस्व और उद्योग मंत्रालय ने अर्जन की पुष्टि की। अंतत 12 दिसम्बर, 1977 को प्रश्नगत भूमि के अर्जन के लिए मार्ग सुगम करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने नगर भूमि अधिकतम सीमा अधिनियम (अरबन लैंड सीलिंग ऐक्ट) के अधीन शुद्धतः कृषि भूमि को अर्जन से अपवर्जित कर दिया।

5. वर्ष 1978 में श्री ठाकुर प्रसाद द्वारा जिन्होंने साधारण निर्वाचन के पश्चात उद्योग के नये मंत्री के रूप में कार्य संभाला था अर्जन के बारे में मुख्य मंत्री को अभ्यावेदन किया था जिन्होंने मामले में आगे कार्यवाहियां रोक दीं। इसी बीच उच्च न्यायालय में एक रिट पिटीशन फाइल किया जिसे अंततः पिटीशनरों द्वारा वापस ले लिया गया था और किसी समय 1980 के प्रारम्भ में सरकार द्वारा रोक को प्रभावोन्मुक्त कर दिया गया था। मई, 1981 में मुख्यतः पांडे कुटुम्ब के पक्ष में 26 अप्रैल, 1977 को भूमि निर्मुक्त करने को चुनौती देते हुए उच्च न्यायालय में एक अन्य पिटीशन इस आधार पर फाइल किया गया था कि उक्त निर्मुक्ति अनुच्छेद 14 की अतिक्रामक थी और इसलिए संपूर्ण अधिसूचना दोषपूर्ण और अधिकारिता विहीन थी।

6. जनवरी, 1982 में राज्य आवासीय बोर्ड द्वारा प्रतिकर की रकम खजाने में जमा की गई जिसके पश्चात 1 फरवरी, 1983 को अर्जित भूमि के

बारे में अधिनिर्णय किया गया था। संपूर्ण तथ्यों और ऊपर उल्लिखित तारीखों से यह दर्शित होता है कि कलक्टर द्वारा प्रतिकर को अंतिम रूप देने में विलम्ब अकल्पित परिस्थितियों के कारण हुआ और इसलिए अपीलार्थी इस बारे में कोई शिकायत नहीं कर सकता किंतु जैसा कि उपदर्शित किया गया है यह विभिन्न अभ्यावेदनों पर सरकार द्वारा और उच्च न्यायालयों द्वारा पारित रोक आदेश के कारण हुआ था।

7. वस्तुतः यह दुर्भाग्य की बात है कि जब कि अच्छे प्रयोजन के लिए भूमि का अर्जन किया गया था और आवश्यक कदम उठाए गए थे तथापि अर्जन खटाई में पड़ गया जिसके कारण विवादग्रस्त पक्षकारों के बीच गम्भीर विवाद उत्पन्न हुए। अनेक दावे और आक्षेप प्रस्तुत किये जिसके परिणामस्वरूप उक्त आवास स्कीम में 5-6 वर्ष से अधिक का विलम्ब हुआ। वस्तुतः यदि सरकार क़ब्जा लेने के समय तक विवेकी और अधिक सतर्क होती तो राज्य आवास बोर्ड द्वारा मकानों के निर्माण का उद्देश्य बहुत पहले ही पूरा हो गया होता।

8. 1983 की अपील सं० 9973 में, जो विशेष इजाजत लेकर की गई थी, अपीलार्थियों के तर्क का अवलम्ब यह था कि संपूर्ण अर्जन कार्यवाहियां और भूमि कलक्टर द्वारा पारित भूमि अर्जित करने का आदेश नास्ति तथ्य हो गया क्योंकि इससे अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता था। यह दलील दी गई थी कि भूमि का कुछ भाग, अर्थात् 4.03 एकड़ निर्मुक्त करने के लिए सरकार का कोई औचित्य नहीं था। बहरहाल, मुख्य भूमि का मामूली भूभाग मात्र विशिष्ट व्यष्टियों के प्रति पक्षपात करने के लिए था, अर्थात् पांडे कुटुम्ब के प्रति जिसके बारे में यह अभिकथन किया गया है कि इसमें तत्कालीन सरकार पर अत्यधिक असर डाला था और यह कि ऐसा अधिसूचना के उद्देश्य के किसी युक्तियुक्त वर्गीकरण या संबंध के बिना व्यक्तियों के एकल निकाय की सहायता करने के लिए किया गया था। पांडे कुटुम्ब की भूमि को निर्मुक्त करने का समर्थन राज्य सरकार द्वारा इस आधार पर किया गया था कि चूंकि 4.03 एकड़ के अंतर्गत आने वाली संपूर्ण भूमि पर चहर दीवारी सहित विशाल भवन था इसलिए उस पर स्थित उक्त सन्निर्माण को गिराना सरकार के लिए बहुत कठिन होगा। इस तर्क को अस्वीकार करने के लिए यह दर्शित करने के लिए हमारे समक्ष अनधिक्षेपणीय सामग्री प्रस्तुत की गई थी कि पांडे कुटुम्ब की भूमि पर स्थित विशाल भवनों और मकानों का अभिवाक इस विशिष्ट भूमि के अर्जन को प्रत्याहृत करने के लिए कलक्टर को समर्थ बनाने के लिए पूर्णतः छल या मिथ्या कथन था। उन सामग्रियों की परीक्षा करने पर जिससे पांडे कुटुम्ब द्वारा इनकार नहीं किया गया है हमें यह प्रतीत होता है कि अपीलार्थियों की दलील

साधार है और उसे अवश्य अभिभावी होनी चाहिए। हमें पांडे कुटुम्ब की भूमि का फोटो चित्र दिखाया गया है जो पेपर बुक के पृष्ठ 120 पर प्रतीत होता है जिससे यह पता चलता है कि उस पर कोई विशाल भवन या मकान नहीं है बल्कि छोटी झोंपड़ियां हैं जो संभवतः क्षेत्रों की सिंचाई के लिए नलकूप रखने के लिए प्रयोग में लाई जाती हैं। प्रश्नगत भूखंड सं० 3114 है जो पांडे कुटुम्ब का है। पृष्ठ 121 पर एक अन्य फोटो चित्र है जिससे पांडे कुटुम्ब द्वारा धृत भूभाग पर छोटी झोंपड़ी दर्शित होती है। दूसरी ओर अर्जित की गई भूमि में और जिसे अर्जन से वापस नहीं लिया गया है, देव नारायण सिंह द्वारा धृत भू-भाग है जिस पर दो मंजिला सन्निर्माण स्थित है, वह भी मवेशी रखने के प्रयोजन या क्षेत्र की देख भाल के लिए चौकीदार रखने के प्रयोजन के लिए है। ऐसा होने पर भी यदि पांडे कुटुम्ब का अभिवाक स्वीकार किया गया था तो अपनी भूमि को भी निर्मुक्त कराने के लिए देव नारायण सिंह का दावा अधिक बेहतर था।

9. हमारे समक्ष न तो ऊपर निर्दिष्ट फोटो चित्र और न ही यह तथ्य कि कोई भी सन्निर्माण सिवाय फोटो चित्र में दर्शित सन्निर्माण, जिसे पांडे कुटुम्ब द्वारा निर्मित किया गया था विवादग्रस्त है। इसलिए 1983 की सिविल अपील सं० 9973 में अपीलार्थियों की ओर से विद्वान काउन्सेल द्वारा यह सही ही तर्क दिया गया था कि पांडे कुटुम्ब के पक्ष में भूमि का निर्मुक्त किया जाना पक्षपात का सीधा सादा कार्य था क्योंकि इसके लिए कोई विधिक और संवैधानिक अधिकारिता नहीं थी। राज्य भी न तो प्रश्नगत भूमि को निर्मुक्त करने का खण्डन करने और उसका समर्थन की स्थिति में नहीं था। हम यह भी उल्लेख कर सकते हैं कि यद्यपि नोटिस जारी किया गया था और पांडे कुटुम्ब पर उसकी तामील की गई थी तथापि वे अपने दावे का समर्थन करने के लिए इस न्यायालय में हाजिर नहीं हुए। इस प्रकार पक्षकारों के बीच कोई गम्भीर विवाद प्रतीत नहीं होता कि अधिनियम की धारा 48 के अधीन सरकार द्वारा पारित निर्मुक्ति का आदेश संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रामक होने के कारण नास्ति तथ्य था।

10. यह मामला यहां नहीं टिकता किन्तु अपीलार्थियों के विद्वान काउन्सेल ने भूमि के संपूर्ण अर्जन को असंवैधानिक घोषित करने के लिए भी इस न्यायालय के समक्ष निवेदन किया यद्यपि अनुच्छेद 14 की रिष्टि द्वारा इसके बहुत मामूली भाग को हानि हुई थी। यह निवेदन किया गया था कि संपूर्ण भू-भाग एक ही अधिसूचना द्वारा अर्जित किया गया था और एक बार यह प्रतीत हो जाने पर कि इसका अति सूक्ष्म भाग भी असंवैधानिक था तो संपूर्ण

अधिसूचना को अभिखंडित करना होगा। यदि भूमि अर्जन के समय पाण्डेय कुटुम्ब की भूमि लोकहित में कतिपय विशेष आधार पर छोड़ दी गई थी तो निस्सन्देह अपीलार्थियों का तर्क अकाट्य होगा। किन्तु इस मामले में, ऐसा हुआ प्रतीत नहीं होता, जैसा कि ऊपर उपदर्शित किया गया है। धारा 4 अधिसूचना 19 अगस्त, 1974 को जारी की गई थी, जबकि 24 मई, 1980 को निर्मुक्त की गई थी, अर्थात 6 मास पश्चात। इस प्रकार जो कुछ हुआ है वह मात्र यह कि वह इसके द्वारा निर्मुक्त किया जाना दोषपूर्ण और नास्ति तथ्य घोषित किया गया है जिसके परिणामस्वरूप 19 अगस्त, 1974 को धारा 4 के अधीन जारी की गई सम्पूर्ण अधिसूचना विधिमान्य समझी जायेगी और पांडे कुटुम्ब के लिये निर्मुक्त की गई भूमि अर्जन का भाग होगी जैसा कि यह 19 अगस्त, 1974 को की गयी है।

11. संभवत: अपीलार्थी संपूर्ण अधिसूचना को अभिखंडित करने के लिए इस न्यायालय को मानना चाहता था जिससे कि वे जब कोई नई अधिसूचना जारी की जाये तो उस अवधि, जब अर्जन किया गया था और जब वास्तविक कब्जा लिया गया था के बीच भूमि की और अन्य वस्तुओं की कीमत में अचानक तेजी और वृद्धि को देखते हुए उच्च प्रतिकर प्राप्त करने में समर्थ हो सकें। उन कारणों से जो हमने ऊपर दिये हैं, हम इस तर्क की प्रक्रिया को कायम रखने में असमर्थ हैं। चूंकि निर्मुक्ति कलक्टर की पृथक और पश्चात्‌वर्ती कार्य है इसलिए वह संपूर्ण अधिसूचना को अविधिमान्य नहीं कर सकता बल्कि मात्र निर्मुक्त किये गये भाग को ही अविधिमान्य कर सकता है, इसका परिणाम यह होगा कि मूल अधिसूचना उस स्थिति में बहाल हो जायेगी जैसा कि वह 19 अगस्त, 1974 को विद्यमान थी।

12. राज्य की ओर से विद्वान काउन्सेल द्वारा **लीलाराम इत्यादि बनाम भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलम्ब लिया गया था। यह मामला प्रस्तुत मामले से स्पष्टत: प्रभेदनीय है क्योंकि उस मामले में इस आधार पर तर्क दिया गया था कि चूंकि भूमि का बहुत बड़ा भाग सुरक्षित कर दिया गया था इसलिए भूमि अर्जित करने के लिए कोई लोकप्रयोजन नहीं था और इस प्रकार अर्जन दोषपूर्ण था। इस न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए न्यायाधिपति खन्ना ने इस दलील को अस्वीकार करते हुए निम्नलिखित मत व्यक्त किया—

> "यह बात अवश्य महत्वपूर्ण है कि अधिसूचना के अन्तर्गत भूमि का कोई छोटा प्लाट नहीं है बल्कि बहुत बड़ा क्षेत्रफल आता है जिसमें

---

[1] [1976] 1 उम० नि० प० 655=[1976] 1 एस० सी० आर० 341.

हजारों एकड़ भूमि सम्मिलित है। ऐसे मामलों में यह कठिन है कि लोक प्रयोजन को विनिर्दिष्ट करने में और अधिक सूक्ष्मता (प्रिसीजन) पर जोर दिया जाए क्योंकि यह सम्भव है कि अधिसूचना के अन्तर्गत आने वाले अनेक प्लाटों का अन्तरिम साधारण योजना में उपवर्णित भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के लिए उपयोग किया जाए। अपीलार्थी द्वारा सम्बन्धित प्राधिकारियों के समक्ष भी इस बारे में कोई आपत्ति नहीं उठाई गई थी कि अधिसूचना में वर्णित लोक प्रयोजन पर्याप्त रूप से विनिर्दिष्ट नहीं है और इस कारण प्रस्तावित अर्जन के विरुद्ध प्रभावी आक्षेप फाइल करने में वह समर्थ नहीं था।"

13. ऊपर उद्धृत मामला प्रस्तुत मामले के तथ्यों को लागू नहीं होता क्योंकि उच्च न्यायालय के समक्ष कभी भी इस बात पर तर्क नहीं किया गया था यह अर्जन बिना किसी लोक प्रयोजन के था। बहरहाल, दोनों पक्षकारों की ओर से यह दलील दी गई थी यदि धारा 4 अधिसूचना जारी करने के समय अर्जित की गई भूमि और पांडे कुटुम्ब की भूमि के बीच बिना किसी युक्तियुक्त वर्गीकरण के पक्षपातपूर्ण प्रभेद किया गया होता जिससे कि संपूर्ण अर्जन का अभिन्न भाग बनाया जा सके तब सम्पूर्ण अधिसूचना विखंडित की गई होती। हमें यहां यह पता चला है कि पांडे कुटुम्ब के पक्ष में भूमि आरंभिक अधिसूचना के तीन वर्ष पश्चात् निर्मुक्त की गई और इसलिए यह धारा 4 अधिसूचना को पूर्णतः अविधिमान्य नहीं कर सकती। यहां मात्र यही हुआ कि निर्मुक्त भाग नास्ति तथ्य समझा जाएगा और विधि की दृष्टि में धारा 4 अधिसूचना सम्पूर्ण अर्जित भूमि के लिए अधिसूचना समझी जाएगी जिसमें पांडे कुटुम्ब की भूमि भी सम्मिलित है।

14. पूर्वोक्त मुद्दों के आधार पर अपने विनिश्चय को देखते हुए इस प्रश्न पर सविस्तार वर्णन करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है।

15. अपीलार्थियों की ओर से काउन्सेल द्वारा उठाया गया अन्य प्रश्न यह था कि धारा 4-अधिसूचना की तारीख के और भूमि का कब्जा लेने की तारीख के बीच पर्याप्त विलंब हुआ था, और इस अवधि के दौरान भूमि की कीमत में अधिक वृद्धि हुई थी और इसलिए प्रतिकर कब्जा लेने की वास्तविक तारीख को विद्यमान भूमि के मूल्य के अनुसार संदत की जानी चाहिए। यह तर्क भी निम्नलिखित कारणों से सार रहित है—

(1) यह कि कब्जा लेने में विलंब कारित करने के लिए कलक्टर की कोई त्रुटि नहीं है क्योंकि इस विषय में न्यायालयों में और सरकार के

समक्ष कार्रवाई (पैरवी) की गई थी और उन कार्यवाहियों को रोकना पड़ा था जिसके परिणामस्वरूप कलक्टर को कब्जा लेने या अपना अधिनिर्णय देने से निवारित किया गया था यद्यपि अन्य सभी कार्यवाहियां की गई थीं।

(2) चूंकि उस भूमि पर इन भूस्वामियों का निरंतर कब्जा बना हुआ था इसलिए उन्होंने उसके भोगाधिकार का उपभोग किया था, विशिष्टतया उस भूमि पर अधिकतर आम की वाटिका थी और वे अवश्य उसे बाजार में बेचकर अधिक फायदे उठाते थे।

16. कब्जा लेने के लिए पक्षकारों और अन्य व्यक्तियों द्वारा की गई अनेक कार्रवाईयों का विश्लेषण करने पर निस्सन्देह लगभग डेढ़ वर्ष का विलम्ब हुआ है और संगणना के तथा सुविधा के प्रयोजन के लिए कुल मिलाकर इसे 2 वर्ष माना जा सकता है। जहां तक इस विलम्ब का सम्बन्ध है निस्सन्देह अपीलार्थियों का साम्य के रूप में कतिपय अतिरिक्त प्रतिकर के संदाय का मामला बनता है यद्यपि विधि के अधीन नहीं, और चूंकि यह न्यायालय न केवल न्यायालय है बल्कि साम्या न्यायालय (कोर्ट आफ इक्विटी) भी है इसलिए हमारे लिए अपीलार्थियों को इस अनुतोष से वंचित करना असम्भव होगा। मामले के विभिन्न अर्थभेदों और पहलुओं को विचार में लेने के पश्चात हमारी यह स्पष्ट राय है कि उस प्रतिकर के अतिरिक्त जो कलक्टर द्वारा अधिनिर्णीत की जा सकती है या न्यायाधीश या उच्चतर न्यायालय द्वारा उसमें वृद्धि की जा सकती है, अपीलार्थियों को प्रत्येक भूस्वामी द्वारा धृत भूमि के मूल्य पर दो वर्ष के लिए 7½ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से संगणित ब्याज के रूप में साम्यापूर्ण प्रतिकर मिलना चाहिए। यह साम्यापूर्ण प्रतिकर इस मामले के विशेष तथ्यों को देखते हुए प्रदान किया गया है और यह प्रतिकर की रकम पर अधिनियम के अधीन अपील की विषय वस्तु, यदि कोई है, नहीं होगी।

17. चूंकि इन अपीलों और रिट पिटीशनों में अन्तर्वलित मुद्दे एक जैसे हैं इसलिए हमने एक ही निर्णय द्वारा इनका निपटारा करने का विनिश्चय किया है।

18. ऊपर बताए गए कारणों से अपीलें विशेष इजाजत पिटीशनों और रिट पिटीशनों का तदनुसार निपटारा किया जाता है किन्तु खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं होगा।

अपीलें मंजूर की गईं।

प्र०/सरोहा

दीपक पाहवा और अन्य

बनाम

उप-राज्यपाल, दिल्ली और अन्य

(22 अगस्त , 1984)

(न्यायाधिपति ओ० चिन्नप्पा रेड्डी, ए० पी० सेन० और ई० एस० वेंकटरामय्या)

भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 (1894 का 1)—धारा 4, 5क और धारा 17—भूमि अर्जन का प्रयोजन—लोक प्रयोजन के लिए भूमि अर्जन की अधिसूचना का प्रकाशित किया जाना—तीस दिन के अंतराल पर लोक सूचना दी जानी—अधिसूचना और लोक सूचना के बीच अंतराल को चुनौती दी जानी—अधिसूचना के प्रकाशन और लोक सूचना के बीच कम से कम समय का अंतराल होना चाहिए जिससे कि कार्रवाई की निरन्तरता बनी रहे—किन्तु विलम्ब मात्र से अर्जन की अत्यावश्यकता शून्य नहीं हो जाती है।

वर्तमान मामले में दिल्ली एयरपोर्ट के लिए एक नए ट्रांसमीशन स्टेशन के सन्निर्माण के प्रयोजन के लिए बिजवासन ग्राम में कतिपय भूमि का अर्जन करने की बाबत 18-6-1984 को दिल्ली के असाधारण राजपत्र में भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 4 और 17 के अधीन एक संयुक्त अधिसूचना तथा धारा 6 के अधीन एक घोषणा प्रकाशित की गयी। यह अभिकथन किया गया कि धारा 4 के अधीन जारी की गयी अधिसूचना के सारांश की बाबत एक लोक सूचना 17-7-1984 को क्षेत्र में दी गयी थी। यह भी अभिकथन किया गया कि इस मामले पर सरकार के विभिन्न विभागों के बीच अधिसूचना के और घोषणा के राजपत्र में प्रकाशित किए जाने से लगभग 8 वर्ष पूर्व से पत्र-व्यवहार चल रहा था। अधिसूचना और घोषणा को दो आधारों पर आक्षेपित करते हुए दिल्ली उच्च न्यायालय में एक रिट पिटीशन फाइल किया गया इनमें से प्रथम यह था कि धारा 4 के अधीन राजपत्र में अधिसूचना प्रकाशित किए जाने के पश्चात् उस क्षेत्र में लोक सूचना के सारांश की बाबत 29 दिन का विलम्ब स्वयं अधिसूचना के लिए घातक है। दूसरा आधार यह था कि इस

परिस्थिति से कि 8 वर्ष का समय विभिन्न विभागों के बीच विचार-विमर्श में बीत गया यह दर्शित होता है कि ऐसी कोई आवश्यकता नहीं थी कि धारा 5(क) के अधीन चल रही जांच को निपटाने के लिए भूमि-अर्जन अधिनियम की धारा 17(4) का आश्रय लेने की आवश्यकता पड़ती। उच्च न्यायालय ने आरम्भ में ही रिट पिटीशन खारिज कर दिया। उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध विशेष इजाज़त लेकर की गयी अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 की धारा 4(1) में यह विहित नहीं है कि अधिसूचना के सारांश की लोक सूचना उस परिक्षेत्र में राजपत्र में अधिसूचना के प्रकाशन के साथ-साथ या तुरन्त बाद दी जानी चाहिए। राजपत्र में अधिसूचना का प्रकाशन और क्षेत्र में लोक सूचना देना दो महत्वपूर्ण कदम हैं जो भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 की धारा 4(2) के अधीन भूमि पर प्रवेश करने हेतु कदम उठाने से पूर्व धारा 4(1) के अधीन अपेक्षित हैं। धारा 4(1) में समय का तथ्य महत्वपूर्ण तत्व नहीं है और इसलिए धारा 4(1) के "साथ-साथ या उसके तुरन्त पश्चात्" शब्दों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। राजपत्र में प्रकाशन और क्षेत्र में लोक सूचना धारा 4(1) के आवश्यक तत्व हैं और वे प्रकाशन या लोक सूचना दोनों साथ-साथ या तात्कालिकता से जुड़े नहीं हैं। किन्तु चूंकि धारा 4(2) द्वारा अनुध्यात कदम तब तक नहीं उठाए जा सकते जब तक कि प्रकाशन न कर दिया जाए और धारा 4(1) में यथा अनुध्यात लोक सूचना न दे दी जाए। इसलिए यह विवक्षित है कि प्रकाशन और लोक सूचना का दिया जाना यद्यपि साथ-साथ या एक दूसरे के तत्काल पश्चात् नहीं है फिर भी उन्हें समकालीन होना चाहिए। यह स्वाभाविक है कि समकालीनता में समय का कुछ अन्तराल पड़ सकता है और जैसाकि वस्तुस्थिति में स्वाभाविक है। राजपत्र में प्रकाशन और उस क्षेत्र में लोक सूचना को समय के अन्तराल द्वारा निश्चित रूप से पृथक किया जा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकाशन और लोक सूचना को समय के लम्बे अन्तराल द्वारा अलग कर दिया जाए। आवश्यक यह है कि ऐसा नहीं प्रतीत होना चाहिए कि लम्बे अन्तराल द्वारा कारंवाई की निरंतरता को भंग किया गया है। यदि अधिसूचना और लोक सूचना को समय के लम्बे अंतराल से पृथक किया जाता है तो इस बात का पता लगाने के लिए जांच करना आवश्यक होगा कि विलम्ब के लिए क्या कारण था और क्या विलम्ब से किसी पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। (पैरा 3)

उपरोक्त अधिनियम की धारा 5-क में विहित 30 दिन की अवधि को एक ढंग तक ही सीमित रहने के लिए कोई कारण नहीं है। 30 दिन की अवधि या तो राजपत्र में प्रकाशन की तारीख से या अधिसूचना के सारांश की क्षेत्र में लोक सूचना की तारीख से, इनमें से जो भी पश्चातवर्ती हो गिनी जाएगी। धारा 5-क के अर्थान्वयन का यही एकमात्र युक्तियुक्त और व्यावहारिक तरीका है जिससे कि उस उपबंध के उद्देश्य को आगे बढ़ाया जा सके जो अर्जन का विरोध करने के लिए हितबद्ध व्यक्तियों को युक्तियुक्त अवसर प्रदान करने के लिए बनाया गया है। धारा 5-क न तो राजपत्र में प्रकाशन की तारीख के प्रति निर्देश करती है और न ही क्षेत्र में अधिसूचना के सारांश की लोक सूचना की तारीख के प्रति यह अधिसूचना जारी किए जाने की बात कहती है। (पैरा 4)

अनुसरित निर्णय

पैरा

[1971] ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 1033 :
जागेराम बनाम हरियाणा राज्य. 7

अनुमोदित निर्णय

[1983] ए० आई० आर० 1983 ए० पी० 142 :
संजीवैया नगर दलित और पिछड़ा वर्ग संघ बनाम जिला कलक्टर, हैदराबाद; 1

[1975] ए० आई० आर० 1975 ए० पी० 269 :
काशी रेड्डी पापैया बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य. 7

अननुमोदित निर्णय

[1983] ए० आई० आर० 1983 आ० प्र० 17 :
सी० सूर्यनारायण रेड्डी बनाम आन्ध्र प्रदेश सरकार 7

[1982] ए० आई० आर० 1982 ए० ओ० सी० 270 (ए० पी०)
मोहम्मद ख्वाजा बनाम आंध्र प्रदेश राज्य 7

[1982] ए० आई० आर० 1982 पंजाब = हरियाणा 276 :
सतीश कपूर बनाम हरियाणा राज्य; 1

[1976] ए० आई० आर० 1976 पंजाब=हरियाणा 279 (एफ० बी०) :
रतन सिंह बनाम **राज्य.** 1

निर्दिष्ट निर्णय

[1977] ए० आई० आर० 1977 दिल्ली 209 :
ए० के० गुप्ता बनाम **भारत संघ** 1

[1973] ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 2361:
मैसूर राज्य बनाम **अब्दुल रजक** 1,6

प्रभेदित निर्णय

[1967] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1704 :
खूब चंद बनाम **राजस्थान राज्य**; 1,5

[1973] [1973] 1 उम० नि० प० 477=ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 552 :
नरेन्द्र सिंह बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य.** 4

सिविल अपीली अधिकारिता : 1984 का विशेष इजाज़त पिटीशन (सिविल) सं० 9013-9014.

(1984 की सिविल रिट संख्या 1890 और 1891 में दिल्ली उच्च न्यायालय के 30 अगस्त, 1984 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गयी अपील फाइल करने के लिए विशेष इजाजत पिटीशन)।

पिटीशनरों की ओर से डा० एल० एम० सिंघवी और श्रीमती भारती आनन्द

प्रत्यर्थियों की ओर से ......

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति ओ० चिन्नप्पा रेड्डी ने दिया।

न्यायाधिपति चिन्नप्पा रेड्डी—

हम दोनों विशेष इजाज़त पिटीशनों को खारिज करते हैं। किन्तु हम ऐसा करने के लिए अपने कारण देना चाहते हैं, जोकि हम आमतौर पर नहीं करते, चूंकि हमारा ध्यान उच्च न्यायालयों के कुछ निर्णयों की ओर आकर्षित किया गया

है जिनके बारे में हम समझते हैं कि वे गलत तरीके से विनिश्चित किए गए हैं। ऐसा उन्होंने इस न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए कुछ मतों के बारे में गलतफहमी के कारण किया। दिल्ली विमानपत्तन (एयरपोर्ट) के लिये एक नए ट्रांसमीशन स्टेशन के सन्निर्माण के प्रयोजन के लिये बिजवासन ग्राम में कतिपय भूमि का अर्जन करने की बाबत 18-6-1984 को दिल्ली के असाधारण राजपत्र में भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 4 और 17 के अधीन एक संयुक्त अधिसूचना तथा धारा 6 के अधीन एक घोषणा प्रकाशित की गयी। यह अभिकथन किया गया कि धारा 4 के अधीन जारी की गयी अधिसूचना के सारांश की एक लोक सूचना 17-7-1984 को परिक्षेत्र में दी गयी थी। यह भी अभिकथन किया गया कि इस मामले पर सरकार के विभिन्न विभागों के बीच अधिसूचना और घोषणा के राजपत्र में प्रकाशित किये जाने से लगभग 8 वर्ष पूर्व से पत्र-व्यवहार चल रहा था। अधिसूचना और घोषणा को दो आधारों पर आक्षेपित करते हुए दिल्ली उच्च न्यायालय में एक रिट पिटीशन फाइल किया गया इनमें से प्रथम यह था कि धारा 4 के अधीन राजपत्र में अधिसूचना प्रकाशित किए जाने के पश्चात उस परिक्षेत्र में लोक सूचना के सारांश की बाबत 29 दिन का विलम्ब स्वयं अधिसूचना के लिए घातक है। दूसरा आधार यह था कि यह परिस्थिति कि 8 वर्ष का समय विभिन्न विभागों के बीच विचार-विमर्श में बीत गया यह दर्शाती है कि ऐसी कोई आवश्यकता नहीं थी कि धारा 5 (क) के अधीन चल रही जांच को निपटाने के लिये भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 17(4) का आश्रय लिया जाता। उच्च न्यायालय ने आरम्भ में ही रिट पिटीशन खारिजी कर दिया और विशेष इजाजत लेकर किये गए वर्तमान रिट पिटीशन उस खारिजी के विरुद्ध किए गए हैं। वे दो प्रश्न जो उच्च न्यायालय के समक्ष रखे गये थे हमारे समक्ष भी उठाये गये और पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल डा० एल० एम० सिंघवी द्वारा **नरेन्द्र सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] **रतन सिंह** बनाम **राज्य,**[2] **एस० के० गुप्ता** बनाम **भारत संघ**[3] **सतीश कपूर** बनाम **हरियाणा राज्य**[4] और **सी० सूर्यनारायण** बनाम **आन्ध्र प्रदेश सरकार**[5] वाले मामलों का आश्रय लिया गया। इसके अतिरिक्त हमने भी **खूब चन्द** बनाम **राजस्थान राज्य**[6], **मैसूर राज्य** बनाम **अब्दुल रजक**[7], **मोहम्मद**

---

[1] [1973] 1 उम० नि० प० 477=ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 552.

[2] ए० आई० आर० 1976 पंजाब-हरियाणा 279 (एफ० बी०).

[3] ए० आई० आर० 1977 दिल्ली 209.

[4] ए० आई० आर० 1982 पंजाब—हरियाणा 276.

[5] आई० आर० 1983 ए० पी० 17.

[6] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1704=1967 (1) एस० सी० आर० 120.

[7] ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 2361.

ख्वाजा बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य[1] और संजीवैया नगर दलित और पिछड़ा वर्ग संघ बनाम जिला कलक्टर हैदराबाद[2] वाले मामलों का अवलम्ब लिया गया।

2. भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 4 इस प्रकार है—

"4. (क) जब कभी समुचित सरकार को यह प्रतीत होता है कि किसी परिक्षेत्र में की भूमि की किसी लोक प्रयोजन के लिये आवश्यकता है या नहीं संभाव्य है तब उस भाव वाली एक अधिसूचना शासकीय राजपत्र में प्रकाशित की जाएगी और कलक्टर ऐसी अधिसूचना के सारांश की लोक सूचना उक्त परिक्षेत्र में के सुविधापूर्ण स्थानों पर दिलवायेगा।

(2) तदुपरि—

ऐसे परिक्षेत्र में की किसी भूमि में प्रवेश करना, उसका सर्वेक्षण करना और उसका तलमापन करना,

अवमृदा के भीतर खोदना या वेधन करना,

यह अभिनिश्चित करने के लिये कि क्या वह भूमि ऐसे प्रयोजन के अनुकूल है, आवश्यक अन्य समस्त कार्यों को करना,

उस भूमि की, जिसे लेने की प्रस्थापना की गई है सीमाएं और यदि वहां कोई संकर्म बनाए जाने की प्रस्थापना है तो उस प्रस्थापित संकर्म की आशयित रेखा लगाना, ऐसे भूतल, ऐसी सीमाएं और रेखा चिन्ह लगाकर और खाइयां खोदकर चिन्हित करना, तथा

जहां कि अन्यथा सर्वेक्षण पूरा नहीं किया जा सकता और सीमाएं और रेखा चिन्हित नहीं की जा सकती वहां किसी खड़ी फसल, बाड़ या जंगल के किसी भाग को काटना और भूमि को साफ करना,

ऐसी सरकार द्वारा साधारण रूप से या विशेष रूप से तन्निमित्त प्राधिकृत किसी अफसर के लिए और उसके सेवकों और कर्मकारों के लिए विधिपूर्ण होगा :

---

[1] ए० आई० आर० 1982 एन० ओ० सी० 270 (ए० पी०).

[2] ए० आई० आर० 1983 ए० पी० 142.

परन्तु कोई भी व्यक्ति ऐसा करने के अपने आशय की कम से कम सात दिन की लिखित सूचना अधिभोगी को पहले ही दिए बिना किसी निर्माण के भीतर या निवासगृह से संलग्न किसी घिरे आंगन या बाग में प्रवेश तब के सिवाय नहीं करेगा जबकि उसके अधिभोगी की ऐसा करने के लिए अनुज्ञा हो।"

3. इस बात का उल्लेख तत्काल किया जा सकता है कि धारा 4(1) में यह नहीं विहित किया गया है कि अधिसूचना के राजपत्र में प्रकाशित होने के साथ ही साथ या उसके तुरन्त पश्चात् उस परिक्षेत्र में अधिसूचना के सारांश की लोक सूचना दी जानी चाहिए। राजपत्र में अधिसूचना का प्रकाशन और परिक्षेत्र में लोक सूचना देना दो महत्वपूर्ण कदम हैं जिनके उठाये जाने की अपेक्षा धारा 4 के अधीन उस भूमि पर प्रवेश करने हेतु अगला कदम उठाने के लिए धारा 4(2) के अधीन कार्यवाही करने से पूर्व धारा 4(1) के अधीन अपेक्षित है। धारा 4(1) में समय का तथ्य महत्वपूर्ण तत्व नहीं है और इसलिए धारा 4(1) के साथ "साथ-साथ या उसके तुरन्त पश्चात्" शब्दों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। राजपत्र में प्रकाशन और परिक्षेत्र में लोक सूचना धारा 4(1) के आवश्यक तत्व हैं और वे प्रकाशन या लोक सूचना दोनों साथ-साथ या तात्कालिकता से जुड़े नहीं हैं। किन्तु चूंकि धारा 4(2) द्वारा अनुध्यात कदम तब तक नहीं उठाए जा सकते जब तक कि प्रकाशन न कर दिया जाए और धारा 4(1) में यथा अनुध्यात लोक सूचना न दे दी जाए इसलिए, यह विवक्षित है कि प्रकाशन और लोक सूचना का दिया जाना यद्यपि साथ-साथ या एक दूसरे के तत्काल पश्चात् नहीं है फिर भी उन्हें समकालीन होना चाहिए। यह स्वाभाविक है कि समकालीनता में समय का कुछ अन्तराल पड़ सकता है और जैसा कि वस्तुस्थिति में स्वाभाविक है राजपत्र में प्रकाशन और उस परिक्षेत्र में लोक सूचना को समय के अन्तराल द्वारा निश्चित रूप से पृथक किया जा सकता है। इसका यह अर्थ यह नहीं है कि प्रकाशन को और लोक सूचना को समय के लम्बे अंतराल द्वारा अलग कर दिया जाए। आवश्यक यह है कि ऐसा नहीं प्रतीत होना चाहिए कि लम्बे अन्तराल द्वारा कार्यवाही की निरन्तरता को भंग किया गया है। यदि राजपत्र में प्रकाशन कर दिया जाता है और परिक्षेत्र में लोक सूचना भी दे दी जाती है तो यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि धारा 4(1) की अपेक्षा पूरी हो गयी है जब तक कि ये दोनों बातें इतने लम्बे समय के अन्तराल से पृथक न कर दी जाएं जिससे कि प्रथमदृष्ट्या कोई इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि अर्जन की कार्यवाही में सद्भावना की कमी है। यदि अधिसूचना

और लोक सूचना को समय के लम्बे अन्तराल से पृथक कर दिया जाता है तो इस बात का पता लगाने के लिए जांच करना आवश्यक होगा कि विलम्ब का क्या कारण था और क्या विलम्ब से किसी पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है ।

4. हम यहां उस तर्क पर विचार कर सकते हैं जो राजपत्र में प्रकाशन और परिक्षेत्र में लोक सूचना के बीच अन्तराल के विरुद्ध आमतौर से दिया जाता है । धारा 5(क) में यह उपबन्ध किया गया है किसी भूमि में हितबद्ध कोई व्यक्ति जिसे धारा 4(1) के अधीन अधिसूचित किया गया है उस भूमि या उस परिक्षेत्र के किसी भूमि की अधिसूचना जारी किए जाने की तारीख से 30 दिन के भीतर आक्षेप कर सकता है । इसलिए यह सुझाव दिया गया कि यदि राजपत्र में अधिसूचना के प्रकाशन के तत्काल पश्चात् परिक्षेत्र में लोक सूचना नहीं दे दी जाती तो यह समझा जाएगा कि उससे हितबद्ध व्यक्ति के लिए अर्जन के विरुद्ध आक्षेप के अवसर से इन्कार कर दिया गया । हम यह समझते हैं कि यह धारा 5(क) का अत्यन्त संकीर्ण निर्वचन है । हितबद्ध व्यक्तियों के लिए भूमि के अर्जन की सूचना से इस आशय की अधिसूचना प्रकाशित करके दो तरह से दी जाती है—प्रथमत: अधिसूचना के सारांश को उस परिक्षेत्र के किसी सुविधाजनक स्थान पर प्रकाशित करके। धारा 5-क में विहित 30 दिन की अवधि को एक ढंग तक ही सीमित रहने के लिए कोई कारण नहीं है । 30 दिन की अवधि या तो राजपत्र में प्रकाशन की तारीख से या परिक्षेत्र में अधिसूचना के सारांश की लोक सूचना की तारीख से, इनमें से जो भी पश्चातवर्ती हो, गिनी जाएगी । हमारे दृष्टिकोण में, धारा 5-क के अर्थान्वयन का यही एकमात्र युक्तियुक्त और व्यावहारिक तरीका है जिससे कि उस उपबन्ध के उद्देश्य को आगे बढ़ाया जा सके जो अर्जन का विरोध करने के लिए हितबद्ध व्यक्तियों को युक्तियुक्त अवसर प्रदान करने के लिए बनाया गया है । विशेष रूप से हम यह देखते हैं कि धारा 5-क न तो राजपत्र में प्रकाशन की तारीख के प्रतिनिर्देश करती है और न ही परिक्षेत्र में अधिसूचना के सारांश की लोक सूचना की तारीख के प्रति निर्देश करती है । इसमें केवल अधिसूचना जारी करने की बात कही गयी है इसे हम महत्वपूर्ण समझते हैं और इस संदर्भ में 'अधिसूचना जारी करना" शब्द से इस बात का संकेत मिलता है कि विहित प्रक्रियाओं को पूरा कर लिया गया है अर्थात् धारा 4(1) में विहित रीति में प्रस्थापित अर्जन की बावत हितबद्ध लोगों को दोनों प्रक्रियाओं के माध्यम से सूचित कर दिया गया है अर्थात् राजपत्र में प्रकाशन द्वारा और परिक्षेत्र में लोक सूचना देकर ।

5. **खूब चन्द और अन्य** बनाम **राजस्थान राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने (मुख्य न्यायाधिपति सुब्बाराव और न्यायाधिपति शैल्ट) इस दलील को नामंजूर कर दिया था कि धारा 4(1) के अधीन लोक सूचना आज्ञापक थी और यह अभिनिर्धारित किया था कि राजपत्र में और परिक्षेत्र में लोक सूचना दोनों के ही प्रकाशन भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 4(2) की आगे की कार्यवाही के लिए पूर्व अध्यपेक्षाएं हैं। **नरेन्द्रजीत सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[2] वाले मामले में क्षेत्र में सुविधाजनक स्थान पर अधिसूचना के सारांश की लोक सूचना देने में विफल रहने के प्रभाव की बाबत उठाया गया था। इसमें खूब चंद वाले मामले में अपनाए गए दृष्टिकोण को पुष्ट किया गया और आगे यह उल्लेख किया गया कि धारा 17(4) के अधीन अधिसूचना जारी करके धारा 5(1) द्वारा अनुध्यात जांच की समाप्ति से धारा 4(1) की दोनों अपेक्षाओं के कठोर अनुपालन की आवश्यकता में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, उसमें कहा गया था—

> "हमारे निर्णय में धारा 4(1) के उपबंध एक परिस्थिति में आज्ञापक और दूसरी परिस्थितियों में निदेषात्मक अभिनिर्धारित नहीं किए जा सकते। धारा 4(1) उन कार्यवाहियों के, जिनमें धारा 17(4) के अधीन शक्ति का प्रयोग करते हुए समुचित सरकार यह निदेश करती है कि धारा 5(क) के उपबंध लागू नहीं होंगे और उन कार्यवाहियों के बीच जहां कि ऐसे निदेश धारा 5(क) के लागू होने को अभिमुक्त करने के बारे में नहीं दिए गए हैं, कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसमें असंदिग्ध एवं स्पष्ट शब्दों में अधिकथित है कि दोनों बातों को धारा 4(1) के अधीन साथ-साथ करना होगा, अर्थात् राजपत्र में यह अधिसूचना कि भूमि किसी लोक प्रयोजन के लिए आवश्यक रूप में संभाव्य है, प्रकाशित की जानी चाहिए तथा जिलाधीश को उस परिक्षेत्र में के उन सुविधापूर्ण स्थानों को ऐसी अधिसूचना के सारांश को देने वाली सूचना को दिलवाना है जहां कि वह भूमि स्थित है। धारा 4 की यह स्कीम है कि जब उपधारा (1) के अधीन अनुध्यात कदम उठाए जा चुके हैं, तो सरकार द्वारा प्राधिकृत अधिकारी उपधारा (2) में उपवर्णित कृत्यों को कर सकता है।"

(रेखांकन किया गया)

---

[1] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1704.

[2] [1973] 1 उम० नि० प० 47=ए० आई० आर० 1978, एस० सी० 552.

समक्ष कार्रवाई (पैरवी) की गई थी और उन कार्यवाहियों को रोकना पड़ा था जिसके परिणामस्वरूप कलक्टर को कब्जा लेने या अपना अधिनिर्णय देने से निवारित किया गया था यद्यपि अन्य सभी कार्यवाहियां की गई थीं।

(2) चूंकि उस भूमि पर इन भूस्वामियों का निरंतर कब्जा बना हुआ था इसलिए उन्होंने उसके भोगाधिकार का उपभोग किया था, विशिष्टतया उस भूमि पर अधिकतर आम की वाटिका थी और वे अवश्य उसे बाजार में बेचकर अधिक फायदे उठाते थे।

16. कब्जा लेने के लिए पक्षकारों और अन्य व्यक्तियों द्वारा की गई अनेक कार्रवाईयों का विश्लेषण करने पर निस्सन्देह लगभग डेढ़ वर्ष का विलम्ब हुआ है और संगणना के तथा सुविधा के प्रयोजन के लिए कुल मिलाकर इसे 2 वर्ष माना जा सकता है। जहां तक इस विलम्ब का सम्बन्ध है निस्सन्देह अपीलार्थियों का साम्य के रूप में कतिपय अतिरिक्त प्रतिकर के संदाय का मामला बनता है यद्यपि विधि के अधीन नहीं, और चूंकि यह न्यायालय न केवल न्यायालय है बल्कि साम्या न्यायालय (कोर्ट आफ इक्विटी) भी है इसलिए हमारे लिए अपीलार्थियों को इस अनुतोष से वंचित करना असम्भव होगा। मामले के विभिन्न अर्थभेदों और पहलुओं को विचार में लेने के पश्चात हमारी यह स्पष्ट राय है कि उस प्रतिकर के अतिरिक्त जो कलक्टर द्वारा अधिनिर्णीत की जा सकती है या न्यायाधीश या उच्चतर न्यायालय द्वारा उसमें वृद्धि की जा सकती है, अपीलार्थियों को प्रत्येक भूस्वामी द्वारा धृत भूमि के मूल्य पर दो वर्ष के लिए $7\frac{1}{2}$ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से संगणित ब्याज के रूप में साम्यापूर्ण प्रतिकर मिलना चाहिए। यह साम्यापूर्ण प्रतिकर इस मामले के विशेष तथ्यों को देखते हुए प्रदान किया गया है और यह प्रतिकर की रकम पर अधिनियम के अधीन अपील की विषय वस्तु, यदि कोई है, नहीं होगी।

17. चूंकि इन अपीलों और रिट पिटीशनों में अन्तर्वलित मुद्दे एक जैसे हैं इसलिए हमने एक ही निर्णय द्वारा इनका निपटारा करने का विनिश्चय किया है।

18. ऊपर बताए गए कारणों से अपीलें विशेष इजाजत पिटीशनों और रिट पिटीशनों का तदनुसार निपटारा किया जाता है किन्तु खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं होगा।

अपीलें मंजूर की गईं।

प्र०/सरोहा

---

5. **खूब चन्द और अन्य** बनाम **राजस्थान राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने (मुख्य न्यायाधिपति सुब्बाराव और न्यायाधिपति शैल्ट) इस दलील को नामंजूर कर दिया था कि धारा 4(1) के अधीन लोक सूचना आज्ञापक थी और यह अभिनिर्धारित किया था कि राजपत्र में और परिक्षेत्र में लोक सूचना दोनों के ही प्रकाशन भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 4(2) की आगे की कार्यवाही के लिए पूर्व अध्यपेक्षाएं हैं। **नरेन्द्रजीत सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[2] वाले मामले में क्षेत्र में सुविधाजनक स्थान पर अधिसूचना के सारांश की लोक सूचना देने में विफल रहने के प्रभाव की बाबत उठाया गया था। इसमें खूब चंद वाले मामले में अपनाए गए दृष्टिकोण को पुष्ट किया गया और आगे यह उल्लेख किया गया कि धारा 17(4) के अधीन अधिसूचना जारी करके धारा 5(1) द्वारा अनुध्यात जांच की समाप्ति से धारा 4(1) की दोनों अपेक्षाओं के कठोर अनुपालन की आवश्यकता में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, उसमें कहा गया था —

> "हमारे निर्णय में धारा 4(1) के उपबंध एक परिस्थिति में आज्ञापक और दूसरी परिस्थितियों में निदेशात्मक अभिनिर्धारित नहीं किए जा सकते। धारा 4(1) उन कार्यवाहियों के, जिनमें धारा 17(4) के अधीन शक्ति का प्रयोग करते हुए समुचित सरकार यह निदेश करती है कि धारा 5(क) के उपबंध लागू नहीं होंगे और उन कार्यवाहियों के बीच जहां कि ऐसे निदेश धारा 5(क) के लागू होने को अभिमुक्त करने के बारे में नहीं दिए गए हैं, कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसमें असंदिग्ध एवं स्पष्ट शब्दों में अधिकथित है कि दोनों बातों को धारा 4(1) के अधीन साथ-साथ करना होगा, अर्थात् राजपत्र में यह अधिसूचना कि भूमि किसी लोक प्रयोजन के लिए आवश्यक रूप में संभाव्य है, प्रकाशित की जानी चाहिए तथा जिलाधीश को उस परिक्षेत्र में के उन सुविधापूर्ण स्थानों को ऐसी अधिसूचना के सारांश को देने वाली सूचना को दिलवाना है जहां कि वह भूमि स्थित है। धारा 4 की यह स्कीम है कि जब उपधारा (1) के अधीन अनुध्यात कदम उठाए जा चुके हैं, तो सरकार द्वारा प्राधिकृत अधिकारी उपधारा (2) में उपवर्णित कृत्यों को कर सकता है।"

(रेखांकन किया गया)

---

[1] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1704.

[2] [1973] 1 उम० नि० प० 47=ए० आई० आर० 1978, एस० सी० 552.

6. इस मत के कारण कि "दोनों बातों को साथ-साथ करना होगा" कुछ उच्च न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि राजपत्र में प्रकाशन और परिक्षेत्र में लोक सूचना दोनों का साथ-साथ किया जाना धारा 4(1) की आज्ञापक शर्त है और इस प्रकार कष्टदायी समय संबंधी तत्व का समावेश कर दिया। ऐसा नहीं है। इसमें जो कुछ भी कहा गया था उसका प्रकटत: अर्थ यह था कि दोनों ही बातें उप-धारा (2) में अधिकथित विभिन्न कृत्यों के किए जाने से पूर्व की जानी हैं। यह प्रश्न कि राजपत्र में प्रकाशन और परिक्षेत्र में लोक सूचना साथ-साथ होनी हैं या इनके बीच कुछ समय का अन्तर हो सकता है उस मामले में कोई मुद्दा नहीं था। **मैसूर राज्य** बनाम **अब्दुल रजक**[1] **वाले** मामले में इस न्यायालय ने धारा 4(1) के प्रतिनिर्देश करते हुए यह अभिनिर्धारित किया था कि "यह धारा दो अपेक्षाएं विहित करती हैं", (1) राजपत्र में एक अधिसूचना का प्रकाशित किया जाना और (2) कलक्टर द्वारा ऐसी अधिसूचना के सारांश का सम्बद्ध क्षेत्र के किसी सुविधाजनक स्थान पर प्रकाशन और "जब तक ये दोनों शर्तें पूरी नहीं की जाती हैं तब तक भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 4 के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उसका अनुपालन किया गया है"। न्यायालय ने आगे यह भी कहा था कि ऐसा तभी माना जाएगा जब उस व्यक्ति को जोउस सम्पत्ति से हितबद्ध है जिसे अर्जित किए जाने का प्रस्ताव है कि उसे प्रस्थापित अर्जन की बाबत जानकारी अधिसूचना के राजपत्र में प्रकाशन और उसके साथ-साथ या तत्काल पश्चात् लोक सूचना द्वारा दी गयी हो। यह वाक्य और इसके साथ-साथ धारा "4(1) के अधीन दोनों बातें साथ-साथ की जानी चाहिएं" वाक्य से जो **नरेन्द्रजीत सिंह वाले** मामले[1] में आया है उच्च न्यायालयों के कुछ विनिश्चियों में गलतफहमी हो गई। हमने पहले ही **नरेन्द्रजीत सिंह वाले**[2] मामले में व्यक्त किए गए मत को स्पष्ट कर दिया है। हम **मैसूर राज्य** बनाम **अब्दुल रजक**[1] वाले मामले में व्यक्त किए गए मत में यह नहीं पाते कि उसमें ऐसा कोई सामान्य सिद्धांत अधिकथित किया गया है कि राजपत्र में प्रकाशन और परिक्षेत्र में लोक सूचना के बीच कोई समय संबंधी अन्तराल अर्जन के लिए घातक है। राजपत्र में प्रकाशन और परिक्षेत्र में लोक सूचना देने का काम पूरा करने के लिए भौतिक असम्भावना के अतिरिक्त ऐसी विभिन्न परिस्थितियों की कल्पना की जा सकती है जिनमें इन दोनों के बीच समय का अन्तर पड़

---

[1] ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 2361.

[2] [1973] 1 उम० नि० प० 477=ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 552.

[3] ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 2361.

सकता है । संचार साधन बंद हो सकते हैं । हड़ताल या बंध हो सकता है, जैसा कि आंध्र प्रदेश में रिपोर्ट किए गए मामलों में से एक में (**अंजुमन अहमदिया मुस्लिम मिशन** बनाम **राज्य**) वाले मामले में हुआ था या कोई अन्य न्यायोचित कारण हो सकता है । इस न्यायालय ने ऐसा कोई सामान्य सिद्धांत अधिकथित नहीं किया कि किसी अर्जन को ऐसी दशा में शून्य माना जाएगा यदि राजपत्र में प्रकाशित अधिसूचना के साथ-साथ या तत्काल पश्चात् लोक सूचना नहीं दी गई है । ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुतः जो कुछ कहा गया है वह यह था कि सम्पत्ति में हितबद्ध व्यक्ति की बाबत प्रस्थापित अर्जन की सूचना तभी मानी जा सकती है जब धारा 4(1) की दोनों अपेक्षाएं पूरी हो जाएं चाहे वे साथ-साथ या एक दूसरे के बाद पूरी की गयी हों । जैसाकि हमने कहा है, कोई ऐसा निश्चित नियम अधिकथित नहीं किया गया है कि जब कभी राजपत्र में प्रकाशन और क्षेत्र में लोक सूचना में कोई समयांतर हो तब अर्जन शून्य समझा जाए ।

7. हम ऐसा नहीं समझते कि उच्च न्यायालयों के विनिश्चयों को सविस्तार निर्दिष्ट करना आवश्यक है । हम मात्र इतना ही कह सकते हैं कि हम **सतीश कपूर** बनाम **हरियाणा राज्य**[1], **रतन सिंह** बनाम **राज्य**[2], **सूर्यनारायण रेड्डी** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य**[3] और **मोहम्मद ख्वाजा** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य**[4] वाले मामले गलत रूप से विनिश्चित किए गए और **संजीवैया नगर दलित और पिछड़ा वर्ग संघ** बनाम **जिला कलक्टर, हैदराबाद**[5] वाला मामला सही विनिश्चित किया गया था । अन्तिम उल्लिखित मामले में कतिपय पूर्वतर खंड न्यायपीठ के निर्णयों के प्रतिनिर्देश किया गया था और पूर्ण न्यायपीठ के उस निर्णय के प्रतिनिर्देश किया गया था जिसका अनुसरण विद्वान् न्यायाधीशों ने किया है । विशिष्ट रूप से विद्वान् न्यायाधीशों ने आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के **सहनाज सलीम** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य** (विनिश्चय जो आज्ञात कारणों से किसी भी ला रिपोर्ट में प्रकाशित नहीं हो सका] वाले मामले में व्यक्त किए गए निम्नलिखित मतों के प्रतिनिर्देश किया—

> "इस दलील की कोई आवश्यकता नहीं है कि राजपत्र में प्रकाशन और उक्त क्षेत्र में किसी सुविधाजनक स्थान पर अधिसूचना

---

[1] ए० आई० आर० 1982 पंजाब=हरियाणा 276.

[2] ए० आई० आर० 1976 पंजाब=हरियाणा 279.

[3] ए० आई० आर० 1983 आंध्र प्रदेश 17.

[4] ए० आई० आर० 1982 एन० ओ० सी० 270 (ए० पी०).

[5] ए० आई० आर० 1983 आंध्र प्रदेश 142.

के सारांश का प्रकाशन साथ-साथ हो और तत्काल उसी समय हो यदि विधानमंडल का यह आशय होता तो उसमें ऐसा उल्लेख होता। ऐसी कोई बात जो धारा में नहीं दी गयी है उसका उससे आशय नहीं निकाला जा सकता। धारा 4(1) की अधिसूचना के सारांश का क्षेत्र के किसी सुविधाजनक स्थान पर प्रकाशन की अपेक्षा विधानमंडल द्वारा यह सुनिश्चित करने के लिए चिंता के साथ की गयी है कि जिससे प्रभावित व्यक्तियों को उसकी सूचना दे दी जाए। इसमें जो कुछ किए जाने की अपेक्षा है वह यह है कि उपधारा (2) में अनुध्यात कुछ किए जाने से पूर्व धारा 4(1) की अधिसूचना के सारांश को उस क्षेत्र में प्रकाशित कर दिया जाए जहां भूमि स्थित है। कतिपय समयों पर यदि साथ-साथ प्रकाशन पर जोर दिया गया है तो भी ऐसा करना शारीरिक रूप से असंभव हो सकता है। यह सोचना संभव नहीं है कि विधानमंडल ने किसी अव्यावहारिक और साथ-ही-साथ अनावश्यक कार्य के लिए उपबन्ध किया होगा। धारा 4(1) में यही अपेक्षा की गयी है कि धारा 4(1) की अधिसूचना राजपत्र में प्रकाशित की जाए और उसके सारांश को उक्त क्षेत्र में किसी सुविधाजनक स्थान पर प्रकाशित किया जाए।"

हम इन विचारों से सहमत हैं।

8. प्रहार का दूसरा आधार यह है कि यदि धारा 4(1) के अधीन अधिसूचना प्रकाशित किए जाने से पूर्व अन्तर-विभागीय विचार-विमर्श में व्यतीत किए गए पर्याप्त समय को घ्यान में रखा जाए तो उससे यह प्रकट हो जाएगा कि धारा 17(4) के अधीन अत्यावश्यकता खण्ड का आश्रय लेने और धारा 5(क) के अधीन जांच समाप्त करना न्यायोचित नहीं है। हमें खेद है, हम इस दलील से सहमत नहीं हो सकते। बहुधा अर्जित की जाने वाली भूमि में हितबद्ध व्यक्ति प्रस्तावित अर्जन के विरुद्ध सम्बद्ध प्राधिकारियों के समक्ष विभिन्न अभ्यावेदन करते हैं। यह निश्चित है कि उसके परिणामस्वरूप अनेक जांच, संसूचनाएं और विचार-विमर्श को जन्म मिलेगा जिससे निश्चित रूप से अत्यावश्यक परियोजनाओं के निष्पादन में भी विलम्ब हो सकता है। बहुधा होता यह है कि विलम्ब के कारण समस्या अधिक से अधिक जटिल हो जाती है और उससे अर्जन की आवश्यकता अत्यधिक बढ़ जाती है। इसलिए इस निवेदन से सहमत होना संभव नहीं है कि पूर्व अधिसूचना में विलम्ब होने से अत्यावश्यकता सम्बन्धी उपबंधों का आश्रय लिया जाना निरर्थक हो जाएगा। तथापि, अधिसूचना के बाद जो विलम्ब हुआ उसके

बारे में हम कुछ नहीं कहना चाहेंगे। जगे राम बनाम हरियाणा राज्य[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह उल्लेख किया कि "यह तथ्य कि राज्य सरकार या सम्बद्ध पक्षकार आरम्भिक क्रम में सुस्त था" इस प्रश्न के विनिश्चय के लिए बहुत सुसंगत नहीं है कि जिस तारीख को अधिसूचना जारी की गयी थी उस तारीख को तात्कालिक आवश्यकता थी या यहीं। **काशी रेड्डी पापैया** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि, "अर्जन के विषय में सुस्त पदधारी की ओर से आगे की कार्रवाई में विलम्ब मात्र उस तात्कालिक आवश्यकता को शून्य करने के लिए जो अधिसूचना जारी किए जाने के समय विद्यमान थी, और यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि ऐसी तात्कालिक आवश्यकता कभी नहीं थी, पर्याप्त नहीं है।" परिणामस्वरूप, पिटीशनरों के विद्वान् काउंसेल के दोनों ही निवेदन अस्वीकार किए जाते हैं और विशेष इजाजत पिटीशन खारिज किए जाते हैं।

विशेष इजाजत पिटीशन खारिज किए गए।

द्वि०

---

[1] ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 1033.

[2] ए० आई० आर० 1975 आन्ध्र प्रदेश 269.

भारत संघ

बनाम

राजस्थान राज्य

(4 सितम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति ओ० चिन्नप्पा रेड्डी, ए० पी० सन और ई० एस० वेंकटरामय्या)

संविधान, 1950—अनुच्छेद 131, 298, 299 और 300—अनुच्छेद 131 के लागू होने का प्रश्न—रेल अधिनियम, 1890 की धारा 80 के अधीन नुकसानी के लिए भारत संघ के विरुद्ध राज्य का दावा—चूंकि उक्त दावा अनुच्छेद 131 के अधीन आने वाला संवैधानिक सम्बन्धों के विषय में 'विवाद' नहीं है तथा उच्चतम न्यायालय को अनुच्छेद 131 के अधीन प्राप्त अनन्य अधिकारिता वाणिज्यिक प्रकृति के ऐसे साधारण विवाद को लागू नहीं होती, अतः राज्य द्वारा भारत संघ के विरुद्ध फाइल किया गया सिविल वाद कायम रखने योग्य है।

तम्बुओं और उनके निर्माण में काम आने वाली वस्तुओं का एक परेषण मध्य प्रदेश से बारमेड़, राजस्थान के कलक्टर को रेलवे रसीद सहित रेल द्वारा पुनर्वास विभाग के लिए भेजा गया था। किन्तु जब यह परेषण बारमेड़ पहुंचा तो यह पाया गया कि वह बुरी तरह से खराब हो गया है और उपयोग के लिए अनुपयुक्त है। इसलिए इस माल को नीलाम कर दिया गया। चूंकि परेषिती का दावा रेल प्रशासन द्वारा नहीं निपटाया गया इसलिए राजस्थान सरकार ने जिला पुनर्वास अधिकारी, बारमेड़ की मार्फत जिला न्यायालय में भारत संघ के खिलाफ नुकसानी का दावा करते हुए एक वाद फाइल किया। भारत संघ एवं रेल प्रशासन ने अन्य दलीलों के साथ-साथ यह दलील दी कि वाद इस कारण कायम रखने योग्य नहीं था कि संविधान के अनुच्छेद 131 के अधीन इस मामले में उच्चतम न्यायालय को अनन्य अधिकारिता प्राप्त थी। विशेष इजाज़त पिटीशन को खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित--संविधान के अनुच्छेद 131 का आश्रय केवल उसी समय लिया जा सकता है जब विवाद एक ओर राज्य या राज्यों और दूसरी ओर भारत संघ के बीच उनके संवैधानिक संबंधों के संदर्भ में हो जो उनके बीच विद्यमान हैं और उससे उत्पन्न होने वाली शक्तियों, अधिकारों, कर्तव्यों, उन्मुक्तियों, दायित्वों और असमर्थताओं आदि की बाबत हो। कोई विवाद जो कारखाने के किसी नियोजक की हैसियत में किसी राज्य और उत्पाद-शुल्क के अध्यधीन माल के विनिर्माता, मंजिली गाड़ी चलाने के लिए परमिट-धारी, कोई व्यापारी या व्यवसायी जो सरकार के सामान्य कृत्यों से अननुषंगिक कारबार करता हो, रेल सेवाओं का कोई उपभोक्ता आदि एक ओर किसी व्यक्तिगत पक्षकार की तरह और दूसरी ओर भारत संघ के बीच उद्भूत होने वाले विवाद का यह अर्थ लगाया जाएगा कि वह विवाद राज्य और संघ के बीच अपनी-अपनी शक्तियों के निर्वहन में उद्भूत हुआ है जिसके लिए संविधान के अनुच्छेद 131 का आश्रय लिया जाना है। संविधान के विनिर्माताओं का यह आशय कदापि नहीं था कि इस प्रकृति का कोई सामान्य विवाद अनन्य रूप से उच्चतम न्यायालय द्वारा विनिश्चित किया जाए। (पैरा 12)

वर्तमान मामले में राजस्थान राज्य द्वारा रेल प्रशासन के माध्यम से प्रेषित माल को कारित क्षति मद्दे वाद लाने का अधिकार भारत संघ और राज्य सरकार के बीच विवाद नहीं है। संविधान के अनुच्छेद 131 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता संविधान के अन्य उपबंधों के अध्यधीन है। इस मामले में अन्तर्वलित दावा भारतीय रेल अधिनियम, 1890 की धारा 80 पर आधारित है। उस धारा के अधीन किसी यात्री की जीवन हानि या उसकी दैहिक क्षति अथवा जीव-जन्तुओं या माल की हानि, नुकसान, नाश या अपरिदान के प्रतिकर के लिए वाद यात्री या जीव-जन्तु या माल एक ही रेल प्रशासन की पटड़ी पर एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन तक बुक किए गए थे तो उस रेल प्रशासन के विरुद्ध संस्थित किया जा सकेगा; यदि यात्री या जीव-जन्तु या माल दो या अधिक रेल प्रशासनों की रेल पारगामी रूप से बुक किए गए थे तो उस रेल प्रशासन के विरुद्ध संस्थित किया जा सकेगा जिससे यात्री ने, यथास्थिति अपना पास अभिप्राप्त किया था या अपना टिकट खरीदा था या जिसे जीव-जन्तु या माल वहन किए जाने के लिए सुपुर्द किए गए थे या उस रेल प्रशासन के विरुद्ध संस्थित किया जा सकेगा जिसके रेल पर गंतव्य स्टेशन पर या वह हानि, क्षति, नाश, नुकसान या क्षय घटित हुआ था और इनमें से किसी दशा में वाद ऐसे न्यायालय में संस्थित किया जा सकेगा जिसकी अधिकारिता उस स्थान पर है जहां से यात्री ने यथास्थिति,

अपना पास अभिप्राप्त किया था या अपना टिकट खरीदा था या वहन के लिए जीव-जन्तु या माल सुपुर्द किए थे या उस स्थान पर है जहां गंतव्य स्टेशन है या वह हानि, क्षति, नाश, नुकसान या क्षय घटित हुआ था। भारतीय रेल अधिनियम, 1890 की धारा 80 से यह उपदर्शित होता है कि उसके अधीन किया गया दावा आवश्यक रूप से सम्बद्ध रेल प्रशासन के विरुद्ध किया गया दावा है। भारत संघ को मुकदमे में वाद के पक्षकार के रूप में सम्मिलित किया गया है जो संविधान के अनुच्छेद 300 के अनुसार भारतीय रेल का स्वामी है। तथापि, उपविधि विवाद को सम्बद्ध रेल प्रशासन और वाद संस्थित करने वाले व्यक्ति के बीच का विवाद मानती है। इन कार्यवाहियों के पक्षकारों में से किसी ने भारतीय रेल अधिनियम, 1890 के उपबंधों के इन कार्यवाहियों को लागू किए जाने की बाबत प्रश्नगत नहीं किया है। इसलिए यह अभिनिर्धारित करना कठिन है कि इन कार्यवाहियों में ऐसा कोई प्रश्न है जो संविधान के अनुच्छेद 131 के कार्यक्षेत्र के भीतर हो। (पैरा 13)

अनुमोदित निर्णय

		पैरा
[1968]	ए० आई० आर० 1968 मैसूर 237 : **मैसूर राज्य बनाम भारत संघ और अन्य.**	8

अवलम्बित निर्णय

[1978]	[1978]2 उम० नि० प० 457=[1978]2 एस० सी० आर० 1 : **कर्नाटक राज्य बनाम भारत संघ और एक अन्य;**	11
[1977]	[1977] 4 उम० नि० प० 1107=[1978]1 एस० सी० आर० 1 : **राजस्थान राज्य और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य;**	10
[1977]	[1977]4 उम० नि० प० 221=[1977]1 एस० सी० आर० 842 : **भारत संघ बनाम मैसूर राज्य;**	8

[1970] [1970]3 उम० नि० प० 682=[1970]2 एस० सी० आर० 522 :
बिहार राज्य बनाम भारत संघ और एक अन्य. 6

सिविल अपीली अधिकारिता : 1982 का विशेष इजाज़त पिटीशन (सिविल) सं० 284.

(1981 के सिविल पुनरीक्षण पिटीशन सं० 273 में राजस्थान उच्च न्यायालय के तारीख 2 सितम्बर, 1981 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील)

पिटीशनरों की ओर से श्री के० जी० भगत, कुमारी ए० सुभाषिणी और श्री विजय पंजवानी

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति ई० एस० वेंकटरामय्या ने दिया ।

न्यायाधिपति वेंकटरामय्या—

इस पिटीशन में विचारार्थ जो सुनिश्चित प्रश्न उद्भूत हुआ है वह यह है कि क्या राजस्थान राज्य द्वारा भारतीय रेल के माध्यम से प्रेषित माल को हुई क्षति मद्धे हुए नुकसान के प्रतिकर की वसूली के लिए राजस्थान के सिविल न्यायालय में भारत संघ के विरुद्ध फाइल किया गया वाद कायम रखने योग्य है या उसे संविधान के अनुच्छेद 131 के अधीन इस न्यायालय में फाइल किया जाना चाहिए ।

2. मामले के तथ्य इस प्रकार हैं । राजस्थान में बारमेड़ के जिला प्रशासन को कुछ तम्बुओं और उनके उपांगों की आवश्यकता थी और उसके निवेदन पर चीफ कमाण्डेन्ट मानाशिविर (रायपुर) मध्य प्रदेश, द्वारा बारमेड़ के कलक्टर को भारतीय रेलों के माध्यम से आर० आर० सं० 423978 तारीख 17 फरवरी, 1972 के अधीन तम्बुओं और उसके उपांगों के 170 बंडल प्रेषित किए गए जिन्हें बाड़मेर में परिदत्त किया जाना था। बाड़मेर में परेषण के पहुंचने की बाबत 6 अगस्त, 1972 तक कोई सूचना नहीं प्राप्त हुई । अपर कलक्टर और जिला पुनर्वास अधिकारी, बाड़मेर ने जब यह सुना कि परेषण 6 अगस्त, 1972 को बाड़मेर पहुंच गया तो वे उसका परिदान ग्रहण करने के लिए 6 अगस्त, 1972 को बाड़मेर गए किन्तु वहां यह पाया गया कि माल की पैकिंग अत्यन्त क्षति ग्रस्त थी और उसके परिणामस्वरूप तम्बू तथा उपांग उपयोग के लिए बेकार हो गए थे, इसलिए परिदान नहीं लिया गया और नुकसानी के निर्धारण के लिए प्रार्थना की

गयी। माल की नीलामी कर दी गयी और उससे नीलामी में 15 हजार रुपये प्राप्त हुए। चूंकि रेल प्रशासन द्वारा परेषिती का दावा नहीं सुलझाया गया, इसलिए महाप्रबंधक, उत्तरी रेलवे, नई दिल्ली को आवश्यक सूचना जारी करने के पश्चात् राजस्थान राज्य द्वारा अपने जिला पुनर्वास अधिकारी बाड़मेर के माध्यम से भारत संघ के विरुद्ध 1, 57, 825.80 रु० कीरकम की नुकसानी का दावा करते हुए 23 जुलाई, 1977 को जिला न्यायाधीश बालोत्रा के न्यायालय में एक वाद फाइल किया गया। भारत संघ और रेल प्रशासन द्वारा विभिन्न आधारों पर प्रतिवाद किया गया और उनमें से एक यह था कि संविधान के अनुच्छेद 131 को ध्यान में रखते हुए जो उनके अनुसार राज्य और संघ के बीच उद्भूत होने वाले समस्त विवादों के विनिश्चय की अनन्य अधिकारिता उच्चतम न्यायालय को प्रदत्त करता है वाद जिला न्यायालय में कायम रखने योग्य नहीं था। वाद में विरचित छठा मुद्दा जिला न्यायालय द्वारा उक्त वाद पर विचार करने की क्षमता से सम्बन्धित था। उक्त मुद्दे की प्रारम्भिक मुद्दे के रूप में सुनवाई की गई और जिला न्यायाधीश ने 16 अप्रैल, 1981 वाले अपने आदेश द्वारा यह अभिनिर्धारित किया कि उन्हें वाद का विचारण करने की अधिकारिता थी। जिला न्यायाधीश के आदेश के विरुद्ध राजस्थान उच्च न्यायालय के समक्ष एक पुनरीक्षण पिटीशन फाइल किया गया और वह पिटीशन 2 सितम्बर, 1981 को खारिज कर दिया गया। यह पिटीशन उच्च न्यायालय के आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाजत लेकर प्रस्तुत किया गया है।

3. कुछ समय तक मामले की सुनवाई किए जाने के पश्चात्, विद्वान् अपर महान्यायवादी ने बहुत निष्पक्ष रूप में यह कथन किया कि वाद पर जिला न्यायालय के समक्ष कार्यवाही किए जाने की अनुमति दी जा सकती है। चूंकि प्रश्न महत्वपूर्ण था और राज्य सरकार द्वारा परिसंघ के विरुद्ध संस्थित किए जाने वाले प्रत्येक वाद में इसके समरूप मुद्दा उद्भूत हो सकता है, इसलिए, हम विशेष इजाजत लेकर किए गए इस पिटीशन को सकारण आदेश देकर निपटाना चाहेंगे।

4. संविधान का अनुच्छेद 131 इस प्रकार है—

"131. इस संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुए —

(क) भारत सरकार और एक या अधिक राज्यों के बीच; या

(ख) एक ओर भारत सरकार और किसी राज्य या राज्यों और दूसरी ओर एक या अधिक अन्य राज्यों के बीच; या

(ग) दो या अधिक राज्यों के बीच;

किसी विवाद में, यदि और जहां तक उस विवाद में (विधि का या तथ्य का) ऐसा कोई प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है जिस पर किसी विधिक अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर है तो और वहां तक अन्य न्यायालयों का अपवर्जन करके उच्चतम न्यायालय को आरम्भिक अधिकारिता होगी :

परन्तु उक्त अधिकारिता का विस्तार उस विवाद पर नहीं होगा जो किसी ऐसी संधि, करार, प्रसंविदा, वचनबंध सनद या वैसी ही अन्य लिखत से उत्पन्न हुआ है जो इस संविधान के प्रारम्भ से पहले की गई थी या निष्पादित की गई थी और ऐसे प्रारम्भ के पश्चात् प्रवर्तन में विवाद है या जो उपबंध करती है कि उक्त अधिकारिता का विस्तार ऐसे विवाद पर नहीं होगी।"

5. संविधान के अनुच्छेद 131 का तत्स्थानी उपबंध भारत सरकार अधिनियम, 1935 की धारा 204 में विद्यमान था । इंडिया (प्रोविज़नल कांस्टीट्यूशन) आर्डर, 1947 द्वारा संशोधित किए जाने से पूर्व वह धारा इस प्रकार थी—

*"204. परिसंघीय न्यायालय की मूल अधिकारिता—(1) इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए परिसंघीय न्यायालय को किसी अन्य न्यायालय का अपवर्जन करके निम्नलिखित पक्षकारों अर्थात् परिसंघ, किसी प्रांत या किसी परिसंघीय राज्य के बीच विवाद उत्पन्न होने की दशा में मूल अधिकारिता प्राप्त होगी, यदि और

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"204. Original Jurisdiction of Federal Court.—(1) Subject to the provisions of this Act, the federal Court shall, to the exclusion of any other court, have an original jurisdiction in any dispute between any two or more of the following parties, that is to say, the Federation, any of the Provinces or any of the Federated

जहां तक विवाद में कोई प्रश्न (चाहे विधि का हो या तथ्य का) अन्तर्वलित है जिस पर किसी विधि का अस्तित्व या उसका विस्तार निर्भर हो।"

परन्तु यह तब जबकि उक्त अधिकारिता का विस्तार निम्न-लिखित को नहीं होगा —

(क) कोई विवाद जिसमें राज्य एक पक्षकार है, जब तक कि वह विवाद—

(i) इस अधिनियम या उसके अधीन दिए गए काउंसेल के किसी आदेश के निर्वचन की बाबत हो अथवा उस राज्य के अधिमिलन सम्बन्धी लिखत द्वारा परिसंघ में निहित किए गए विधायी या कार्यपालक प्राधिकार के विस्तार की बाबत हो; या

(ii) उस राज्य में परिसंघीय विधानमंडल की विधि के प्रशासन की बाबत इस अधिनियम के भाग 5 के अधीन किए गए करार के अधीन उद्भूत होता है या अन्यथा कुछ ऐसे विषयों से सम्बद्ध है जिनकी बाबत परिसंघीय विधानमंडल को उस राज्य के लिए विधि बनाने की शक्ति है; या

States, if and in so far as the dispute involves any question (whether of law or fact) on which the existence or extentof a legal right depends :

Provided that the said jurisdiction shall not extend to—

a dispute to which a State is a Party, unless the dispute—

(i) concerns the interpretation of this Act or of an order in Council made thereunder, or the extent of the legislative or executive authority vested in the Federation by virtu e of the instiument of Accession of that State; or

(ii) arsies under an agreement made under Part VI of this Act in relation to the administration in that State of a law of the Federal Legislature, or otherwise concerns some matter with respect to which the Federal Legislature has power to make laws for that State; or

(iii) परिसंघ की स्थापना के पश्चात् भारतीय राज्यों की बाबत सम्राट (क्राउन) के कृत्यों का निर्वहन करने वाले महामहिम (हिज मजेस्टी) के प्रतिनिधि के अनुमोदन से उस राज्य और परि-संघ या प्रान्त के बीच हुए करार से उद्भूत होती है जो ऐसा करार है, जिसमें अभिव्यक्त रूप से यह उपबंधित किया गया है कि उक्त अधिकारिता का विस्तार ऐसे विवाद तक होगा;

(ख) विवाद किसी ऐसे करार के अधीन उद्भूत होता है जिसमें अभिव्यक्त रूप से उपबंधित किया गया है कि उक्त अधिकारिता का विस्तार ऐसे विवाद तक नहीं होगा।

(2) परिसंघीय न्यायालय अपनी अधिकारिता का प्रयोग करते हुए किसी घोषणात्मक निर्णय से भिन्न कोई निर्णय नहीं सुनाएगा।"

6. यह उल्लेख किया जा सकता है कि जबकि भारत सरकार अधिनियम, 1935 की धारा 204 उपधारा (1) का मुख्य भाग व्यापक रूप से, संविधान के अनुच्छेद 131 के समरूप है, अनुच्छेद 131 के परन्तुक और धारा 204(1) के परन्तुक की संरचना के बीच अन्तर है। संविधान के अनुच्छेद 131 में यह उपबंध किया गया है कि संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुए (क) भारत सरकार और एक या अधिक राज्यों के बीच; या

(iii) arises under an agreement made after the establishment of the Federation, with the approval of His Majstey's representative for the exercise of the functions of the Crown in its relations with Indian States between that State and the Federation or a Province, being an agreemnet which expressly provides that the said jurisdiction shall extend to such a dispute,

(b) a dispute arising under any agreement which expressly provides that the said jurisdiction shall not extend to such a dispute.

(2) The Federal Court in the exercise of its original jurisdiction shall not pronounce any judgment other than a declaratory judgment."

(ख) एक ओर भारत सरकार और किसी राज्य या राज्यों और दूसरी ओर एक या अधिक अन्य राज्यों के बीच; या (ग) दो या अधिक राज्यों के बीच किसी विवाद में यदि और ज़हां तक उस विवाद में (विधि का या तथ्य का) ऐसा कोई प्रश्न अन्तर्वलित है जिस पर कोई विधिक अधिकार या अस्तित्व या विस्तार निर्भर है, वहां तक अन्य न्यायालयों का अपवर्जन करके उच्चतम न्यायालय को आरंभिक अधिकारिता प्राप्त होगी । इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई ऐसा विवाद है जिसमें किसी विधिक अधिकार के अस्तित्व का कोई प्रश्न अन्तर्वलित है या जहां किसी विधिक अधिकार का अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया है, तो यदि राज्यों और भारत सरकार के बीच उसमें अधिकथित रूप में उसकी व्याप्ति के प्रश्न पर कोई विवाद है, तो उच्चतम न्यायालय को अपने प्रश्न का विनिश्चय करने की, चाहे वह विधि का हो या तथ्य का, अनन्य अधिकारिता होगी । किसी अन्य न्यायालय को उस पर विचार करने की अधिकारिता नहीं है । इसी प्रकार गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 की धारा 204 में परिसंघीय न्यायालय को परिसंघ, किसी प्रान्त या किसी परिसंघीय राज्य के बीच उद्भूत होने वाले समरूप प्रश्नों के विनिश्चय की अनन्य अधिकारिता थी । तथापि उस धारा के परन्तुक के अधीन यह उपबंध किया गया था कि उक्त अधिकारिता का विस्तार ऐसे विवाद तक नहीं होगा जिसका कोई राज्य (परिसंघीय राज्य) एक पक्षकार था । जब तक कि विवाद उन विषयों की बाबत न हो जिनका उल्लेख उसके खण्ड (i) से (iii) तक में किया गया है, संविधान के अनुच्छेद 131 के परंतुक के अधीन उच्चतम न्यायालय की मूल अधिकारिता का विस्तार उसमें निर्दिष्ट विषयों तक नहीं है । **बिहार राज्य बनाम भारत संघ, और एक अन्य**[1] वाले मामले में संवैधानिक इतिहास जिसके द्वारा संविधान के अनुच्छेद 131 को अधिनियमित किया गया था का पुनर्विलोकन करने के पश्चात् इस न्यायालय की संवैधानिक न्यायपीठ ने पृष्ठ 529-530 पर निम्नलिखित मत व्यक्त किया—

> "यद्यपि गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट की धारा 204 की भांति अनुच्छेद 131 उन विवादों के प्रविषय को परिभाषित नहीं करता है जिनके अवधारण के लिए इस न्यायालय से अपेक्षा की जा सकती है, और हम भी ऐसा करना आवश्यक नहीं समझते, तो भी इतना तो निश्चित ही है कि वैध अधिकार का प्रश्न, जो कि विवाद का विषय है, संविधान और संघवाद के, जिसकी कि यह प्रस्थापना

[1] [1970] 3 उम० नि० प० 682=[1970]2 एस० सी० आर० 522.

करता है, संदर्भ में उठना ही चाहिए। किन्तु इस बात में कोई संदेह नहीं है कि जहां तक विवाद के पक्षकारों का सम्बन्ध है, संविधान के निर्माताओं का निश्चित रूप से यह आशय था कि केवल भारत संघ के संघटक यूनिट और भारत सरकार या दूसरे पक्ष में भारत सरकार तो अकेले या किसी अन्य यूनिट के साथ संयुक्तत: पक्षकार के रूप में खड़े हो सकते हैं।"

(जोर देने के लिए रेखांकित)

7. संवैधानिक न्यायपीठ ने उक्त मामले में अंतत: यह अभिनिर्धारित किया कि यदि प्राइवेट व्यक्ति, फर्म या निगम भी पक्षकार के रूप में मामले में सम्मिलित किया गया था तो उच्च न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 131 के अधीन विवाद का विचारण किया जा सकता है।

8. **भारत संघ बनाम मैसूर राज्य**[1] वाले मामले में प्रश्न यह था कि क्या भारत संघ के विरुद्ध किसी राज्य द्वारा केन्द्रीय सरकार के उस आदेश की शुद्धता को प्रश्नगत करते हुए फाइल किया गया रिट पिटीशन, जो केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क और नमक अधिनियम, 1944 के अधीन फाइल किए गए पिटीशन का पुनरीक्षण करते हुए किया गया था, और जिसमें राज्य के उपकरण-कारखाने के स्टाक में रखे गए माल पर उत्पाद-शुल्क उद्गृहीत करने के विरुद्ध राज्य सरकार की दलील को नामंजूर कर दिया गया था, कायम रखने योग्य है या नहीं। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि केन्द्रीय सरकार उस रूप में अधिकरण होने के नाते केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क और नमक अधिनियम, 1944 की धारा 36 के अधीन उसे प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए पुनरीक्षण को निपटाते समय उस विवाद में विवाद नहीं कर सकती जिसका उसने विनिश्चय किया है। केन्द्रीय सरकार का हित केवल उस शुल्क की वसूली में था जो समुचित रूप से संदेय था, किन्तु मात्र इतने से वह अधिकरण से विवादी के रूप में परिवर्तित नहीं हो जाता। उच्च न्यायालय ने यह अवलोकन किया कि—

"कोई विवाद अनुच्छेद 131 के भीतर तभी आता है जब केन्द्रीय सरकार स्वयं उस रूप में विवादी हो। विवाद प्रत्यक्ष रूप से राज्य और केन्द्रीय सरकार के बीच जो संघ की कार्यपालक शक्तियों का भण्डार है, उद्भूत होना चाहिए। यदि केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क विभाग द्वारा मांगा गया केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क देय है तो

---

[1] [1977] 4 उम० नि० प० 221=[1977] 1 एस० सी० आर० 842.

गयी। माल की नीलामी कर दी गयी और उससे नीलामी में 15 हजार रुपये प्राप्त हुए। चूंकि रेल प्रशासन द्वारा परेषिती का दावा नहीं सुलझाया गया, इसलिए महाप्रबंधक, उत्तरी रेलवे, नई दिल्ली को आवश्यक सूचना जारी करने के पश्चात् राजस्थान राज्य द्वारा अपने जिला पुनर्वास अधिकारी बाड़मेर के माध्यम से भारत संघ के विरुद्ध 1, 57, 825.80 रु० कीरकम की नुकसानी का दावा करते हुए 23 जुलाई, 1977 को जिला न्यायाधीश बालोत्रा के न्यायालय में एक वाद फाइल किया गया। भारत संघ और रेल प्रशासन द्वारा विभिन्न आधारों पर प्रतिवाद किया गया और उनमें से एक यह था कि संविधान के अनुच्छेद 131 को ध्यान में रखते हुए जो उनके अनुसार राज्य और संघ के बीच उद्भूत होने वाले समस्त विवादों के विनिश्चय की अनन्य अधिकारिता उच्चतम न्यायालय को प्रदत्त करता है वाद जिला न्यायालय में कायम रखने योग्य नहीं था। वाद में विरचित छठा मुद्दा जिला न्यायालय द्वारा उक्त वाद पर विचार करने की क्षमता से सम्बन्धित था। उक्त मुद्दे की प्रारम्भिक मुद्दे के रूप में सुनवाई की गई और जिला न्यायाधीश ने 16 अप्रैल, 1981 वाले अपने आदेश द्वारा यह अभिनिर्धारित किया कि उन्हें वाद का विचारण करने की अधिकारिता थी। जिला न्यायाधीश के आदेश के विरुद्ध राजस्थान उच्च न्यायालय के समक्ष एक पुनरीक्षण पिटीशन फाइल किया गया और वह पिटीशन 2 सितम्बर, 1981 को खारिज कर दिया गया। यह पिटीशन उच्च न्यायालय के आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाज़त लेकर प्रस्तुत किया गया है।

3. कुछ समय तक मामले की सुनवाई किए जाने के पश्चात्, विद्वान् अपर महान्यायवादी ने बहुत निष्पक्ष रूप में यह कथन किया कि वाद पर जिला न्यायालय के समक्ष कार्यवाही किए जाने की अनुमति दी जा सकती है। चूंकि प्रश्न महत्वपूर्ण था और राज्य सरकार द्वारा परिसंघ के विरुद्ध संस्थित किए जाने वाले प्रत्येक वाद में इसके समरूप मुद्दा उद्भूत हो सकता है, इसलिए, हम विशेष इजाज़त लेकर किए गए इस पिटीशन को सकारण आदेश देकर निपटाना चाहेंगे।

4. संविधान का अनुच्छेद 131 इस प्रकार है—

"131. इस संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुए —

(क) भारत सरकार और एक या अधिक राज्यों के बीच; या

करता है, संदर्भ में उठना ही चाहिए। किन्तु इस बात में कोई संदेह नहीं है कि जहां तक विवाद के पक्षकारों का सम्बन्ध है, संविधान के निर्माताओं का निश्चित रूप से यह आशय था कि केवल भारत संघ के संघटक यूनिट और भारत सरकार या दूसरे पक्ष में भारत सरकार तो अकेले या किसी अन्य यूनिट के साथ संयुक्ततः पक्षकार के रूप में खड़े हो सकते हैं।"

(जोर देने के लिए रेखांकित)

7. संवैधानिक न्यायपीठ ने उक्त मामले में अंततः यह अभिनिर्धारित किया कि यदि प्राइवेट व्यक्ति, फर्म या निगम भी पक्षकार के रूप में मामले में सम्मिलित किया गया था तो उच्च न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 131 के अधीन विवाद का विचारण किया जा सकता है।

8. **भारत संघ बनाम मैसूर राज्य**[1] वाले मामले में प्रश्न यह था कि क्या भारत संघ के विरुद्ध किसी राज्य द्वारा केन्द्रीय सरकार के उस आदेश की शुद्धता को प्रश्नगत करते हुए फाइल किया गया रिट पिटीशन, जो केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क और नमक अधिनियम, 1944 के अधीन फाइल किए गए पिटीशन का पुनरीक्षण करते हुए किया गया था, और जिसमें राज्य के उपकरण-कारखाने के स्टाक में रखे गए माल पर उत्पाद-शुल्क उद्गृहीत करने के विरुद्ध राज्य सरकार की दलील को नामंजूर कर दिया गया था, कायम रखने योग्य है या नहीं। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि केन्द्रीय सरकार उस रूप में अधिकरण होने के नाते केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क और नमक अधिनियम, 1944 की धारा 36 के अधीन उसे प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए पुनरीक्षण को निपटाते समय उस विवाद में विवाद नहीं कर सकती जिसका उसने विनिश्चय किया है। केन्द्रीय सरकार का हित केवल उस शुल्क की वसूली में था जो समुचित रूप से संदेय था, किन्तु मात्र इतने से वह अधिकरण से विवादी के रूप में परिवर्तित नहीं हो जाता। उच्च न्यायालय ने यह अवलोकन किया कि—

"कोई विवाद अनुच्छेद 131 के भीतर तभी आता है जब केन्द्रीय सरकार स्वयं उस रूप में विवादी हो। विवाद प्रत्यक्ष रूप से राज्य और केन्द्रीय सरकार के बीच जो संघ की कार्यपालक शक्तियों का भण्डार है, उद्भूत होना चाहिए। यदि केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क विभाग द्वारा मांगा गया केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क देय है तो

---

[1] [1977] 4 उम० नि० प० 221=[1977] 1 एस० सी० आर० 842.

उत्पाद शुल्क के रूप में राजस्व के संग्रहण के लिए उसका प्रत्यक्ष हित इस अनुमान के लिए बहुत कमजोर था कि केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क अधिनियम के उपबंधों के अधीन उद्भूत होने वाले प्रत्येक संविवाद में केन्द्रीय सरकार आवश्यक रूप से विवादी है। ऐसे अर्थान्वयन को स्वीकार कर लेने से केन्द्रीय सरकार केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क अधिनियम के अधीन प्रत्येक कार्यवाही में विवादी के रूप में पक्षकार बन जाएगी और उससे जो परिणाम होंगे उनसे वह अधिनियम की धारा 36 के अधीन अधिकरण के रूप में गठित किए जाने के लिए उचित नहीं होगी।" (**मैसूर राज्य** बनाम **भारत संघ और अन्य के अनुसार**[1])।

9. तदनुसार भारत संघ द्वारा दी गई दलील को उच्च न्यायालय द्वारा नकार दिया गया। इस न्यायालय ने **भारत संघ** बनाम **मैसूर राज्य**[2] वाले मामले में पृष्ठ 845 पर उच्च न्यायालय के उपरोक्त दृष्टिकोण की पुष्टि कर दी—

"श्री रमन ने यह दलील देने का प्रयत्न किया कि उच्च न्यायालय ने इसके विपरीत संविधान के अनुच्छेद 131 को लागू न करके गलती की है यद्यपि रिट पिटीशन उसके अधीन वर्जित था क्योंकि वह भारत सरकार और मैसूर राज्य के बीच विवाद के रूप में संविधान के अनुच्छेद 131 के अधीन इस न्यायालय की अनन्य अधिकारिता के भीतर आता था। लेकिन यह दलील निस्सार है क्योंकि अभिलेख पर ऐसी कोई बात नहीं है जिससे यह दर्शित हो कि केन्द्रीय और राज्य सरकारों के बीच कोई ऐसा विवाद था। जैसा कि उच्च न्यायालय ने संकेत किया है भारत संघ को रिट पिटीशन का पक्षकार केवल इसलिए बनाया गया था क्योंकि उसने राज्य सरकार के पुनरीक्षण आवेदन को खारिज कर दिया था।"

10. **राजस्थान राज्य और अन्य** बनाम **भारत संघ इत्यादि**[3] वाले मामले में संविधान के अनुच्छेद 131 के विस्तार को स्पष्ट करते हुए न्यायाधिपति (जिस पद पर वे तब थे) चन्द्रचूड़ ने पृष्ठ 54 पर यह कहा—

"भारत संघ और किसी राज्य के बीच विवाद ऐसा विवाद

---

[1] ए० आई० आर० (1968) मैसूर, 237.

[2] [1977] 4 उम० नि० प० 221=[1977] 1 एस० सी० आर० 842.

[3] [1977] 4. उम० नि० प० 1107=[1978] 1 एस० सी० आर० 1.

नहीं हो सकता जो केन्द्र में सत्तारूढ़ सरकार और राज्य में सत्तारूढ़ सरकार के बीच मतभेद से उत्पन्न हुआ हो। सत्तारूढ़ से 'सत्ताधारी' अभिप्रेत है। किन्तु इस बात का सोच विचार करके कि शक्ति के हाथ में आ जाने से क्या-क्या होता है, पश्चात्कथित अभिव्यक्ति का उपयोग करते समय सावधानी बरतनी चाहिए और इससे बचना चाहिए। किन्तु एक और पूर्वापेक्षा है जो ऐसे विवादों के वर्ग की परिधि को सीमित करती है जो अनुच्छेद 136 के भीतर आते हैं। वह अपेक्षा यह है कि विवाद में ऐसा प्रश्न अन्तर्वलित होना चाहिए चाहे वह विधि का हो या तथ्य का, जिस पर किसी विधिक अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर करता हो यही वह परिगुण है जो इस बात का निर्धारण करने के लिए सही मार्गदर्शन करता है कि क्या कोई विशिष्ट विवाद अनुच्छेद 131 के अन्तर्गत आता है। सरकारों के बीच मात्र झगड़े उस अनुच्छेद की स्कीम में नहीं आते। उन्हें अन्यत्र और न्यायालय की कार्यवाहियों की अपेक्षा कम शास्त्रोक्त और आबद्ध साधन से सुलझाना होगा। अनुच्छेद 131 का प्रयोजन ऐसे विवादों को सुलझाने के लिए एक मंच प्रस्तुत करना है जिनका विनिश्चय विधिक अधिकार के अस्तित्व या विस्तार पर निर्भर करता है। अनुच्छेद 131 केवल तभी लागू होता है जब विधिक अधिकार के अस्तित्व या विस्तार से संबंधित कोई विधिक न कि मात्र राजनैतिक विवाद्यक उत्पन्न होता है।"

11. **कर्नाटक राज्य** बनाम **भारत संघ और एक अन्य**[1] वाले मामले में मुख्य न्यायमूर्ति बेग ने निम्नलिखित कथन किया—

"यह स्मरणीय है कि अनुच्छेद 131 गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट की धारा 204 में द्रष्टव्य है। इस प्रकार उस धारा द्वारा प्रदत्त अधिकारिता गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 द्वारा स्थापित परिसंघीय ढांचे के एक भाग में से उद्‌भूत हुई थी। यह उस अधिनियम में उपलभ्य परिसंघवाद का एक टुकड़ा है। इसलिए इसका निर्वचन इस कारणवश भी व्यापक रूप से और उदारतापूर्वक किया जाना चाहिए ताकि आशयित उपचार किया जा सके। मेरी राय में, जब कभी किसी राज्य और अन्य राज्य अथवा संघ के बीच संविधान के निर्वचन के प्रश्न पर मतभेद हो जिससे कि उसके बारे में विनिश्चय सरकार की शक्तियों की परिधि अथवा प्रयोग पर

[1] [1978] 2 उम० नि० प० 457=[1978] 2 एस० सी० आर० 1.

प्रभाव डालेगा जो कि राज्य के लक्षण हैं तो उसका आश्रय लिया जा सकता है। किसी कार्यवाही को कायम रखने के लिए इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता है यदि किसी राज्य की शक्तियां, जो कि कार्यपालिक, विधायी और न्यायिक शक्तियां होती हैं, विशिष्ट व्यक्तियों को प्रयुक्त की जाती हैं क्योंकि ऐसा किया जाना आवश्यक है? यह सही है कि किसी मंत्री द्वारा किया गया कोई दांडिक कार्य उसके शासकीय कर्त्तव्यों का भाग नहीं होता है। किन्तु यदि राज्य के अंगों में से कोई अंग उसका संज्ञान करने की अनन्य शक्ति का दावा करता है तो राज्य उसके अंगों में से किसी एक अंग की विधिक सक्षमता अथवा शक्तियों के विस्तार के बारे में विवाद में हितबद्ध हो सकता है जो कि उठाया जा सकता है।"

12. ऊपर निर्दिष्ट किए गए इस न्यायालय के विनिश्चयों के प्रकाश में सम्पूर्ण मामले पर सावधानीपूर्वक विचार करने पर हम ऐसा अनुभव करते हैं कि संविधान के अनुच्छेद 131 का आश्रय केवल उसी समय लिया जा सकता है जब विवाद एक ओर राज्य या राज्यों और दूसरी ओर भारत संघ के बीच उनके संवैधानिक संबंधों के संदर्भ में हो जो उनके बीच विद्यमान हैं और उससे उत्पन्न होने वाली शक्तियों, अधिकारों, कर्तव्यों उन्मुक्तियों, दायित्वों और असमर्थताओं आदि की बाबत हो। कोई विवाद जो कारखाने के किसी नियोजक की हैसियत में किसी राज्य और उत्पाद-शुल्क के अध्यधीन माल के विनिर्माता, मंजिली गाड़ी चलाने के लिए परमिटधारी, कोई व्यापारी या व्यवसायी जो सरकार के सामान्य कृत्यों से अनानुषंगिक कारबार करता हो, रेल सेवाओं का कोई उपभोक्ता आदि एक ओर किसी व्यक्तिगत पक्षकार की तरह और दूसरी ओर भारत संघ के बीच उद्भूत होने वाले विवाद का यह अर्थ लगाया जाएगा कि वह विवाद राज्य और संघ के बीच अपनी-अपनी शक्तियों के निर्वहन में उद्भूत हुआ है जिसके लिए संविधान के अनुच्छेद 131 का आश्रय लिया जाना है। संविधान के विनिर्माताओं का यह आशय कदापि नहीं रहा होगा कि इस प्रकृति का कोई सामान्य विवाद अनन्य रूप से उच्चतम न्यायालय द्वारा विनिश्चित किया जाए। यह स्मरण रखना ठीक है कि सप्रू समिति के संवैधानिक प्रस्तावों में भारत के परिसंघीय न्यायालय की स्थिति सुदृढ़ बनाने और उसके मूल अधिकारिता-पक्ष का विस्तार करने की सिफारिश की गई थी जिससे कि परिसंघीय न्यायालय संविधान के निर्वचन-कर्ता और संरक्षक का काम कर सके तथा परिसंघ के संवैधानिक एकक के बीच विवादों के अवधारण के लिए अधिकरण का कार्य कर सके। भारतीय

संवैधानिक सुधार संबंधी संयुक्त समिति की भी यही राय थी कि परिसंघीय न्यायालय को अनन्य रूप से मूल अधिकारिता प्रदान करने का उद्देश्य यह था कि परिसंघ और प्रांतों के बीच जो परिसंघ के संवैधानिक एकक हैं विनिर्दिष्ट प्रकार के विवाद किसी विशेष एकक के न्यायालय द्वारा विनिश्चित न किये जाएं बल्कि देश के सर्वोच्च अधिकरण द्वारा ही उनका न्याय-निर्णयन हो जो किसी भी संवैधानिक एकक के प्रभाव से बाहर हो। संविधान-समिति द्वारा उच्चतम न्यायालय के गठन और उसकी शक्तियों पर विचार करने और अपनी रिपोर्ट देने के लिए गठित विशेष समिति जिसमें श्रीयुत ए० वर्द्धाचारियर, अलादी कृष्णास्वामी अय्यर, बी० एल० मित्तर, के० एम० मुन्शी और बी० एन० राव थे, अपना यह सुझाव दिया कि "उच्चतम न्यायालय भी 1935 वाले संविधान के अधीन परिसंघीय न्यायालय की भांति संघ और किसी एकक तथा एक एकक और दूसरे एकक के बीच विवादों के न्याय-निर्णयन के लिए उपलब्ध सर्वोत्तम न्यायालय होगा और यह प्रस्थापना की कि न्यायालय को ऐसे विवादों में अनन्य रूप से मूल अधिकारिता प्राप्त होनी चाहिये"। (दि फ्रेमिंग आफ इण्डियाज कांस्टिट्यूशन का श्री बी० शिवराव द्वारा किया गया अध्ययन पृष्ठ 483)। उपरोक्त के प्रकाश में विचार करने पर यह निष्कर्ष देना अनिवार्य हो जाता है कि इस मामले में अंतर्वलित प्रकृति के विवाद उस समय संविधान के विनिर्माताओं के ध्यान में नहीं रहे होंगे जब उन्होंने संविधान के लिए अनुच्छेद 131 को अपनाया था।

13. वर्तमान मामले में राजस्थान राज्य द्वारा रेल प्रशासन के माध्यम से प्रेषित माल को कारित क्षति मद्दे वाद लाने का अधिकार भारत संघ और राज्य सरकार के बीच विवाद नहीं है। राज्य सरकार ने किसी अन्य माल के प्रेषिती की तरह रेल प्रशासन के माध्यम से प्रेषित माल के प्रतिकर के लिए दावा किया है और वाद में उसकी सफलता या विफलता तथ्यों के सबूत पर निर्भर करती है जिसे उसी रीति से स्थापित किया जाना है जिसमें कोई प्राइवेट व्यक्ति स्थापित करता है। यह ऐसा मामला भी नहीं है जिसमें भारत संघ और राजस्थान राज्य के बीच संविधान के अनुच्छेद 299 की अपेक्षाओं के अनुसार कोई औपचारिक प्रारूपिक संविदा की गई होती। यह केवल वाणिज्यिक संविदा है जिसके अधीन राजस्थान राज्य का कोई अधिकारी मामले के परिदान या दावा करने के किसी सामान्य प्रेषिती के रूप में ही हकदार था। यह उल्लेख किया जा सकता है कि संविधान के अनुच्छेद 131 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता संविधान के अन्य उपबंधों के अध्यधीन है। संविधान के अनुच्छेद 298 के अधीन संघ और प्रत्येक राज्य

की कार्यपालक शक्तियों का विस्तार, व्यापार या कारबार करने और किसी प्रयोजन के लिए सम्पत्ति का अर्जन, धारण और व्ययन तथा संविदा करने पर भी होगा। उस अनुच्छेद में आगे यह भी उपबन्ध किया गया है कि जहां तक वह ऐसा व्यापार या कारबार या प्रयोजन नहीं है जिसके संबंध में संसद् विधि बना सकती है, वहां तक संघ की उक्त कार्यपालक शक्ति प्रत्येक राज्य में उस राज्य के विधान के अधीन होगी और जहां तक वह ऐसा व्यापार या कारबार या प्रयोजन नहीं है जिसके संबंध में राज्य विधानमण्डल विधि बना सकता है वहां तक प्रत्येक राज्य की उक्त कार्यपालक शक्ति संसद् के विधान के अधीन होगी। इस मामले में अंतर्वलित दावा भारतीय रेल अधिनियम, 1890 की धारा 80 पर आधारित है। उस धारा के अधीन किसी यात्री की जीवन-हानि या उसकी दैहिक क्षति अथवा जीव-जन्तुओं या माल की हानि, नुकसान, नाश या अपरिदान के प्रतिकर के लिए वाद यात्री या जीव-जन्तु या माल एक ही रेल प्रशासन की पटड़ी पर एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन तक बुक किये गये थे तो उस रेल प्रशासन के विरुद्ध संस्थित किया जा सकेगा; यदि यात्री या जीव-जन्तु या माल दो या अधिक रेल प्रशासनों की रेल पारगामी रूप से बुक किये गये थे तो उस रेल प्रशासन के विरुद्ध संस्थित किया जा सकेगा जिससे यात्री ने, यथास्थिति अपना पास अभिप्राप्त किया था या अपना टिकट खरीदा था या जिसे जीव-जन्तु या माल वहन किये जाने के लिये सुपुर्द किये गये थे या उस रेल प्रशासन के विरुद्ध संस्थित किया जा सकेगा जिसके रेल पर गंतव्य स्टेशन पर या वह हानि, क्षति, नाश, नुकसान या क्षय घटित हुआ था और इनमें से किसी दशा में वाद ऐसे न्यायालय में संस्थित किया जा सकेगा जिसकी अधिकारिता उस स्थान पर है जहां से यात्री ने यथास्थिति, अपना पास अभिप्राप्त किया था या अपना टिकट खरीदा था या वहन के लिए जीव-जन्तु या माल सुपुर्द किये थे या उस स्थान पर है जहां गंतव्य स्टेशन है या वह हानि, क्षति, नाश, नुकसान या क्षय घटित हुआ था। भारतीय रेल अधिनियम, 1890 की धारा 80 से यह उपदर्शित होता है कि उसके अधीन किया गया दावा आवश्यक रूप से सम्बद्ध रेल प्रशासन के विरुद्ध किया गया दावा है। भारत संघ को मुकदमे में वाद के पक्षकार के रूप में सम्मिलित किया गया है जो संविधान के अनुच्छेद 300 के अनुसार भारतीय रेल का स्वामी है। तथापि, उपविधि विवाद को सम्बद्ध रेल प्रशासन और वाद संस्थित करने वाले व्यक्ति के बीच का विवाद मानता है। इन कार्यवाहियों के पक्षकारों में से किसी ने भारतीय रेल अधिनियम, 1890 के उपबन्धों के इन कार्यवाहियों को लागू किये जाने की बाबत प्रश्नगत नहीं किया है। इसलिये यह अभिनिर्धारित करना कठिन है कि इन कार्य-

वाहियों में ऐसा कोई प्रश्न है जो संविधान के अनुच्छेद 131 के कार्यक्षेत्र के भीतर हो ।

14. इसलिए, उच्च न्यायालय और जिला न्यायाधीश ने यह ठीक ही अभिनिर्धारित किया कि वाद पर जिला न्यायालय में विचार किया जा सकता था ।

15. पूर्वगामी कारणों से, यह विशेष इजाजत पिटीशन असफल होता है और खारिज किया जाता है ।

पिटीशन खारिज किया गया ।

द्वि०/भू०

———

अजय दीक्षित, राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम के अधीन निरुद्ध (जिला कारागार, आगरा में बंदीकृत) अपने वाद-मित्र और पिता श्री राम नारायण दीक्षित की मार्फत

बनाम

उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य

(26 सितम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति ई० एस० वेंकटरामय्या और सव्यसाची मुखर्जी)

राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम, 1980 (1980 का 65)—धारा 3(2)—उक्त धारा के अधीन निरोध—आदेश में वर्णित आधारों में से एक आधार पुराना और घिसा-पिटा होना—अन्य आधार भी दुर्भाग्यपूर्ण थे—आधारों में लगाए गए अभिकथनों के परिणामस्वरूप, ऐसी कोई आशंका उत्पन्न नहीं होती कि समाज के साधारण रहन-सहन में आतंक फैल जाएगा—इस प्रकार निरुद्ध व्यक्ति का उक्त धारा के अधीन निरोध न्यायोचित नहीं है।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन दायर किए गए इस पिटीशन में पिटीशनर ने राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम, 1980 के अधीन जिला कारागार, आगरा में अपने पुत्र (पिटीशनर) के निरोध पर आक्षेप किया है। इस मामले में जिला मजिस्ट्रेट, आगरा ने एक निरोध आदेश पारित किया था और उसकी तामील पिटीशनर पर राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम की धारा 3 के अधीन छह भिन्न-भिन्न आधारों पर की गई थी। इन आधारों में पिटीशनर को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 307, धारा 307/34, आयुध अधिनियम की धारा 25/27, भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 और धारा 342/286 के अधीन सिद्धदोष किया गया था और कारावास में निरुद्ध कर लिया गया था। इस पर पिटीशनर ने सलाहकार बोर्ड के समक्ष अभ्यावेदन प्रस्तुत किया। किन्तु राज्य सरकार ने निरुद्ध व्यक्ति का अभ्यावेदन नामंजूर कर दिया। पिटीशनर ने इसके विरुद्ध यह अभिकथन करते हुए उच्चतम न्यायालय के समक्ष पिटीशन फाइल किया कि उसे यथापेक्षित उन प्रक्रियाओं तथा औपचारिकताओं को उपलब्ध नहीं कराया गया है, जो कि

अधिनियम के अधीन उसे लागू होती थीं और आदेश में जो आधार वर्णित किए गए थे, वे भ्रामक, अपर्याप्त तथा असद्‌भावपूर्ण थे। उच्चतम न्यायालय द्वारा पिटीशन मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम, 1980 की धारा 3 की उपधारा (2) केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों की ऐसी दशा में इस दृष्टिकोण से सशक्त बनाती है कि यदि किसी व्यक्ति के बारे में उनका यह समाधान हो जाता है कि अन्य बातों के साथ-साथ उसे लोक व्यवस्था बनाए रखने के सम्बन्ध में प्रतिकूल किसी रीति में कार्यवाही करने से निवारित रखा जाना है, तो यह आवश्यक है कि ऐसा करने के लिए एक आदेश निकाला जाए जिसमें ऐसे व्यक्ति को यह निदेश दिया गया हो कि उसे हिरासत में ले लिया जाए। (पैरा 3)

निवारक निरोध प्रसामान्य प्रक्रिया का एक अपवाद है। इसे पर्याप्त रक्षोपायों सहित अनुच्छेद 22(3)(ख) के अधीन अत्यन्त सीमित प्रयोजन हेतु मंजूर तथा प्राधिकृत किया गया है। निवारक निरोध की उस शक्ति के प्रयोग के बारे में यह आवश्यक है कि उसका प्रयोग अत्यन्त सतर्कता और ध्यानपूर्वक किया जाए। संपूर्ण सरकार का प्रयोजन सामान्य कल्याण की अभिवृद्धि करना है और इस बारे में यह आवश्यक है कि वह सामान्य भलाई हेतु कार्य करे और इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि वैयक्तिक अधिकारों की संरक्षा की जाए जहां तक कि वह समाज की सुरक्षा के लिए सुसंगत हैं और ऐसा वातावरण पैदा किया जाए जिसमें कि समुदाय का उचित कार्यकरण कम से कम संकटापन्न हो। व्यक्ति की संरक्षा के लिए प्रक्रियागत रक्षोपायों के बारे में लिखित विधि का पालन किसी लोक पदाधिकारी का प्रसामान्य तथा उच्च कर्तव्य है। किन्तु सभी परिस्थितियों में यह सर्वोपरि नहीं होता। आत्म परिरक्षण तथा राष्ट्रीय सुरक्षा सम्बन्धी विधि में प्रायः उच्चतर पूर्विकता का दावा किया गया है। (पैरा 5)

निरोध को कायम रखने के लिए घिसी-पिटी घटनाएं भी विधिमान्य आधार गठित नहीं कर सकती। जब इन आधारों पर किसी निरोध पर आक्षेप किया जाता है कि घिसे-पिटे और विसंगत आधार निरोध के सम्बन्ध में आधार बनाए गए थे, तो निरुद्ध व्यक्ति निर्मुक्त किए जाने का हकदार है और उस हद तक उक्त आदेश आधारों की पर्याप्तता के आधार पर न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन नहीं होता और न ही वह आधारों के सही होने के आधार पर अध्यधीन होता है, बल्कि वह केवल आधारों के सुसंगत होने के

बारे में अध्यधीन होता है जो कि न्यायिक संवीक्षा के अधीन आएंगे । (पैरा 14)

निरोध का एक आधार पुराना और घिसा-पिटा था तथा विसंगत है जहां तक कि निरुद्ध व्यक्ति को निरोध आदेश के पारित किए जाने से पूर्व आरोप से दोषमुक्त कर दिया गया था । निरोध आदेश में वर्णित अन्य आधार भी निस्सन्देह दुर्भाग्यपूर्ण हैं और निरुद्ध व्यक्ति के बारे में अभिकथित आचरण अनुचित है । यदि ऐसे आचरण सही हैं तो वे ऐसी प्रकृति के नहीं हैं जिससे कि लोक व्यवस्था संकटापन्न हो जाएगी । (पैरा 15)

प्रत्येक मामले में यह आवश्यक है कि न तो आधारों के पर्याप्त होने और न ही उनके सही होने की जांच का अभिनिश्चय करने के लिए तथ्यों की जांच की जाए बल्कि आवश्यक यह है कि अभिकथित आधारों की प्रकृति की जांच की जाए और यह देखा जाए कि क्या ये तथ्य इस बात पर विचार करने के लिए कि क्या निरुद्ध व्यक्ति का निरोध लोक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक है, सुसंगत है अथवा नहीं । (पैरा 16)

निरोध-आधार ऐसी प्रकृति के नहीं हैं जिनके परिणामस्वरूप ऐसी आशंका उत्पन्न हो कि इससे समुदाय का सुचारु रहन-सहन आतंकित हो जाएगा । इसलिए अधिनियम की धारा 3(2) के उपबंधों के अधीन निरुद्ध व्यक्ति का निरोध न्यायोचित नहीं था । (पैरा 17)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1983]	(1983) 4 एस० सी० सी० 443. **कमलाकर प्रसाद चतुर्वेदी बनाम मध्य प्रदेश राज्य और एक अन्य**	14
[1983]	(1983) 4 एस० सी० सी० 301: **अलीजां मियां बनाम जिला मजिस्ट्रेट, धनबाद और अन्य ;**	13
[1982]	(1982) एस० सी० सी० 538: **जय माला बनाम गृह-सचिव, जम्मू-कश्मीर सरकार;**	12
[1975]	[1975] 2 उम० नि० प० 1147—(1975) 4 एस० सी० सी० 143: **राम रंजन चटर्जी बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य;**	11

[1974] [1974] 3 उम० नि० प० 673=[1970] 3 एस० सी० आर० 288:
अरुण घोष बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य 10,15

[1966] [1966] 1 एस० सी० आर० 709:
डा० राम मनोहर लोहिया बनाम बिहार राज्य और अन्य. 6

आरम्भिक अधिकारिता: 1984 का रिट पिटीशन (दाण्डिक) सं० 916.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल किया गया पिटीशन।

पिटीशनरों की ओर से सर्वश्री सुनील के० जैन और दिवान बालक राम

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री मनोज स्वरूप और दलवीर भण्डारी।

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति सव्यसाची मुखर्जी ने दिया।

न्यायाधिपति मुखर्जी—

संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इस पिटीशन में श्री राम नारायण दीक्षित ने राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम, 1980 के अधीन जिला कारागार, आगरा में अपने पुत्र अजय दीक्षित के निरोध पर आक्षेप किया है। जिला मजिस्ट्रेट, आगरा ने एक निरोध आदेश पारित किया था और उसकी तामील अजय दीक्षित पर (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'निरुद्ध व्यक्ति' कहा गया है) राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिनियम' कहा गया है) की धारा 3 के अधीन छह भिन्न-भिन्न आधारों पर की गई थी। उस निर्णय में जिन आधारों का वर्णन किया गया था, वे इस प्रकार हैं—

"1. कि 10 अप्रैल, 1981 को 10.30 बजे सायं आपने अपने साथियों के साथ मिलकर फिरोजपुर के निवासी श्री कन्हैया लाल शर्मा को घेर लिया और उसकी मृत्यु कारित करने के आशय से उन पर गोली चलाई, किन्तु वह कदाचित् बच निकला। इस संबंध में भारतीय दण्ड संहिता की धारा 307 के अधीन एक मामला पुलिस थाने में दर्ज किया गया और वह तुम्हारे विरुद्ध न्यायालय में विचारण हेतु लम्बित है।

2. कि 27 सितम्बर, 1982 को 3.10 बजे सायं तुमने फिरोज़ाबाद नामक नगर में अपने घर में गुण्डे इकट्ठे किए और जब पुलिस की टुकड़ी गुण्डों को गिरफ़्तार करने के लिए वहां पहुंची तो तुमने पुलिस टुकड़ी पर गोली चलाई जिसके परिणामस्वरूप तुम्हारे विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 307/34 के अधीन एक मामला न्यायालय में विचारण हेतु लम्बित है।

3. कि 27 सितम्बर, 1982 को फिरोजाबाद नगर में पुलिस ने तुम्हें गिरफ्तार कर लिया और एक देसी तमंचा और दो चलने-योग्य कारतूस, जो कि बिना अनुज्ञप्ति के थे, तुम्हारे कब्जे में से बरामद हुए, जिनकी बाबत आयुध अधिनियम की धारा 25/27 के अधीन तुम्हारे खिलाफ एक मामला न्यायालय में विचारणार्थ लम्बित है।

4. कि 15 जनवरी, 1983 को 5.00 बजे सायं तुमने अपने भाई के साथ मिलकर फिरोज़ाबाद के निवासी श्री संजी कुमार पालीवाल के भाई श्री नरेश पालीवाल को मार दिया। इस संबंध में भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के अधीन तुम्हारे खिलाफ एक मामला पुलिस थाने में रजिस्ट्रीकृत किया गया और वह न्याया-लय में विचारण हेतु लम्बित है।

5. कि 31 अक्तूबर, 1983 को श्री संजी कुमार पालीवाल ने थाना फिरोजाबाद (उत्तरी) में यह रिपोर्ट दर्ज कराई कि वह फोटो-ग्राफी की वृत्ति कर रहा है। 12-13 दिन पूर्व एक लड़का उसे फोटो खिचवाने के प्रयोजनार्थ एक कमरे में ले गया जिसमें कि तुम और तुम्हारे साथी मौजूद थे और तुमने रिवालवर की नोक पर श्रीमती संजीवकुमार पालीवाल को मजबूर करके उसकी एक नंगी फोटो अनैतिक कार्य करते हुए खिचाई जिसमें उमेश और संजीव कुमार गुप्ता शिकार बनाए गए थे। इस बारे में तुम्हारे विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 342/286 के अधीन एक मामला रजिस्ट्रीकृत किया गया और वह विचारणाधीन है।

6. कि 26 फरवरी, 1984 को लगभग 5.00 बजे सायं तुमने अपने साथियों के साथ मिलकर फिरोजाबाद नगर में फिरोजा-बाद के निवासी श्री जय कुमार जैन पर मिट्टी का तेल छिड़क कर और माचिस की तीली जलाकर उसकी हत्या करने का प्रयत्न किया ताकि तुम अपना तथाकथित रुपया वसूल कर सको, और इसकी

बाबत भारतीय दण्ड संहिता की धारा 307 के अधीन तुम्हारे खिलाफ एक मामला रजिस्ट्रीकृत किया गया और वह अभी विचारणाधीन है।"

2. उपर्युक्त आधारों पर जिला मजिस्ट्रेट ने तारीख 29 फरवरी, 1984 वाले अपने आदेश द्वारा यह कथन कि उसका समाधान हो गया है कि उक्त अजय दीक्षित के बारे में यह अधिसंभाव्य था कि वह ऐसी रीति में कार्य करेगा जो कि लोक व्यवस्था को बनाए रखने के प्रतिकूल होगी और यह कि यह आवश्यक हो गया था कि उसे निरुद्ध कर लिया जाए जिससे कि यह उद्देश्य पूरा हो सके कि उसे लोक व्यवस्था के बनाए रखने से संबंधित प्रतिकूल कार्यवाही करने से रोका जा सके। उक्त आदेश राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम, 1980 की धारा 3 की उपधारा (2) के अधीन पारित किया गया था और पिटीशनर को 29 फरवरी, 1984 से निरुद्ध कर लिया गया था। 14 मार्च, 1984 को पिटीशनर ने सलाहकार बोर्ड के समक्ष अपना अभ्यावेदन पेश किया। 23 मार्च, 1984 को राज्य सरकार ने निरुद्ध व्यक्ति के अभ्यावेदन को नामंजूर कर दिया।

3. पिटीशनर ने यह अभिकथन किया कि अधिनियम के अधीन जिन प्रक्रियाओं तथा औपचारिकताओं का उपबंध किया गया है, उन्हें उसे उपलभ्य नहीं किया गया था, हालांकि वे निरुद्ध व्यक्ति के मामले में लागू होती थीं। पिटीशनर का यह कहना है कि निरुद्ध व्यक्ति को हिरासत में ले लिया गया था और आदेश में जो आधार वर्णित किए गए थे वे भ्रामक, अपर्याप्त तथा असद्भावपूर्ण थे और चाहे जो भी हो, वे निरुद्ध व्यक्ति को लोक व्यवस्था बनाए रखने के सम्बन्ध में हिरासत में लिए जाने के लिए विसंगत थे। अधिनियम की धारा 3 की उपधारा (2) केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों को ऐसी दशा में इस दृष्टिकोण से सशक्त बनाती है कि यदि किसी व्यक्ति के बारे में उनका यह समाधान हो जाता है कि "अन्य बातों के साथ-साथ उसे लोक व्यवस्था बनाए रखने के संबंध में प्रतिकूल किसी रीति में कार्यवाही करने से निवारित रखा जाना है" तो यह आवश्यक है कि ऐसा करने के लिए एक आदेश निकाला जाए जिसमें ऐसे व्यक्ति को यह निदेश दिया गया हो कि उसे हिरासत में ले लिया जाए।

4. ऐसे विनिश्चय देखने में आये हैं जिनमें सरकार में निहित निवारक निरोध संबंधी इस किंचित कठोर शक्ति की सीमाओं तथा परिधि पर विचार किया गया है और जो शक्ति संविधान के अनुच्छेद 22(3), (4) तथा

(5) के उपबंधों के अधीन मंजूर की गई है। विभिन्न ऐसे प्रक्रिया संबंधी रक्षोपाय विद्यमान हैं जैसे कि विशिष्ट समय के भीतर निरुद्ध व्यक्ति को निरोध के आधारों की जानकारी देना और उसे इस बारे में सूचना प्रदान करना कि वह विशिष्ट समय के भीतर निरोध के विरुद्ध अभ्यावेदन प्रस्तुत कर सकता है और इसके अतिरिक्त यह कि उक्त अभ्यावेदन सलाहकार बोर्ड के समक्ष रखा जाना चाहिए और सलाहकार बोर्ड की राय सम्बद्ध सरकार के सामने रखी जानी चाहिए और तत्पश्चात् विनिश्चय किया जाना चाहिए। पिटीशनर ने अधिनियम के अधीन प्रक्रियागत रक्षोपायों के अननुपालन संबंधी कुछ अन्य प्रकथन भी किए। इस पिटीशन में मुख्य आधार यह है कि पिटीशनर को उन अधिकारों की सूचना नहीं दी गई थी जो कि उसे उपलभ्य थे और न ही उसे तत्संबद्ध कारण बतलाए गए थे अथवा उसके अभ्यावेदन पर पारित आदेश से अवगत कराया गया था। पिटीशन में तथा प्रत्यर्थियों की ओर से फाइल किए गए शपथपत्रों में किए गए प्रकथनों को ध्यान में रखते हुए इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में यह आवश्यक नहीं है कि इन पर विस्तृत रूप से विचार किया जाए।

5. निवारक निरोध प्रसामान्य प्रक्रिया का एक अपवाद है। इसे पर्याप्त रक्षोपायों सहित अनुच्छेद 22(3) (ख) के अधीन अत्यन्त सीमित प्रयोजन हेतु तथा मंजूर तथा प्राधिकृत किया गया है। निवारक निरोध की उस शक्ति के प्रयोग के बारे में यह आवश्यक है कि उसका प्रयोग अत्यन्त सतर्कता और ध्यानपूर्वक किया जाए। हमें हमारा संविधान लागू होता है और हमारे संविधान में सरकार से संबंधित विचारधारा एवं जीवनयापन की एक रीति समाविष्ट है। इस संविधान के कार्यकरण में यह अपेक्षा की गई है कि उन व्यक्तियों के बीच जो कि शक्ति का प्रयोग करते हैं तथा जिन पर अथवा जिनकी बाबत ऐसी शक्ति का प्रयोग किया जाता है, परस्पर सूझबूझ होनी चाहिए। सम्पूर्ण सरकार का प्रयोजन सामान्य कल्याण की अभिवृद्धि करना है और इस बारे में यह आवश्यक है कि वह सामान्य भलाई हेतु कार्य करे और इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि वैयक्तिक अधिकारों की संरक्षा की जाए जहां तक कि वह समाज की सुरक्षा के लिए सुसंगत है और ऐसा वातावरण पैदा किया जाए जिसमें कि समुदाय का उचित कार्यकरण कम से कम संकटापन्न हो। इन उपबंधों के बारे में यह चाहिए कि उनका परिशीलन इस रूप में किया जाए कि उनसे शक्ति का अनुदान विवक्षित हो और साथ ही साथ उस शक्ति के उपयोग को सीमित रखा जाए। व्यक्ति की संरक्षा के लिए प्रक्रियागत रक्षोपायों के बारे में लिखित विधि का पालन किसी लोक पदाधिकारी का प्रसामान्य तथा उच्च कर्तव्य है। किन्तु सभी परिस्थितियों

में यह सर्वोपरि नहीं होता। आत्म परिरक्षण तथा राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी विधि में प्राय: उच्चतर पूर्विकता का दावा किया गया है। "लिखित विधि के अति सतर्कता से पालन द्वारा अपने देश को खो देना स्वयं विधि का विनाश करना होगा जिसके अंतर्गत जीवन, स्वाधीनता, सम्पत्ति और इस प्रकार ऐसे सभी व्यक्ति जो कि उनका उपयोग हमारे साथ कर रहे हैं, माध्यमों के सामने उद्देश्य को अनुचित रीति से बलि चढ़ाना होगा," टामस जैफरसन राइटिंग्स (वाशिंगटन एडीशन) 5, पृष्ठ 542-535। कभी-कभी कार्यपालिका को सामान्य निरोध हेतु प्रसामान्य रक्षोपायों के बिना कार्यवाही करनी पड़ती है और ऐसी दशा में निवारक निरोध का आश्रय लेना पड़ता है, जबकि आवश्यकता द्वारा ऐसी मांग की जाती, किन्तु जब न्यायिक पुनर्विलोकन में उससे अपेक्षा की जाए तो वह उसकी कार्यवाही का स्पष्टीकरण दे और दोषमुक्ति के लिए मांग करे।

6. 'विधि और व्यवस्था' और 'लोक हित' के बीच भेद सम्बन्धी प्रश्न न्यायिक विनिश्चयों में अनेक बार उद्भूत हुआ है। **डा० राम मनोहर लोहिया** बनाम **बिहार राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की एक सांविधानिक न्यायपीठ को इस संविवाद पर विचार भारत रक्षा नियम, 1962 के नियम 30(1)(ख) के संदर्भ में करना था। न्यायाधिपति सरकार ने, जो कि बहुमत का निर्णय सुनाने वालों में से एक थे, यह मत व्यक्त किया कि अत्यन्त तकनीकी मत अपनाना आवश्यक नहीं है, किन्तु हमें चाहिए कि यदि किसी व्यक्ति को कोई आदेश देने की साधारण प्रक्रिया द्वारा उसकी स्वाधीनता से वंचित किया जा सकता है तो उसे केवल तभी वंचित किया जा सकता है जब कि सम्बद्ध आदेश नियम के निबंधनों के अनुसार हो, और हमें चाहिए कि हम सारवान् विषय में अग्रसर हों। यदि निरोध को न्यायोचित ठहराने के प्रयोजन के लिए ऐसा पालन अपने आप में पर्याप्त है, तो अननुपालन का निश्चित रूप से तत्प्रतिकूल प्रभाव होगा। इस नियम का निरोध-आदेश में निर्देश मात्र यह दर्शित करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि 'विधि और व्यवस्था' से लोक व्यवस्था अभिप्रेत था। विद्वान न्यायाधिपति ने यह मत व्यक्त किया कि सम्बद्ध आदेश में निस्सन्देह एक अन्य निरोध-आधार अर्थात् कार्यवाहियों का निवारण और जहां तक ऐसा किया गया था, यह स्पष्टत: नियम के अन्तर्गत था। किन्तु इस बात के बावजूद इस आदेश को अवैध मानना होगा क्योंकि इसमें एक ऐसा आधार वर्णित किया गया था जिस पर कि निरोध

---

[1] [1966] 1 एस० सी० आर० 709.

सम्बन्धी वैध आदेश पारित किया जा सकता था, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता था कि किस रीति में और किस हद तक निरोध प्राधिकारी के मन पर विधिमान्य तथा अविधिमान्य आधारों का प्रभाव पड़ा था। निस्सन्देह, जैसी कि वर्तमान विधि प्रचलित है, यदि आधारों में से एक आधार भी अविधिमान्य है तो निरोध आदेश को मात्र उसी आधार पर अपास्त किया जा सकता है।

7. राष्ट्रीय सुरक्षा (द्वितीय संशोधन) अधिनियम, 1984 को राष्ट्रपति द्वारा 31 अगस्त, 1984 को अनुमति प्रदान की गई थी और उसमें यह उपबंध किया गया था कि यह समझा जाना चाहिए कि अधिनियम 21 जून, 1984 को प्रवृत्त हो गया था। राष्ट्रीय सुरक्षा (द्वितीय संशोधन) अधिनियम की धारा 2 के आधार से अधिनियम की धारा 5क इस प्रकार है—

*"5क. जहां कोई व्यक्ति धारा 3 के अधीन ऐसे निरोध-आदेश के, चाहे वह राष्ट्रीय सुरक्षा (दूसरा संशोधन) अधिनियम, 1984 के प्रारम्भ के पूर्व या उसके पश्चात् किया गया हो, अनुसरण में, जो दो या अधिक आधारों पर किया गया है, वहां ऐसे निरोध-आदेश के बारे में यह समझा जाएगा कि वह ऐसे आधारों में से प्रत्येक आधार पर अलग-अलग किया गया है और तदनुसार—

(क) ऐसे आदेश के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि वह केवल इस कारण अविधिमान्य या अप्रवर्तनीय है कि ऐसे आधारों में से एक या कुछ आधार—

(i) स्पष्ट नहीं हैं,

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"5A. Where a person has been detained in pursuance of an order of detention whether made before or after the commencement of the National Security (Second Amendment) Act, 1984 under section 3 which has been made in two or more grounds, such order of detention shall be deemed to have been made separately on each of such grounds and accordingly—

(a) Such order shall not be deemed to be invalid or inoperative merely because one or some of the grounds is or are—

(i) Vague,

(ii) विद्यमान नहीं हैं,

(iii) सुसंगत नहीं हैं,

(iv) उस व्यक्ति से सम्बद्ध नहीं है या उससे निकटतः सम्बद्ध नहीं हैं ; या

(v) किसी भी अन्य कारण से अविधिमान्य है, और इस कारण यह अभिनिर्धारित करना संभव नहीं है कि ऐसा आदेश करने वाली सरकार या अधिकारी का वैसा समाधान हो गया था जैसा कि शेष आधार या आधारों के प्रति धारा 3 में उपबंधित है और उसने निरोध-आदेश किया था ;

(ख) निरोध-आदेश करने वाली सरकार या अधिकारी के बारे में यह समझा जाएगा कि उसने उक्त धारा के अधीन निरोध-आदेश अपना वैसा समाधान हो जाने के पश्चात् किया था जैसा कि शेष आधार या आधारों के प्रति उस उपधारा से उपबंधित है ।"

8. यह अधिनियम विनिर्दिष्ट रूप से अधिनियम के संशोधित प्रभाग की धारा 5क के उपबंध को किसी निरोध-आदेश के मामले में लागू करता है चाहे वह राष्ट्रीय सुरक्षा (द्वितीय संशोधन) अधिनियम, 1984 के प्रारम्भ होने से पूर्व अथवा तत्पश्चात् पारित किया गया हो । इसलिए निरोध संबंधी

(ii) non-existent,

(iii) not relevant,

(iv) not connected or not proximately connected with such person, or

and it is not, therefore, possible to hold that the Government or officer making such order would have been satisfied as provided in section 3 with reference to the remaining ground or grounds and made the order of detention;

(b) the Government or officer making the order of detention shall be deemed to have made the order of detention under the said section after being satisfied as provided in that section with reference to the remaining ground or grounds."

इस आदेश में धारा 5क लागू होगी क्योंकि आदेश राष्ट्रीय सुरक्षा (द्वितीय संशोधन) अधिनियम, 1984 के प्रवृत्त होने से पूर्व पारित किया गया था।

9. न्यायाधिपति हिदायतुल्ला, जैसे कि मुख्य न्यायाधिपति उस समय थे, तथा न्यायाधिपति बछावत ने उक्त विनिश्चय में यह मत व्यक्त किया था कि निरोध प्राधिकारी का समाधान निरपेक्ष कसौटियों पर नहीं कसा जा सकता और न्यायालयों को ऐसे प्राधिकारियों पर अपीली शक्तियों का प्रयोग नहीं करना होगा और कोई ऐसा समुचित आदेश जो कि प्रत्यक्षदर्शने (आन इट्स फेस) सक्षम प्राधिकारी द्वारा सद्भावपूर्वक रूप से पारित किया गया था, ऐसे पिटीशन का सम्पूर्ण प्रत्युत्तर होगा जो कि बन्दी-प्रत्यक्षीकरण (हैबियस कार्पस) की रिट के लिए दायर किया गया था। किन्तु जब स्वयं आदेश से ऐसी परिस्थितियां दर्शित होती हैं जिनसे कि ऐसा सन्देह उत्पन्न होता है कि क्या सम्बद्ध अधिकारी ने स्वयं अपनी शक्तियों को अनुचित रूप से नहीं समझ लिया था, तो यहां रुककर सोच-विचार करने तथा जांच करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसी दशा में जांच बातों के पर्याप्त होने की खोज करने का दृष्टिकोण नहीं रखती बल्कि वह उक्त अधिकारी की शक्ति की कल्पनाओं को खोज करने का दृष्टिकोण रखती है। यदि उसके द्वारा पारित किया गया आदेश यह दर्शित करता था कि उसने यह समझा था कि उसकी शक्तियां ऐसी शक्तियों से अधिक व्यापक हैं जितनी कि वे वस्तुतः थीं, तो आदेश सुचारु आदेश बनने में असफल हो जाएगा। जब नागरिक की स्वाधीनता प्राधिकारी की परिधि के अन्तर्गत अधिरोपित की जाती है और न्यायालयों द्वारा संवीक्षा वर्जित कर दी जाती है, तो निश्चित रूप से कार्यवाही न केवल विधि की अधिष्ठायी अध्यपेक्षाओं का अनुवर्तन करेगी बल्कि उसे ऐसे प्ररूपों सहित होना चाहिए केवल जो सार को उपदर्शित कर सकते हैं। विद्वान न्यायाधिपति ने आगे यह मत व्यक्त किया कि 'विधि का' उल्लंघन सदैव 'ग्रवस्था' पर प्रभाव डालता है किन्तु इससे पूर्व कि उसके बारे में यह कहा जाए कि वह 'लोक व्यवस्था' पर प्रभाव डालता है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह समुदाय अथवा व्यापक रूप से जनता को प्रभावित करता हो। हमें तीन संकेन्द्रित गोलाकारों की कल्पना करनी चाहिए जिनमें से सबसे बड़ा 'विधि और व्यवस्था' का निरूपण करता हो, अगला 'लोक व्यवस्थ' को निरूपित करता हो और लघुतम 'राज्य की सुरक्षा' को निरूपित करता हो। हो सकता है कि कोई अधिनियम 'विधि और व्यवस्था' पर प्रभाव डालता हो, किन्तु वह 'लोक व्यवस्था' पर इस रूप में प्रभाव न डालता हो जिसमें कि कोई अधिनियम 'लोक व्यवस्था' पर प्रभाव डालता है किन्तु वह 'राज्य की सुरक्षा' पर

प्रभाव नहीं डालता है। इसलिए इन अभिव्यक्तियों का उपयोग करने में हमें सावधानी बरतनी चाहिए।

10. **अरुण घोष** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय में प्रश्न यह था कि क्या जो आधार वर्णित किए गए थे, उनके सम्बन्ध में यह अर्थान्वयन किया जा सकता है कि वे लोक व्यवस्था का भंग करते हैं और इस नाते निरोध आदेश विधिमान्य रूप से रचित किया जा सकता था। वहां अपीलार्थी ने दो सम्मानयुक्त युवा महिलाओं का उत्पीड़न किया था और उनके पिता की जान लेने के लिए उसे आतंकित किया था और दो अन्य व्यक्तियों पर हमला किया था। उसे निवारक निरोध अधिनियम, 1950 की धारा 3(2) के अधीन इस हेतु निरुद्ध रखा गया था कि उसे लोक व्यवस्था को बनाए रखने के प्रति विद्वेषपूर्ण रीति से कार्य करने से निवारित किया जाए। इस न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यह प्रश्न कि क्या किसी व्यक्ति ने मात्र विधि और व्यवस्था का भंग किया है, अथवा ऐसी रीति में कार्य किया है, जिसके सम्बन्ध में यह अधिसंभाव्य है कि उससे लोक व्यवस्था का भंग हो जाएगा, यह कोटि संबंधी तथा समाज पर उस कार्य की व्याप्ति के विस्तार का प्रश्न है। इसकी कसौटी यह : है क्या इसके परिणामस्वरूप समुदाय के जीवन के व्यवस्थित स्तर पर आघात पहुंचता है जिससे कि वह लोक व्यवस्था के भंग की कोटि में आता है अथवा क्या यह समाज की परिशांति को प्रभावित किए बिना किसी व्यक्ति मात्र पर प्रभाव डालता है। इस न्यायालय ने उस मामले में यह निष्कर्ष निकाला कि अपीलार्थी का आचरण चाहे कितना ही आतंक उत्पन्न करने वाला क्यों न हो, उससे ऐसी स्थिति में कोई वृद्धि नहीं होती है, जिसके बारे में यह कहा जा सके कि व्यापक रूप से समुदाय में हलचल पैदा की जा रही थी। इसलिए उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि वह लोक व्यवस्था के भंग सम्बन्धी आशंका की कोटि में आता है और इसीलिए वह दोषमुक्त किए जाने का हकदार था।

11. **राम रंजन चटर्जी** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा इस मुद्दे पर विधि का कथन इस प्रकार किया गया था :—

---

[1] [1974] 3 उम० नि० प० 673=[1970] 3 एस० सी० आर० 288.

[2] [1975] 2 उम० नि० प० 1147=[1975] 4 एस० सी० आर० 143.

"यह स्मरण किया जा सकता है कि गुण की दृष्टि से वे कार्य जिनसे 'विधि और व्यवस्था' पर प्रभाव पड़ता है, ऐसे कार्यों से भिन्न नहीं हैं जिनसे 'लोक व्यवस्था' पर प्रभाव पड़ता है। वास्तव मे शांति और व्यवस्थित प्रशांति की स्थिति, जो सरकार द्वारा आंतरिक विधियों और विनियमों के पालन कराए जाने अथवा प्रवर्तन के परिणामस्वरूप विद्यमान रहती है, 'विधि और व्यवस्था' और लोक व्यवस्था के संविचार का एक सामान्य लक्ष्य है और हर प्रकार की अव्यवस्था और विधि के उल्लंघन से उस व्यवस्थित प्रशांति पर प्रभाव पड़ता है। जैसा कि अरुण घोष **बनाम** पश्चिमी बंगाल राज्य ([1974] 3 उम० नि० प० 673=[1970]3 एस० सी० आर० 288) वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा बताया गया है, 'विधि और व्यवस्था' और 'लोक व्यवस्था' के क्षेत्रों के बीच विभेद डिग्री और समाज प्रश्नगत कार्य के प्रभाव के विस्तार का है। समुदाय के जन-जीवन को छिन्न-भिन्न करने के कार्य की सक्षमता से ही लोक व्यवस्था के बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। यदि अपने प्रभाव में उल्लंघन केवल प्रत्यक्षतः अन्तर्वलित कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है, जैसा कि लोगों के विस्तृत दायरे से विभेद करने पर होता है तो इससे केवल विधि और व्यवस्था की ही समस्या उत्पन्न होगी। 'विधि और व्यवस्था' और 'लोक व्यवस्था' इन संकेन्द्रीय संविचारों का एक समान अन्य केन्द्रक हो सकता है किन्तु एक विशेष प्रकार की अव्यवस्था के परिणामस्वरूप हुई दुर्व्यवस्था से ही लोक व्यवस्था पर प्रभाव डालने वाले कार्य और विधि और व्यवस्था से संबंधित कार्य के बीच भेद किया जा सकता है।"

12. **जयमाला बनाम गृह सचिव, जम्मू-कश्मीर सरकार**[1] वाले मामले का भी अवलम्ब लिया गया था। उस मामले में भी एक घटना के आधार पर एक दाण्डिक मामला प्रारम्भ किया गया था। न्यायालय ने यह महसूस किया कि निरोध संबंधी आधार ऐसे आधार थे जिन पर कोई विधिमान्य निरोध आदेश कायम नहीं रखा जा सकता है। उसने आगे पृष्ठ 540 पर निम्नलिखित मत व्यक्त किया है —

---

[1] (1982) 2 एस० सी० सी० 538.

"किन्तु यह भी ध्यान में रखना उतना ही महत्वपूर्ण है कि विधि के प्रत्येक उल्लंघन को इतना बड़ा अपराध नहीं माना जा सकता कि उसे लोक व्यवस्था बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली कार्यवाही मान लिया जाए।... यदि विधि का प्रत्येक उल्लंघन जिसे दाण्डिक शक्ति प्राप्त है, अपने आप में निरोध का आधार है तो इस बात का बड़ा खतरा हो जाएगा कि सामान्य दाण्डिक विचारण और न्याय के लिए स्थापित दाण्डिक न्यायालयों का स्थान निरोध विधियां ले लेंगी जिसे प्रायः विधिविहीन विधि की संज्ञा दी जाती है।"

13. इस संबंध में **अलीजां मियां** बनाम **जिला मजिस्ट्रेट, धनबाद और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के सम्प्रेक्षणों को भी देखिए।

14. इसके अतिरिक्त निरोध को कायम रखने के लिए घिसी-पिटी घटनाएं भी विधिमान्य आधार गठित नहीं कर सकतीं। इस संबंध में **कमलाकर प्रसाद चतुर्वेदी** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य और एक अन्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय के सम्प्रेक्षणों को देखिए। जब इन आधारों पर किसी निरोध पर आक्षेप किया जाता है कि घिसे-पिटे और विसंगत आधार निरोध के संबंध में आधार बनाए गए थे, तो निरुद्ध व्यक्ति निर्मुक्त किए जाने का हकदार है और उस हद तक उक्त आदेश आधारों की पर्याप्तता के आधार पर न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन नहीं होता और न ही वह आधारों के सही होने के आधार पर अध्यधीन होता है, बल्कि वह केवल आधारों के सुसंगत होने के बारे में अध्यधीन होता है जो कि न्यायिक संवीक्षा के अधीन आएंगे।

15. पूर्वोक्त सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए, निरोध के आधार में वर्णित प्रथम आधार यह था कि निरुद्ध व्यक्ति ने अपने साथियों के साथ मिलकर कन्हैया लाल शर्मा नामक एक व्यक्ति को घेर लिया था और उसने 10 अप्रैल, 1981 को या उसके आसपास किसी तारीख को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 307 के अधीन अपराध कारित किया था। इस तथ्य के अलावा कि वह आधार पुराना और घिसा-पिटा था, यह विसंगत है जहां तक कि निरुद्ध व्यक्ति को निरोध आदेश के पारित किए जाने से पूर्व आरोप से दोषमुक्त कर दिया गया है। उसे 2 फरवरी, 1984 को दोषमुक्त कर

---

[1] (1983) 4 एस० सी० सी० 301.

[2] (1983) 4 एस० सी० सी० 443.

अजय दीक्षित, राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम के अधीन निरुद्ध (जिला कारागार, आगरा में बंदीकृत) अपने वाद-मित्र और पिता श्री राम नारायण दीक्षित की मार्फत

बनाम

उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य

(26 सितम्बर, 1984)

(न्यायाधिपति ई० एस० वेंकटरामय्या और सव्यसाची मुखर्जी)

राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम, 1980 (1980 का 65)—धारा 3(2)—उक्त धारा के अधीन निरोध—आदेश में वर्णित आधारों में से एक आधार पुराना और घिसा-पिटा होना—अन्य आधार भी दुर्भाग्यपूर्ण थे—आधारों में लगाए गए अभिकथनों के परिणामस्वरूप, ऐसी कोई आशंका उत्पन्न नहीं होती कि समाज के साधारण रहन-सहन में आतंक फैल जाएगा—इस प्रकार निरुद्ध व्यक्ति का उक्त धारा के अधीन निरोध न्यायोचित नहीं है ।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन दायर किए गए इस पिटीशन में पिटीशनर ने राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम, 1980 के अधीन जिला कारागार, आगरा में अपने पुत्र (पिटीशनर) के निरोध पर आक्षेप किया है । इस मामले में जिला मजिस्ट्रेट, आगरा ने एक निरोध आदेश पारित किया था और उसकी तामील पिटीशनर पर राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम की धारा 3 के अधीन छह भिन्न-भिन्न आधारों पर की गई थी । इन आधारों में पिटीशनर को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 307, धारा 307/34, आयुध अधिनियम की धारा 25/27, भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 और धारा 342/286 के अधीन सिद्धदोष किया गया था और कारावास में निरुद्ध कर लिया गया था । इस पर पिटीशनर ने सलाहकार बोर्ड के समक्ष अभ्यावेदन प्रस्तुत किया । किन्तु राज्य सरकार ने निरुद्ध व्यक्ति का अभ्यावेदन नामंजूर कर दिया । पिटीशनर ने इसके विरुद्ध यह अभिकथन करते हुए उच्चतम न्यायालय के समक्ष पिटीशन फाइल किया कि उसे यथापेक्षित उन प्रक्रियाओं तथा औपचारिकताओं को उपलभ्य नहीं कराया गया है, जो कि

"किन्तु यह भी ध्यान में रखना उतना ही महत्वपूर्ण है कि विधि के प्रत्येक उल्लंघन को इतना बड़ा अपराध नहीं माना जा सकता कि उसे लोक व्यवस्था बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली कार्यवाही मान लिया जाए।... यदि विधि का प्रत्येक उल्लंघन जिसे दाण्डिक शक्ति प्राप्त है, अपने आप में निरोध का आधार है तो इस बात का बड़ा खतरा हो जाएगा कि सामान्य दाण्डिक विचारण और न्याय के लिए स्थापित दाण्डिक न्यायालयों का स्थान निरोध विधियां ले लेंगी जिसे प्राय: विधिविहीन विधि की संज्ञा दी जाती है।"

13. इस संबंध में **अलीजां मियां** बनाम **जिला मजिस्ट्रेट, धनबाद और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के सम्प्रेक्षणों को भी देखिए।

14. इसके अतिरिक्त निरोध को कायम रखने के लिए घिसी-पिटी घटनाएं भी विधिमान्य आधार गठित नहीं कर सकतीं। इस संबंध में **कमलाकर प्रसाद चतुर्वेदी बनाम मध्य प्रदेश राज्य और एक अन्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय के सम्प्रेक्षणों को देखिए। जब इन आधारों पर किसी निरोध पर आक्षेप किया जाता है कि घिसे-पिटे और विसंगत आधार निरोध के संबंध में आधार बनाए गए थे, तो निरुद्ध व्यक्ति निर्मुक्त किए जाने का हकदार है और उस हद तक उक्त आदेश आधारों की पर्याप्तता के आधार पर न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन नहीं होता और न ही वह आधारों के सही होने के आधार पर अध्यधीन होता है, बल्कि वह केवल आधारों के सुसंगत होने के बारे में अध्यधीन होता है जो कि न्यायिक संवीक्षा के अधीन आएंगे।

15. पूर्वोक्त सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए, निरोध के आधार में वर्णित प्रथम आधार यह था कि निरुद्ध व्यक्ति ने अपने साथियों के साथ मिलकर कन्हैया लाल शर्मा नामक एक व्यक्ति को घेर लिया था और उसने 10 अप्रैल, 1981 को या उसके आसपास किसी तारीख को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 307 के अधीन अपराध कारित किया था। इस तथ्य के अलावा कि वह आधार पुराना और घिसा-पिटा था, यह विसंगत है जहां तक कि निरुद्ध व्यक्ति को निरोध आदेश के पारित किए जाने से पूर्व आरोप से दोषमुक्त कर दिया गया है। उसे 2 फरवरी, 1984 को दोषमुक्त कर

---

[1] (1983) 4 एस० सी० सी० 301.

[2] (1983) 4 एस० सी० सी० 443.

दिया गया था जबकि निरोध आदेश 29 फरवरी, 1984 को पारित किया गया था। प्रत्यर्थियों ने अपने प्रति-शपथपत्र में इस स्थिति के प्रति विवाद नहीं किया है किन्तु यह कथन किया है कि जानकारी निरोध अथवा सिफारिश करने वाले प्राधिकारी को प्राप्त नहीं हुई थी। यह दुर्भाग्यपूर्ण है। निरोध आदेश में वर्णित अन्य आधार भी निस्सन्देह दुर्भाग्यपूर्ण हैं और निरुद्ध व्यक्ति के बारे में अभिकथित आचरण अनुचित है। यदि ऐसे आचरण सही हैं तो वे ऐसी प्रकृति के नहीं हैं जिससे कि संभवत: 'लोक व्यवस्था' संकटापन्न हो जाएगी। सम्बद्ध घटना के बारे में यह अभिकथन किया गया था कि वह 31 अक्तूबर, 1983 से दस या बारह दिन पूर्व घटित हुई थी तथापि निरोध आदेश उससे पर्याप्त समय पश्चात् अर्थात् फरवरी, 1984 में पारित किया गया था। कतिपय दाण्डिक आरोपों में जिनका उल्लेख आधार सं० 2, 3, 4 और 5 में किया गया है, निरुद्ध को गिरफ्तार करने के संबंध में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती है। उसमें वर्णित आधारों का परिमाण ऐसा नहीं है कि वह लोक व्यवस्था को विक्षुब्ध करने की बाबत आशंका की कोटि में आता हो और न ही इस बारे में कोई साक्ष्य विद्यमान था कि निरुद्ध व्यक्ति के किसी आचरण के लिए लोक व्यवस्था संकटापन्त हो गई थी या उसके बारे में युक्तियुक्त आशंका थी। जैसा कि इस न्यायालय के विनिश्चयों में जोर दिया गया है, विधि और व्यवस्था के बीच तथा लोक व्यवस्था के बनाए रखे जाने के बारे में विद्यमान स्थिति के भेद को ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है। उक्त अधिनियम अपने आप में उसकी गम्भीरता के बारे में अभिनिश्चायक नहीं है। जहां तक उसकी गुणता का सम्बन्ध है, हो सकता है कि वह किसी अन्य गुणता से भिन्न न हो, किन्तु उसमें अंतर्निहित शक्ति अत्यन्त भिन्न हो सकती है। इसलिए यह प्रश्न कि क्या किसी व्यक्ति ने मात्र विधि और व्यवस्था संबंधी भंग कारित किया है, अथवा ऐसी रीति में कार्य किया है जिसके बारे में यह अधिसंभाव्य है कि उससे 'लोक व्यवस्था' संबंधी विक्षुब्धि होगी, समाज पर मात्र अधिनियम की व्याप्ति की कोटि का प्रश्न है। इस संबंध में **अरुण घोष** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[1] वाले मामले में पृष्ठ 290 पर किए गए संप्रेक्षणों के प्रति निर्देश करना समुचित होगा, जो कि इस प्रकार है —

> "अत: इससे यह अभिप्रेत है कि यह प्रश्न कि क्या किसी व्यक्ति ने केवल विधि और व्यवस्था को भंग किया है अथवा उसने किसी ऐसी रीति से कार्य किया है जिससे लोक व्यवस्था में विघ्न

[1] [1974] 3 उम० नि० प० 673=[1970] 3 एस० सी० आर० 288.

पड़ने की संभावना है, यह समाज पर ऐसे कार्य के परिणामस्वरूप पड़ने वाली मात्रा और उसके विस्तार का एक प्रश्न है। फ्रांसीसी ने विधि और व्यवस्था तथा लोक व्यवस्था के बीच अंतर किया है और लोक व्यवस्था को 'आर्डर पब्लीक' नाम दिया है। पश्चात्कथित पद के अर्थ को सामान्य विधि और व्यवस्था बनाए रखने से कहीं अधिक माना गया है। 1968 के रिट पिटीशन सं० 179 में न्यायाधिपति रामास्वामी ने ऐसे गम्भीर और गुरुतर प्रकार के लोक व्यवस्था के भंग, जो समुदाय पर प्रभाव डालते हैं या सम्पूर्ण हितबद्ध जनता को संकटापन्न करते हैं, और शांति के छोटे-मोटे प्रकार के भंग जो सम्पूर्ण जनता पर कोई प्रभाव नहीं डालते, के बीच विभाजन रेखा खींची है। उन्होंने लोक और प्राइवेट अपराधों के बीच सादृश्यता बताई है। यह सादृश्यता लाभप्रद है, किन्तु इसे अत्यधिक बढ़ाकर प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। व्यक्तियों या व्यष्टियों के प्रति किए गए अनेकानेक कार्य लोक व्यवस्था को भंग कर सकते हैं। डा० राम मनोहर लोहिया [1966] 1 एस० सी० आर० 709) वाले मामले में न्यायाधिपति सरकार और हिदायतुल्ला द्वारा उदाहरण दिए गए हैं। उनसे यह दर्शित होता है कि किस प्रकार से एक से ही कार्य भिन्न-भिन्न संदर्भों में एक ओर विधि और व्यवस्था पर और दूसरी ओर लोक व्यवस्था पर भिन्न-भिन्न रूप से प्रभाव डालते हैं। यह सदैव अपहानि की मात्रा का और समुदाय पर उसके प्रभाव का एक प्रश्न होता है। तब यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या इससे समुदाय के जीवन प्रवाह में कोई ऐसा विघ्न पड़ता है जो लोक व्यवस्था में विघ्न पड़ने की कोटि में आता है अथवा क्या वह किसी व्यक्ति मात्र पर प्रभाव डालता है जिससे समाज की प्रशांति विक्षुब्ध नहीं होती। इस प्रश्न को प्रत्येक मामले में तथ्यों के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए। कोई भी ऐसा सूत्र नहीं है जिसके द्वारा किसी एक मामले को किसी दूसरे मामले से सुभिन्न किया जा सके।"

16. इसलिए प्रत्येक मामले में यह आवश्यक है कि न तो आधारों के पर्याप्त होने और न ही उनके सही होने की जांच का अभिनिश्चय करने के लिए तथ्यों की जांच की जाए बल्कि आवश्यक यह है कि अभिकथित आधारों की प्रकृति की जांच की जाए और यह देखा जाए कि क्या ये तथ्य इस बात पर विचार करने के लिए कि क्या निरुद्ध व्यक्ति का निरोध लोक व्यवस्था को बनाये रखने के लिये आवश्यक है, सुसंगत है अथवा नहीं।

17. आधारों में अणित अभिकथनों की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए हमारी यह राय है कि ये ऐसी प्रकृति के नहीं हैं जिनके परिणामस्वरूप ऐसी आशंका उत्पन्न हो कि इससे समुदाय का सुचारु रहन-सहन आतंकित हो जाएगा। इसलिये अधिनियम की धारा 3(2) के उपबंधों के अधीन निरुद्ध व्यक्ति का निरोध न्यायोचित नहीं था।

18. इस आवेदनपत्र में असद्भाव संबंधी विभिन्न अभिकथन किए गए हैं, जैसा कि यह कि उत्तर प्रदेश के महाधिवक्ता के नातेदारों में से एक नातेदार इसमें अंतर्वलित था। यह अभिकथन किया गया है कि उत्तर प्रदेश का महाधिवक्ता एक स्थानीय निवासी का ससुर है जिसके साथ निरुद्ध व्यक्ति के कुटुम्ब का भू-सम्बन्धी विवाद विद्यमान था जिसके कारण निरुद्ध व्यक्ति तथा उसके भाई के जीवन को समाप्त करने के लिए महाधिवक्ता द्वारा अनेक प्रयत्न किए गए थे। जो दृष्टिकोण हमने अपनाया है, उसे देखते हुये हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम इन प्रश्नों पर विचार करें। यहां प्रक्रिया सम्बन्धी अनियमितताओं के बारे में कुछ निवेदन किये गये हैं। हालांकि व्यापक रूप से हमें कोई विशेष सार दिखाई नहीं देता, हमारे लिये यह भी आवश्यक नहीं है कि हम इन प्रश्नों की परीक्षा पर अत्यधिक विचार करें।

19. मामले के पूर्वोक्त दृष्टिकोण में, तारीख 29 फरवरी, 1984 वाला निरोध आदेश, जो कि पिटीशन का उपाबन्ध 1 है, एतद्द्वारा अभिखण्डित किया जाता है। निरुद्ध व्यक्ति को तुरन्त रिहा कर दिया जाना चाहिए।

पिटीशन मंजूर किया गया।

भू०

————

राधे श्याम और अन्य

बनाम

कल्याण मल

तथा

दुर्गाबाई

बनाम

कल्याण मल और अन्य

(10 अक्तूबर, 1984)

(न्यायाधिपति ए० वरदराजन और सब्यसाची मुखर्जी)

मध्य प्रदेश स्थान नियंत्रण अधिनियम, 1961 (1961 का 41)—धारा 12(1)(च) और (ज) तथा धारा 18—बेदखली—सद्भाविक आवश्यकता—कारबार चलाने की सद्भाविक आवश्यकता के लिए प्रश्नगत भवन का गिराया जाना और उसके स्थान पर नया भवन बनाया जाना — यह अभिवाक् कि भवन गिरा दिए जाने और नए भवन का निर्माण करने का कार्य सद्भाविक आवश्यकता को विफल कर देता है, इसलिए अस्वीकार्य है, क्योंकि यदि यह साबित कर दिया जाता है कि सद्भाविक आवश्यकता बेदखली का मुख्य आधार है, तो उससे धारा 18 के उपबन्ध, भवन के गिराने और उसके पुनर्निर्माण के अतिरिक्त आधार को लागू नहीं होंगे—अतः मकानमालिक इस बात के लिए बाध्य नहीं है कि वह बेदखल किए गए किराएदार को नये भवन में उतनी ही वास-सुविधा दे जितनी कि पुराने भवन में उसे प्राप्त थी।

प्रत्यर्थी-मकान-मालिक को वर्तमान भवन गिराने के और उसके स्थान पर नया भवन बना लेने के बाद सोने और चांदी के आभूषण का कारखाना स्थापित करने के प्रयोजन के लिए परिसर की सद्भाविक आवश्यकता थी। अतः उसने मध्य प्रदेश स्थान नियंत्रण अधिनियम, 1961 की धारा 12(1)(च) और (ज) के अधीन किराएदार की बेदखली के लिए वाद

फाइल किया। किराएदार उक्त परिसर में विभिन्न प्रकार के कारबार चला रहे थे। उनकी प्रतिरक्षा यह थी कि मकान-मालिक के पास आनुकल्पिक वास-सुविधा है, जिसमें वह अपना प्रस्थापित कारखाना लगा सकता है और उसकी आवश्यकता सद्भाविक नहीं है। निचले न्यायालयों ने यह निष्कर्ष निकाला कि वह आनुकल्पिक वास-सुविधा, जिसकी बाबत अपीलार्थियों ने यह अभिकथन किया है कि वह मकान-मालिक को उपलभ्य है, वस्तुतः फार्म स्थित ऐसा मकान है, जिसका उपयोग आवासीय प्रयोजन के लिए किया जाता है, अर्थात् मकान-मालिक के फार्म में रहने वाले सेवकों की वास-सुविधा के रूप में किया जाता है और वह नगर से लगभग तीन मील दूर तक निर्जन स्थान में कब्रिस्तान के पास स्थित है और यह कि वह ऐसा उपयुक्त स्थान नहीं है जहां कि जीवन और सम्पत्ति के लिए जोखिम उठाए बिना, सोने और चांदी के आभूषण का विनिर्माण करने का कारखाना चलाया जा सके। जहां तक कि सद्भाविक आवश्यकता के आधार का सम्बन्ध है, निचले न्यायालयों ने यह निष्कर्ष निकाला कि मकान-मालिक की आवश्यकता सद्भाविक है और उन्होंने यह आदेश दिया कि अपीलार्थियों को अधिनियम की धारा 12(1)(च) और (ज) के अधीन बेदखल कर दिया जाए। उसी आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपीलें फाइल की गयी हैं। अपीलें खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित—यद्यपि निचले न्यायालयों ने बेदखली का आदेश मध्य प्रदेश स्थान नियंत्रण अधिनियम, 1961 की धारा 12(1)(च) और (ज) के अधीन पारित किया है, तथापि बेदखली का आदेश अधिनियम की धारा 12(1)(च) पर वस्तुतः और सारतः आधारित है। इस तथ्य से कि धारा 12(1)(ज) का उल्लेख भी निचले न्यायालयों के आदेश में किया गया है, बेदखली का आदेश शुद्धतः उस धारा के अधीन वाला आदेश नहीं बन जाता, क्योंकि मकान-मालिक की आवश्यकता का मुख्य आधार सोने और चांदी के आभूषण के विनिर्माण के लिए अपना प्रस्थापित कारखाना अवस्थित करने के लिए सद्भाविक स्वीय आवश्यकता थी। यदि मकान-मालिक यह साबित कर देता है कि उसे अपने अधिभोग के लिए परिसर की सद्भाविक आवश्यकता है, तो वह इस तथ्य को विचार में लाए बिना कि क्या वह परिवर्तन किए बिना या आवश्यक परिवर्तन करने के बाद उस परिसर को अपने अधिभोग में लेगा, किराएदार से उसका कब्जा वापस लेने का हकदार है। (पैरा 3)

बेदखली का आदेश मुख्यतः मध्य प्रदेश स्थान नियंत्रण अधिनियम, 1961 की धारा 12(1)(च) पर आधारित है और यह कि मात्र इस तथ्य

से कि धारा 12(1) (ज) भी उसमें जोड़ दी गई है, बेदखली का आदेश अधिनियम की धारा 12(1)(ज) के अधीन वाला आदेश नहीं हो जाएगा और उस अधिनियम की धारा 18 लागू नहीं होगी। यह तथ्य कदाचित् इस स्थिति को उचित रूप से न समझने के कारण निचले न्यायालयों में पेश नहीं किया गया था। (पैरा 4)

अनुसरित निर्णय

पैरा

[1964] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1676:
रमणीलाल पी० मेहता बनाम **इन्द्रदमन अमृतलाल सेठ** 3

सिविल अपीली अधिकारिता : 1982 की सिविल अपील सं० 750-53 और 3357

1981 की विशेष अपील सं० 249, 251-253 में और 1982 की द्वितीय अपील सं० 311 में मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के क्रमशः तारीख 3 सितम्बर, 1981 और तारीख 25 अगस्त, 1982 वाले निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर की गई अपीलें।

अपीलार्थियों की ओर से (1982 की सिविल अपील सं० 750-53 में) — सर्व श्री ए० के० सेन, आर० पी० सिंह सुमन कपूर, डी० एल० मेहरा और आर० के० जैन।

अपीलार्थी की ओर से (1812 की सिविल अपील सं० 3357 में) — श्री पी० के० जैन।

प्रत्यर्थियों की ओर से — श्री यू० आर० ललित, श्रीमती सुनीता कृपलानी, सर्वश्री अशोक महाजन और एस० के० गम्भीर।

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति ए० वरदराजन ने दिया।

न्यायाधिपति वरदराजन—

आदेश

उन किरायेदारों ने ये अपीलें विशेष इजाजत लेकर की हैं, जिनकी बेदखली का आदेश निचले सभी न्यायालयों ने मध्य प्रदेश स्थान नियंत्रण

अधिनियम, 1961 की धारा 12(1) (च) और (ज) के अधीन इस आधार पर किया है कि प्रत्यर्थी-मकान-मालिक को वर्तमान भवन गिराने के और उसके स्थान पर नया भवन बना लेने के बाद सोने और चांदी के आभूषण का कारखाना स्थापित करने के प्रयोजन के लिए परिसर की सद्भाविक आवश्यकता है। किरायेदार उक्त परिसर में विभिन्न प्रकार के कारबार चला रहे थे। उनकी प्रतिरक्षा यह थी कि मकान-मालिक के पास आनुकल्पिक वास-सुविधा है, जिसमें वह अपना प्रस्थापित कारखाना लगा सकता है और उसकी आवश्यकता सद्भाविक नहीं है। निचले न्यायालयों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वह आनुकल्पिक वास-सुविधा जिसकी बाबत अपीलार्थियों ने यह अभिकथन किया है कि वह मकान-मालिक को उपलभ्य है, वस्तुतः फार्म स्थिति ऐसा मकान है, जिसका उपयोग आवासीय प्रयोजन के लिए किया जाता है, अर्थात् मकान-मालिक के फार्म में रहने वाले सेवकों की वास-सुविधा के रूप में किया जाता है और वह नगर से लगभग तीन मील दूर तथा निर्जन स्थान में कब्रिस्तान के पास स्थित है और यह कि वह ऐसा उपयुक्त स्थान नहीं है जहां कि जीवन और सम्पत्ति के लिये जोखिम उठाए बिना, सोने और चांदी के आभूषण का विनिर्माण करने का कारखाना चलाया जा सके। जहां तक कि सद्भाविक आवश्यकता के आधार का संबंध है, निचले न्यायालयों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मकान-मालिक की आवश्यकता सद्भाविक है और उन्होंने यह आदेश दिया है कि अपीलार्थियों को अधिनियम की धारा 12(1) (च) और (ज) के अधीन बेदखल कर दिया जाए।

2. अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल, श्री ए० के० सेन ने हमारे समक्ष यह दलील दी कि आनुकल्पिक वास-सुविधा उपलभ्य है और यह कि निचले न्यायालयों का यह निष्कर्ष स्वीकार करना संभव नहीं है कि वह उपयुक्त नहीं है। प्रथम अपील न्यायालय के, जिसने कि इस प्रश्न पर गहराई से विचार किया था, निर्णय को पढ़ने के बाद हम निचले न्यायालयों से इस सम्बन्ध में सहमत हैं कि ऐसी आनुकल्पिक वास-सुविधा, जिसकी बाबत यह अभिकथन किया गया है कि वह मकान-मालिक को उपलभ्य है, वस्तुतः फार्म स्थित ऐसा मकान है, जिसमें कि मकान-मालिक के फार्म में रहने वाले सेवकों को वास-सुविधा प्रदान की गई है और यह कि उस प्रयोजन के लिये वह उपयुक्त नहीं है, जिसके लिए मकान-मालिक को उस स्थान की आवश्यकता है।

3. श्री सेन ने यह दलील दी कि बेदखली का जो आदेश किया है, वह अधिनियम की धारा 12(1)(ज) के अधीन है और यह कि अधिनियम की धारा 18 लागू नहीं होती और मकान-मालिक के लिए यह बाध्यकारी है कि वह उस नये भवन में जोकि वह सन्निर्मित करे, किरायेदारों को समान सीमा तक वास-सुविधा की व्यवस्था करे। प्रथम अपील न्यायालय ने अपने निर्णय में यह मत व्यक्त किया है कि बेदखली का आदेश मकान-मालिक की सद्भाविक आवश्यकता के मुख्य आधार पर ही ईप्सित है। अत: प्रस्तुत मामले के तथ्यों को धारा 18 के लागू होने का कोई मामला नहीं बनता है। यद्यपि निचले न्यायालों ने बेदखली का आदेश धारा 12(1)(च) के अधीन पारित किया है, तथापि हमारी राय यह है कि बेदखली का आदेश अधिनियम की धारा 12(1)(च) पर वस्तुत: और सारत: ही आधारित है। इस तथ्य से कि धारा 12(1)(ज) का उल्लेख भी निचले न्यायालयों के आदेश में किया गया है, बेदखली का आदेश शुद्धत: उस धारा के अधीन वाला आदेश नहीं बन जाता, क्योंकि मकान-मालिक की आवश्यकता का मुख्य आधार सोने और चांदी के आभूषण के विनिर्माण के लिये अपना प्रस्थापित कारखाना अवस्थित करने के लिये सद्भाविक स्वीय आवश्यकता है। इन तथ्यों के आधार पर न्यूनाधिक रूप से मिलता-जुलता मामला इस न्यायालय के समक्ष **रमणीलाल पी० मेहता** बनाम **इन्द्रदमन अमृतलाल सेठ**[1] वाला मामला है, जो कि बाम्बे रेंट्स, होटल एंड लॉजिंग हाउस, रेट्स कंट्रोल ऐक्ट, 1947 (19475 का 71) के अधीन की गई कार्यवाहियों से उद्भूत हुआ था। उस मामले में उस अधिनियम की धारा 13(1)(छ) और 13(1) (जज) के अधीन बेदखली करने की ईप्सा की गई थी। उस अधिनियम की धारा 13(1)(छ) मध्य प्रदेश स्थान नियंत्रण अधिनियम की धारा 12(1)(च) की अनुरूप धारा है और उस अधिनियम की धारा 13(1)(जज), धारा 12(1)(छ) की अनुरूप धारा है, अर्थात् यह कि भवन की आवश्यकता या तो मरम्मत के लिए या परिवर्तन करने के लिये है। इस न्यायालय ने उस मामले में यह मत व्यक्त किया है कि यदि मकान-मालिक यह साबित कर देता है कि उसे अपने अधिभोग के लिए परिसर की सद्भाविक आवश्यकता है, तो वह इस तथ्य को विचार में लाए बिना कि क्या वह परिवर्तन किए बिना या आवश्यक परिवर्तन करने के बाद उस परिसर को अपने अधिभोग में लेगा, धारा 13(1) के उपखण्ड (छ) के उपबन्धों के अधीन किरायेदार से उसका कब्जा वापस लेने का हकदार है।

---

[1] ए० आई० आर 1964 एस सी 1676.

4. यद्यपि उस मामले के तथ्य कुछ भिन्न हैं, क्योंकि उस मामले में आवश्यकता, कुछ परिवर्तन करने के बाद, अधिभोग के लिये थी, जबकि प्रस्तुत मामले में आवश्यकता, भवन गिराने और पुन: सन्निर्माण करने के बाद मकान-मालिक का कारखाना लगाने के लिए है, तथापि उस विनिश्चय से जो सिद्धांत प्रतिपादित किया गया, वह इस मामले के तथ्यों को भी लागू होगा। हम प्रत्यर्थी-मकान-मालिक के विद्वान काउन्सेल श्री यू० आर० ललित से इस संबंध में सहमत हैं कि बेदखली का आदेश मुख्यत: अधिनियम की धारा 12(1)(च) पर आधारित है और मात्र इस तथ्य से कि धारा 12(ज) भी उसमें जोड़ दी गई है, बेदखली का आदेश अधिनियम की धारा 12(1)(ज) के अधीन वाला आदेश नहीं हो जाएगा और उस अधिनियम की धारा 18 लागू नहीं होगी। यह तथ्य कदाचित् इस स्थिति को उचित रूप से न समझने के कारण निचले न्यायालयों में पेश नहीं किया गया था। इन कारणों से अपीलें असफल होती हैं और खर्चे सहित खारिज की जाती हैं किंतु इस मामले की परिस्थितियों में खर्चे के सम्बन्ध में कोई भी आदेश नहीं किया जाता है।

अपीलें खारिज की गईं।

श्री/-